सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति

•

आद्याप्रसाद त्रिपाठी

शक १८८९
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

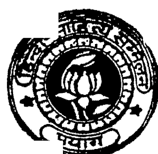
सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति

सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति

लेखक

आद्याप्रसाद त्रिपाठी

एम० ए०, साहित्यरत्न



शक १८८९

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव, प्रथम शासन निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सन् १९६७
प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ
मूल्य : [redacted]

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

तुलसीदास और सूरदास हिन्दी भाषा के लोक-प्रतिष्ठापक हैं। नके द्वारा हिन्दी की जो प्रतिष्ठा पूरे देश में हुई है उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। इनके साहित्य के प्रचार-प्रसार में एक बहुत बड़ा कारण यह भी रहा है कि उन्होंने लोक-जीवन की आत्मा को भलीभाँति देखा-परखा था और उसके विविध चित्रों से अपनी कविता को चमत्कृत किया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सूर साहित्य में लोक-संस्कृति' लोकजीवन की सूर-युग की आत्मा की खोजबीन है। विद्वान् लेखक ने सुबोध एवं विशिष्ट शैली में विषय का प्रतिपादन किया है। पूर्ण विश्वास है कि सूर-साहित्य के अध्येता इससे लाभ उठायेंगे।

—मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव

भूमिका

मैंने श्री आद्याप्रसाद त्रिपाठी की पुस्तक 'सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति' की पाण्डुलिपि पढ़ी है। यों तो साहित्य और साहित्यिक कृतियों पर लोक-जीवन का प्रभाव अनेकशः पड़ा करता है, परन्तु कुछ विशिष्ट कवि लोक-संस्कृति के उपादानों को बड़े विस्तृत रूप में लेकर अपनी काव्य-रचनाओं में प्रतिष्ठित करते हैं। सूरदास भी ऐसे ही एक विशिष्ट कवि हैं। अतएव उनके काव्य में निहित लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के तत्त्वों का अनुशीलन शोधार्थी का एक आवश्यक विषय है। श्री त्रिपाठी ने इसी विषय पर यह पुस्तक प्रस्तुत की है।

पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में संस्कृति और लोक-संस्कृति के स्वरूप, तत्त्व और उपकरणों का विवेचन किया गया है। विशेषकर ब्रज-प्रदेश की लोक-संस्कृति पर एक स्वतन्त्र अध्याय दिया गया है। पाँचवें अध्याय में ऐतिहासिक भूमिका पर सूरदास के समय के ब्रज-जीवन के विविध रूपों का अंकन किया गया है। हिन्दुओं के षोडश संस्कार, पर्वोत्सव, तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ, खान-पान, वेशभूषा, आमोद-प्रमोद आदि के विविध स्वरूपों का आकलन करने के साथ ब्रज-प्रदेश की तत्कालीन कलाओं, वाणिज्य-व्यवसायों, विज्ञान-संबंधी धारणाओं, लोक-विश्वासों और सामान्य रहन-सहन की नाना गतिविधियों और आदर्शों का सुन्दर निर्देश भी किया गया है। सूरदास के द्वारा उपस्थापित लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के इन पक्षों का परवर्ती काव्य पर भी विस्तृत प्रभाव पड़ा है, जिसका आकलन इस ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक साहित्य की समाज-शास्त्रीय भूमिका पर लिखी गई है और वह साहित्यिक अध्ययन की एक नई दिशा का संकेत करती है।

उपकुलपति
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

—नन्ददुलारे बाजपेयी

के व्यापक परिवेश में समग्र अष्टछाप काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसके कारण लोक-संस्कृति की पीठिका में सूर-साहित्य का अभीष्ट अध्ययन नहीं हो पाया है। श्री प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास परीख ने 'सूर-निर्णय' में इस पक्ष को एक-दो अध्यायों में छू दिया है, परन्तु जिज्ञासा की सम्यक् परितुष्टि उक्त ग्रन्थ से भी नहीं हो पाती है।

वास्तव में सूरदास जी लोक-संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं और उनके काव्य में लोक-संस्कृति के विविध तत्वों का प्रचुर भाषा में समावेश हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिये मैंने 'सूरसागर' (नागरी प्रचारिणी सभा), 'सूर-सारावली' (श्री प्रभुदयाल मीतल) तथा 'साहित्य लहरी' (श्री प्रभुदयाल मीतल) को आधार बनाया है। प्रबन्ध की पाद-टिप्पणियों में संकेतित पद-संख्यायें भी उक्त ग्रन्थों की ही हैं। सूरसागर के संपूर्ण पदों की संख्या ही दी गई है, स्कन्धों की नहीं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि विशेष कवि के रूप में सूरदास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ से अवश्य लाभ होगा और तभी मेरा परिश्रम भी सफल और सार्थक होगा। बस इतना ही।

—आद्याप्रसाद त्रिपाठी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय १
विषय प्रवेश
द्वितीय अध्याय २७
साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध
तृतीय अध्याय ५६
लोक-संस्कृति और शिष्ट-संस्कृति
चतुर्थ अध्याय ६७
ब्रज-संस्कृति में सामान्य भारतीय संस्कृति तथा अन्य प्रादेशिक विशेषताएँ
पंचम अध्याय ८४
सूरदास और उनका युग
षष्ठ अध्याय ११५
सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति के विविध रूप
सप्तम अध्याय २६६
साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का तत्कालीन और परवर्ती साहित्य पर प्रभाव
अष्टम अध्याय २९२
उपसंहार
परिशिष्ट (क) २९९
महाकवि सूरदास जी से सम्बन्धित ब्रज के कतिपय विशिष्ट स्थान
परिशिष्ट (ख) ३१३
ब्रज की परिचयात्मक टिप्पणी
परिशिष्ट (ग) ३१८
सहायक-ग्रन्थों की सूची



स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी-समीक्षा के सशक्त दिशानायक
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
की
पवित्र स्मृति में श्रद्धापूर्वक
समर्पित

—आद्याप्रसाद त्रिपाठी

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

'संस्कृति' एक परम सूक्ष्म तत्त्व है जो सरलता से पकड़ में नहीं आता। वह ब्रह्म की भांति अकथ्य है। जिस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप-विवेचन के लिए वेदों से लेकर अद्यावधि विचार होता रहा, परन्तु उसका एक स्पष्ट स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सका, उसी प्रकार जब से बौद्धिक विवेचन का क्रम चला है, 'संस्कृति' के सम्बन्ध में अनेक विद्वान् विचार करते आये हैं, जिसके फलस्वरूप उसकी अनेक परिभाषाएं प्रकाश में आई हैं, परन्तु उनमें भी पर्याप्त मत-वैभिन्य पाया जाता है। 'संस्कृति' और 'ब्रह्म' दोनों से मानव प्रेरणा पाता है, प्रकाश ग्रहण करता है, अनुशासित होता है और इन दोनों तत्त्वों को अपने जीवन-क्रम में उतारने के लिए सतत सचेष्ट रहता है, परन्तु वह स्पष्ट रूप में जानता नहीं कि 'संस्कृति' और 'ब्रह्म' क्या हैं। वास्तव में ये दोनों ही असंलक्ष्य लोक-कल्याणकारी तत्त्व हैं जो जीवन को विकास, उन्नति और समृद्धि प्रदान करने में सहायक हैं।

संस्कृति अन्तःसलिला की भाँति प्रत्येक राष्ट्र और जाति के जीवन में प्रवाहित रहती है। इसका मूल संबंध बुद्धि से होता है। जीवन-दर्शन का मुख्य आधार ही संस्कृति है। 'संस्कृति' समाज के विकास-क्रम का निर्देश करने वाली प्राकृतिक स्थिति है। मानव के ज्ञान और क्रिया-शक्ति में जैसे जैसे विकास होता है, वैसे वैसे संस्कृति का भी विकास होता है। 'संस्कृति' एक परम सूक्ष्म भावनात्मक तत्त्व है, जो हार्दिक प्रेरणा से गृहीत बाह्याचारों में अभिव्यक्त होता है। जीवन और संस्कृति एक दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। प्रत्येक मनुष्य का जीवन आचार-विचार, रीति-रिवाज, व्यवहार, धर्म, संस्कारादि से संयुक्त होता है। मानव-जीवन के प्रत्येक

क्षेत्र में इन्हीं जीवन-विधियों की समष्टि--संस्कृति--का अनुसरण लोक-कल्याण का विधायक है।

'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ संस्कृत की (डु) कृ (ञ्) धातु से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है।[1] कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द बनता है और इस आधार पर उसका अर्थ 'भूषणयुक्त सम्यक् कृति या चेष्टा होता है।[2] अंग्रेजी शब्द 'कलचर' और 'संस्कृति' सामान्यतया एकार्थबोधक शब्द माने जाते हैं और एक दूसरे के पर्याय के रूप में व्यवहृत होते हैं। 'कल्चर' शब्द 'कृष्टि' (एग्रीकल्चर) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'कृष्टि' का दूसरा नाम 'कृषि' ही है। कृषि-कर्म के द्वारा भूमि के दोषों का निवारण करके उसे उर्वर बनाने के अनेक प्रयत्न किए जाते हैं और इस प्रकार भूमि को साफ-सुथरी बनाकर उसमें बीज-वपन किया जाता है। सिंचन आदि कृषि सम्बन्धी समस्त आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श पाकर धरती 'शस्यश्यामला' की संज्ञा से विभूषित होती है। ठीक इसी प्रकार की विकासात्मक प्रक्रियाएँ मानव की मानस-भूमि में जीवन के संस्कारों के रूप में संपन्न होती हैं और इन संस्कारों से मानव-जीवन सतत विकासशील रहता है। फिर भी 'संस्कृति' शब्द के अर्थ में व्यापकता और विशुद्धि का भाव है। 'कल्चर' शब्द के लिए हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द की कल्पना भारतीय मस्तिष्क ने की है, परन्तु प्राचीन काल में 'कल्चर' का समानार्थी शब्द 'आचार-विचार' था, जो कालान्तर में 'संस्कृति' के अंगों में समाहित हो गया।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ (ज्ञान मंडल), काशी, पृ० ८०१

२. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन--डॉ० मायारानी टण्डन--पृष्ठ १

'संस्कृति' का स्वरूप

अंग्रेजी के 'कल्चर' और हिन्दी के 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा की गई है, परन्तु दोनों प्रकार की व्याख्याओं में पर्याप्त मात्रा में वैविध्य दिखाई पड़ता है। 'संस्कृति' की परिभाषा पर विचार करने से पूर्व अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द की कतिपय परिभाषाओं को देख लेना आवश्यक जान पड़ता है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'कल्चर' शब्द का उल्लेख भी नहीं हुआ है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'कल्चर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है :—

"The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined the intellectual side of civilization, the acquainting ourselves with the best. . ."

अर्थात् संक्षिप्ततः विचार, रुचि और आचार का शिक्षण तथा परिष्करण एवं विचार, रुचि तथा आचार के शिक्षित एवं परिष्कृत किये जाने की स्थिति ही 'कल्चर' (संस्कृति) है।

टेलर ने 'कल्चर' की व्याख्या इस रूप में की है—

Culture' is that complex whole which includes knowledge, belief, arts, morals, law, custom and other capabilities and habits acquired by man as a member of society."[1]

प्रो० मैकाइवर ने भी लगभग इसी प्रकार की व्याख्या की है—

"It is the expression of our nature in our modes of living, and of thinking in our everyday intercourse, in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment."[2]

---

१. सोशियोलाजी—जिन्सबर्ग—पृष्ठ ४४ पर उद्धृत

२. सोसाइटी, इट्स स्ट्रक्चर एण्ड चेंजेज—प्रो० मैकाइवर—पृष्ठ २२६

मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा की गई व्याख्या भी यहां पर उद्धृत करने योग्य है—

"Culture' is the study of the perfection, the disinterested search for sweetness and light."[१]

बेकर ने 'कल्चर' की निम्नलिखित व्याख्या की है—

"Culture' indeed, is just that patterning of the ways of life into what we call the customs of the country, the habits of a group, the ways of a people."[२]

बंगाली विद्वान् श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त 'कलचर' और 'कृष्टि' को एक ही अर्थ का मानते हैं। श्री दत्त की व्याख्या इस प्रकार है—

"Culture' or Kristhi is the outer exprsession of the inner genius of the people."[३]

प्रो० ए० के० चक्रवर्ती ने 'कल्चर' शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की है—

"Culture' of a people means the way of life of that people."[४]

हिन्दी शब्दकोशों के अनुसार 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा का है, जो सामान्यतः 'सम्यक् कृति' के अर्थ में व्यवहृत होता है, परन्तु आप्टे के संस्कृत शब्दकोश में 'संस्कृति' शब्द का उल्लेख नहीं है। उन्होंने 'संस्क्रिया' और 'संस्कार' शब्द को अपने शब्दकोश में स्थान दिया है और 'संस्कृ' धातु से इनकी उत्पत्ति मानते हुए उसके सजाना, संवारना, परिष्कृत करना,

---

१. सोशियोलाजी—जिन्सबर्ग—पृष्ठ ४४ पर उद्धृत
२. ह्यूमन कम्युनिटी—बेकर ब्राउनेल—पृष्ठ १२५
३. इण्डियन कल्चर—श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—पृष्ठ ४
४. एन्शिएण्ट इण्डियन कल्चर—प्रो० ए० के० चक्रवर्ती—पृष्ठ १०

सुनिश्चित करना आदि अर्थ दिए हैं।[1] डॉ० भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि 'संस्कृति' शब्द 'संस्कृत' भाषा का नहीं है। 'बृहद् हिन्दी कोश' में 'संस्कृति' शब्द के अर्थ--पूरा करना, शुद्धि, सुधार, परिष्कार, निर्माण, पवित्रीकरण, सजावट, निश्चय, उद्योग, आचरणगत परंपरा, सभ्यता,[2] दिए गए हैं। इसी प्रकार 'भाषा शब्दकोश' में 'संस्कृति' शब्द के अर्थ--शुद्धि, सफाई, सुधार, संस्कार, सजावट, सभ्यता, परिष्कार'[3] आदि दिए गए हैं।

'प्रामाणिक शब्दकोश' में दिए गए 'संस्कृति' शब्द के अर्थ--शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार; किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र की वे सब बातें जो उसके मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में विकास की सूचक होती हैं, (कल्चर)[4] --विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शब्दकोश के प्रथम चार अर्थ अन्य शब्दकोशों में भी उपलब्ध होते हैं और वे 'संस्कृति' के विभिन्न अंगों का संकेत मात्र देते हैं, परन्तु यहां हम 'संस्कृति' की एक संक्षिप्त, पर पूर्ण परिभाषा के निकट भी पहुंच जाते हैं, जिसका स्वरूप कुछ इस प्रकार का होगा--

"किसी व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र के मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में हुए बौद्धिक विकास के द्योतक तत्त्वों की समष्टि को ही 'संस्कृति' कहते हैं।"

'संस्कृति' शब्द अपने आप में जितना व्यापक है, उसकी उतनी ही व्याख्याएँ विद्वानों ने की हैं, जिनमें से कतिपय मुख्य-मुख्य व्याख्याएँ हम नीचे दे रहे हैं।

---

१. भारतीय संस्कृति--डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र--पृष्ठ ३ पर उद्धृत।

२. बृहद् हिन्दी कोश--पृष्ठ १३४४

३. भाषा शब्दकोश--'रसाल'--ज्ञानमंडल, काशी--पृष्ठ १७८२

४. प्रामाणिक शब्दकोश--रामचन्द्र वर्मा--पृष्ठ १२५९

श्री महादेव शास्त्री दिवेकर ने 'संस्कृति' की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"सम्यक् कृतियों और परंपरा से प्राप्त संस्कारों की समष्टि को 'संस्कृति' कहते हैं।"[१]

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति का विकास-वैदिक धारा' के अन्तर्गत संस्कृत का एक उद्धरण दिया है, जो 'संस्कृति' के स्वरूप की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है—

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसंबंधेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः।"[२]

उक्त उद्धरण के अनुसार किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन--व्यापारों अथवा सामाजिक संबंधों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन उन आदर्शों की समष्टि ही 'संस्कृति' है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'संस्कृति' की निम्नलिखित परिभाषा उसके व्यक्ति पक्ष और सामाजिक पक्ष की दृष्टि से दी है—

'संस्कृति' शब्द किसी व्यक्ति के पक्ष में बहुधा उसकी शिष्टता, सौजन्य अथवा मानवता का बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृत्ति वा ऐसे शील का पता चलता है, जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्च कोटि का गिना जाता है। इसी प्रकार यही शब्द किसी समाज विशेष के पक्ष में, उसके उन विशिष्ट गुणों का भी द्योतक माना जाता है, जो न केवल उसके उदात्त उद्देश्य, उसकी ज्ञान-गरिमा, उसके कलाचातुर्य, उसकी भाव-प्रवणता तथा उसके विचार-स्वातन्त्र्य को प्रकट करते हैं

---

१. आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष—श्री महादेव शास्त्री दिवेकर—पृष्ठ ५

२. भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—पृष्ठ ३

प्रत्युत जिनके आधार पर उसके सदस्यों में भ्रातृ-भाव, सहानुभूति एवं सहयोगिता की जैसी हार्दिक वृत्तियां भी लक्षित हुआ करती हैं।"[१]

आचार्य चतुर्वेदी की उक्त व्याख्या संस्कृति की व्यापकता व्यंजित करती है और वह पर्याप्त पूर्ण मानी जा सकती है। बौद्धिक विकास की उपलब्धियों की ओर इस परिभाषा में संकेत किया गया है।

डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार—

'संस्कृति' मानव-जीवन की वह क्रिया तथा वह स्थिति है, जिससे समूचा जीवन सज उठता है।"[२] और "मांजी संवारी जीवन-वृत्ति तथा जीवन-चर्या का ही नाम 'संस्कृति' है।"[३]

डॉ० मिश्र की उक्त दोनों परिभाषाओं से हमें ज्ञात होता है कि मानव-जीवन को उच्चता की ओर ले जाने वाले तत्त्व ही 'संस्कृति' के तत्त्व हैं। जीवन को उच्चस्तरीय बनाने वाले तत्त्वों की समष्टि ही संस्कृति है।

डा० गुलाबराय के अनुसार—"जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है।"[४]

मनुष्य के ऊपर संस्कारों का प्रभाव जन्म-काल से ही पड़ने लगता है। वह माता-पिता तथा समाज के संस्कारों से प्रभावित होता है। जीवन को परिष्कृत करने वाले संस्कारों से उसके शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं भावनात्मक विकास पर पूरा प्रभाव पड़ता है।

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने 'संस्कृति' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"जब हम किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करते हैं, तब हमारा उद्देश्य उस प्रदेश के विकसित आचार-व्यवहार, रीति-

---

१. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ २

२. भारतीय संस्कृति—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—पृष्ठ ३-४

३. वही पृष्ठ ५

४. मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ—पृष्ठ २८५

रिवाज, पर्व-उत्सव, संस्कार, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, पूजा आदि के विधि-विधान एवं अनुक्रम का ही उल्लेख करना होता है। एक व्यक्ति और समग्र समाज का भी विकसित एवं संस्कृत जीवन इन्हीं रूपों में प्रकट होता है।"[१]

इस प्रकार आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, संस्कार, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, पूजा आदि के विधि-विधान एवं अनुष्ठान ही संस्कृति के प्रकाश्य रूप हैं। संस्कृति का निर्माण शनैः शनैः होता है। आरम्भ में शिक्षण, संस्कार और अभ्यास के जो बीज मानव-जीवन में डाले जाते हैं, वही संस्कृति की आरंभिक अवस्था है और उन बीजों के प्रतिफलित होने पर मानव-जीवन में जो विकास और परिमार्जन का स्वरूप प्रकट होता है, वही उसकी अन्तिम स्थिति है।

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार—"मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को संस्कृति कहते हैं। . . .चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।"[२]

इस व्याख्या से विदित होता है कि मानव-जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के उद्देश्य से बुद्धि के प्रयोग द्वारा विचार और कर्म के क्षेत्र में किया गया सृजन ही संस्कृति है।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा की परिभाषा भी यहां उल्लेखनीय है—

"किसी विशिष्ट समाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवों के आधार पर साधु-आचरण के जो मापदण्ड स्थिर कर दिए जाते हैं, वे जब सूक्ष्म भावना-

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ ३६९

२. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—पृष्ठ १९

त्मक रूप में परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन में अनायास ही व्यवहृत होने लगते हैं तो 'संस्कृति' का नाम पाते हैं।"[1]

इस परिभाषा में 'संस्कृति' के प्रायः सभी मूलभूत तत्त्वों का समावेश करने का प्रयास किया गया है। साधु-आचरणों का स्थिरीकरण और समाज में उनके व्यवहार की प्रक्रिया ही संस्कृति है, यह मान्यता 'संस्कृति' के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण हमारे सामने रखती है।

डॉ० देवराज ने 'हिन्दी साहित्य' कोश में 'संस्कृति' की दो व्याख्याएँ—नर-विज्ञान के अर्थ में और संकीर्ण अर्थ में—दी हैं। नर-विज्ञान के अनुसार—

'संस्कृति' समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहार का नाम है, जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है।"[2]

संकीर्ण अर्थ में—

"संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है, जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं।"[3]

सभ्यता के गुणों का समावेश करते हुए 'संस्कृति' की यह व्याख्या नृतत्त्व-विज्ञान के अनुसार की गई है। संकीर्ण अर्थ वाली परिभाषा के अनुसार व्यक्तित्व को परिष्कृत और समृद्ध बनाने की क्षमता रखने वाले गुणों का समुच्चय ही 'संस्कृति' है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार—

"मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही 'संस्कृति' हैं।"[4] इस व्याख्या के अनुसार मानव के द्वारा जीवन को विकासोन्मुखी बनाने के लिए की गई श्रेष्ठ

---

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा—परिशिष्ट २—पृष्ठ १३

२. हिन्दी साहित्य कोश (ज्ञान मण्डल, काशी)—पृष्ठ ८०१

३. — वही—पृष्ठ ८०१

४. अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७५

साधनाओं की समष्टि ही 'संस्कृति' है। डाँ० द्विवेदी ने संस्कृति को अननुभूत माना है। वे कहते हैं कि "नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुजर कर और भौगोलिक परिस्थितियों में रह कर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है।"[१]

इन समस्त व्याख्याओं के आलोक में हमें 'संस्कृति' के स्वरूप की झाँकी देखने को मिल जाती है, परन्तु 'संस्कृति' की कोई सर्वसम्मत परिभाषा हो सकती है, ऐसा आग्रह किसी भी विद्वान् का नहीं है। वास्तव में 'संस्कृति' की ऐसी कोई सर्वसम्मत, सर्वजनग्राह्य और सहज बोधगम्य परिभाषा अभी नहीं बन पाई है, जिसमें उसके समस्त अंगों का समाहार हुआ हो, तथापि संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों तथा उसकी व्यापकता का ज्ञान तो उपर्युक्त परिभाषाओं से हो ही जाता है। वास्तव में 'संस्कृति' को हमने अपने जीवन में उतार लिया है, वह हमारी आत्मा में घुल-मिल गई है। हम उसे निरन्तर बरतते हैं, व्यवहार में लाते हैं, परन्तु स्पष्ट रूप में उसकी छवि को प्रकट नहीं कर सकते। फिर भी परिभाषाओं की इन वैविध्यपूर्ण लड़ियों में हम भी एक लड़ी जोड़ना चाहेंगे। हमारी दृष्टि में 'संस्कृति' की व्याख्या कुछ इस प्रकार की हो सकती है—

संस्कृति किसी जाति, समाज अथवा देश के मानव-समुदाय में प्राणतत्त्व की भांति परिव्याप्त मानवतावादी उच्चादर्शों की वह भूमिका है, जो उस समुदाय द्वारा परम्परागत रूप से काव्य, कला, संगीत, धर्म, दर्शन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, जन्म से मृत्यु-पर्यन्त के संस्कार, खान-पान, वेश-भूषा, पूजा, पर्वोत्सव, लोकगीत, आमोद-प्रमोद आदि अनेक भावनात्मक गुणों के माध्यम से निरन्तर अभिनीत होती रहती है।

इस व्याख्या में 'संस्कृति' के प्रायः सभी तत्त्वों को समाविष्ट करने का विनम्र प्रयास किया गया है, परन्तु यही 'संस्कृति' की एकमात्र परिभाषा है,

---

१. — वही—पृष्ठ ७५

ऐसा कहना तो दुराग्रह मात्र होगा। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "अब भी मनुष्य इसके संपूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है। संसार के सभी महान् तत्त्व इसी प्रकार मानव-चित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताएँ केवल अनुभूत हो कर ही अपनी महिमा सूचित करती हैं। उनको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा में बांधना सब समय संभव नहीं होता। केवल नेति-नेति कह कर ही मनुष्य ने उस अनुभूति को प्रकाशित किया है[1]।"

जब तब 'संस्कृति' और 'सभ्यता' को पर्यायवाची शब्द मान लिया जाता है, परन्तु वास्तव में इन दोनों में एक स्पष्ट तात्त्विक अन्तर है, जिस पर हम अगले पृष्ठों में यथास्थान विचार करेंगे।

संस्कृति के संघटक तत्त्व

प्रकृति ने जिन मानवोपयोगी साधनों को अपने अन्दर पुंजीभूत किया था, उन्हें मानव ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का उपकरण बनाया और अपने बल एवं बुद्धि से उन सारे प्राकृतिक उपादानों का विकास किया। बुद्धि और सौन्दर्य के प्रति मानव में दिखाई पड़ने वाली अभिरुचि में ही मानव-प्रगति की अभिव्यक्ति मिलती है। प्रकृति मानव-जीवन के विकास-क्रम में सहचरी का दायित्व पूर्ण करती है। प्रकृति मानवीय आवश्यकताओं के पूरक तत्त्वों का संचयन करके उन्हें उन्मुक्त होकर मानव को लुटाती है। मनुष्य प्रकृति प्रदत्त उपहारों में उपयोगिता का आकलन करके अपनी बुद्धि और विवेक के संयोग से उसे उपादेय बना देता है। प्रकृति मानव के अध्ययन तथा कार्य का क्षेत्र बनकर उसमें अध्यवसाय की प्रवृत्ति जागृत करती है। मानव-मस्तिष्क जब प्रकृति के व्यापक अध्ययन की ओर उन्मुख होता है तो दर्शन, धर्म और विज्ञान के प्रवेश-द्वार स्वतः उन्मुक्त हो जाते हैं। मानव-प्रवृत्ति क्षेत्र-विस्तार

---

१. अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७५-७६

पाकर बहुमुखी हो जाती है और तब प्राकृतिक उपकरण, दर्शन, धर्म और विज्ञान के अनुसार ही संस्कृति प्रवहमान हो उठती है। संस्कृति की यह धारा वेदों से भी प्राचीन है क्योंकि वेदों में जन-जीवन को सुसंगठित तथा समाज-सापेक्ष्य बनाने की भावना की आधारभूमि उनकी रचना के पूर्व की ही संस्कृति है।

मनुष्य की प्रकृति सर्वत्र एक सी है, किन्तु उसकी संस्कृति के स्तर भिन्न हैं। आचार-विचार के उसके मानदण्ड भी भिन्न हैं। ये भिन्न मानदण्ड शताब्दियों की समान अनुभूतियों, जीवन की ओर देखने के परंपरागत दृष्टि-कोणों से निर्धारित होते हैं। एक ही देश में, एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के वृक्ष, पक्षी, पर्वत, नदी तथा समुद्र का दर्शन करने वाले और एक ही प्रकार के संघर्षों में जय-पराजय की समान अनुभूतियाँ तथा स्मृतियाँ रखने वाले मनुष्य-समाज की चित्तवृत्तियां, आशाएं, आकांक्षाएं एक-सी होती हैं। कालान्तर में इन समान मनोभावों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक सभी प्रकार के क्रियाकलापों पर छाप पड़ती जाती है और आचार-व्यवहार तथा विचारों की एक विशिष्ट पद्धति का विकास होता है, जो सामूहिक जीवन-धारा की अजस्रता ग्रहण कर लेती है और उसी को 'संस्कृति' की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में संस्कृति हमारे पूर्वजों की धाय है। उसको हम जानते ही नहीं, उससे हम जीते भी हैं। संस्कृति से हम परंपरागत रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और साहित्य तथा जीवन के अनेक क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उस ज्ञान से हम अपने अन्दर आध्यात्मिकतापूर्ण सौख्य, सौन्दर्य और शुचिता की अवतारणा करते हैं तथा अपने अतीत का परिज्ञान प्राप्त कर वर्तमान का सुरुचिपूर्ण निर्माण करते हैं और भावी विकास-क्रम को दिशा भी प्रदान करते हैं।

संस्कृति के संघटक तत्त्वों के सम्बन्ध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का अभिमत विशेष महत्त्वपूर्ण है—

"जब हम किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करते हैं तो हमारा उद्देश्य उस प्रदेश के विकसित आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, संस्कार, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, पूजा आदि के विधि-विधान

एवं अनुक्रम का ही उल्लेख करना होता है। एक व्यक्ति और समग्र समाज का भी विकसित एवं संस्कृत जीवन इन्हीं रूपों में प्रकट होता है।"[1]

इससे स्पष्ट हुआ कि किसी देश की संस्कृति का संघटन उसके धर्म, दार्शनिक विचारधारा, साहित्य, संगीत, कला, शासन, पर्व, उत्सव, रीति-रिवाज आदि तत्त्वों द्वारा होता है। धर्म विशेष को विकसित करने का ढंग मनुष्य का अपना होता है, उसका दार्शनिक चिन्तन भी अपना होता है, साहित्य, संगीत और कलाओं के सृजन का ढंग भी उसका अपना होता है। समुदाय के हित-संपादन और सुख-समृद्धि के लिए राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं और प्रथाओं के विकास का ढंग भी उसका अपना होता है और यही समस्त तत्व संस्कृति के संघटक तत्वों के अन्तर्गत आते हैं। 'संस्कृति एक व्यक्ति के शिक्षा, संस्कार और अभ्यास से प्रारम्भ होती है और उसका अन्त मनुष्य के विकसित व्यक्तित्व में प्रकाश तथा परिमार्जित अवस्था के रूप में दिखलाई देता है।[2]

मानव-जीवन स्वयं में एक महान् तत्त्व हैं और विश्व के अन्य समस्त क्रियाकलाप इसी मानव-जीवन के पूरक तत्त्वों का दायित्व निभाते हैं। संस्कृति का सम्बन्ध मानव-जीवन से ही है, पाशव-जीवन से नहीं। पशुओं की कोई संस्कृति नहीं होती, परंतु मानव सर्वत्र इस संस्कृति से पोषण एवं विकास प्राप्त करता है। अनन्त प्रसार लिए हुए प्रकृति मानव को दुलराती है, वेद उसको शिक्षा देते हैं, उसमें आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है और तब वह विभिन्न शास्त्रों, काव्य (साहित्य), धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि का सृजन करता है, जिसमें लोकमानस की प्रतिष्ठा होती है। विश्व में जहाँ भी मानव की दृष्टि जाती है, उसे एक निखिल सौन्दर्य एवं माधुर्य की अनुभूति हो उठती है और वह वेदानुकूल सृजन-कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। कर्मों के द्वारा ही वह

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ ३६९

२. वही—पृष्ठ ३६९

विश्व की उपलब्धियों का उपभोग भी करता है। ज्ञान, कर्म और अनुभूति के माध्यम से मानव के समस्त क्रियाकलापों को अभिव्यक्ति मिलती है और इन्हीं के द्वारा मानव-जीवन का विकास एवं परिष्कार होता है। अतः जिन साधनों द्वारा मानव-जीवन का विकास हुआ है, जिन अनेक कलाओं ने मानव की भावनाओं का परिष्करण करके उसे सौन्दर्यबोध की दिशा में अग्रसर किया है, लोकजीवन के वे सारे तत्त्व, जो जाति-विशेष के जीवन का एक विशिष्ट रूप हमारे सामने रखते हैं तथा वे सारी आध्यात्मिक भावनाएं, जो मानव को पूर्णत्व और मोक्ष की ओर ले जाती हैं, आदि सभी बातों का सम्बन्ध संस्कृति से होता है। इस प्रकार जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, धर्म, कलाएँ, लोकगीत, पर्वोत्सव, रीति-रिवाज, संस्कार, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, मनोरंजन के साधन आदि संस्कृति के संघटक तत्त्व हैं, जो मानव को परिष्कृत और संस्कृत बनाने में योग देते हैं।

संस्कृति मूलतः मानव की आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति के समन्वित विकास में संलग्न विशिष्ट क्रियाओं का नाम है और किसी देश के निवासियों की संस्कृति का अर्थ उनकी आत्मिक क्रियाओं की तीव्रता और विस्तार से हैं। यदि हममें आज वैसी आत्मिक क्रियाशीलता नहीं है, यदि हममें पर्याप्त विचार-शक्ति तथा सक्रिय जिज्ञासा तथा सत्य, शिव और सौन्दर्य की उपलब्धि का भाव नहीं है तो हम अपनी समस्त परंपरागत थातियों के होते हुए भी सुसंस्कृत कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते।

मानव-संस्कृति का विश्व-व्यापी स्वरूप

किसी विशिष्ट मानव-समाज, प्रदेश अथवा देश के विविध जीवन-व्यापारों का पुंजीभूत स्वरूप ही संस्कृति है। संस्कृति विश्व-मानव को एक सूत्र में पिरोकर संगठित करती है। संस्कृति वह आधारशिला है, जिस पर मानव-जीवन में व्याप्त विभिन्न धर्म, संप्रदाय एवं आचार-व्यवहारों को अधिष्ठित किया जाता है। वह जीवन-यापन की एक विशिष्ट विधि है,

जो अनेक शताब्दियों से परंपरागत रूप से समग्र मानव-समाज में अपना रूप संवारती आई है। यह संस्कृति सारे संसार में व्याप्त है। अनेक देशों की संस्कृतियों के अनेक तत्वों में प्रायः साम्य भी दिखाई पड़ता है और असाम्य भी। इस प्रकार साम्यासाम्ययुक्त विभिन्नरूपा संस्कृतियाँ पारस्परिक संपर्क का अवसर उपस्थित होने पर एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं, उनका आदान-प्रदान भी होता है और परिणामतः संस्कृति के मूल रूपों में परिवर्तन और विकास होता रहता है।

संस्कृति कोई बाह्य वस्तु नहीं है। वह मनुष्य के अन्तर में निवास करती है। अतएव मानव के सामूहिक अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति संस्कृति के रूप में होती है। मनुष्य की प्रकृति सर्वत्र एक-सी ही होती है और उसकी अन्तरानुभूतियों में भी प्रायः एकता की प्रवृत्ति प्रधान होती है। इसलिए संपर्क के परिणामस्वरूप मानव के साथ-साथ संस्कृतियाँ भी एकता की ओर झुकने लगती हैं। यही कारण है कि समय समय पर भारत में आने वाली विभिन्न विदेशी जातियों की संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में घुल-मिल गईं, उन्होंने भारतीय संस्कृति को प्रभावित भी किया, उनके कुछ सांस्कृतिक तत्त्व भारतीय संस्कृति में मिले भी और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के अनेक गुण उन विदेशी संस्कृतियों ने ग्रहण किये। हमारे देश के प्रतापी नरेशों ने विदेशों में जाकर अपना राज्य स्थापित किया, दूसरे देश की जातियों ने समय-समय पर हमारे देश में आकर राज्य किया तथा हमारे देश के मनीषियों ने भारतीय संस्कृति का संदेश विश्व के कोने-कोने में प्रचारित -प्रसारित किया। हमारे देश के व्यापारियों ने दूर-दूर के देशों में जाकर व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना की तथा सुदूर देशों के लोग व्यापार करने की भावना से भारत में आए और यहां के बड़े-बड़े नगरों में अपनी व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित करके प्रचुर धनराशि अर्जित की और इस प्रकार अपनी तथा अपने देश की आर्थिक समृद्धि की।

भारतीय संस्कृति में सदा से मानव-मात्र को अपनाने और पचाने की अद्भुत क्षमता रही है। इसी कारण व्यापारी बनकर आने वाले अंग्रेज भारत

के कोने-कोने में जैसे-जैसे फैलते गए, हम अपनी उदार मानवतावादी सांस्कृतिक भावना के कारण संकुचित होते गए। परिणामतः हमारी संस्कृति के अनेक गुणों को अंग्रेजों ने लिया और उनकी संस्कृति के अनेक तत्त्व हमारी संस्कृति में भी प्रविष्ट हो गए। आज की भारतीय वेश-भूषा, खानपान, रहन-सहन एवं उद्योगों में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ही बैठी दिखाई देती है। नवीन औद्योगिक विकासों में प्रतिफलित होने वाला हमारा मानसिक आन्दोलन इसी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का ज्वलन्त परिणाम है।

हिन्दू-धर्म प्राचीन काल से ही उदार एवं सहिष्णु भावना वाला रहा है और इसी गुण के कारण वह हिन्दू संस्कृति को युगों से अपने कन्धों पर संभाले हुए हैं। संकीर्ण भावना का पोषण उसने कभी नहीं किया और जिस भी बाह्य धर्म, संस्कृति अथवा सभ्यता में जो भी वस्तु उसे ग्राह्य प्रतीत हुई, उसे उसने अपना लिया। परिणामतः हिन्दू-संस्कृति विश्व के अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का निचोड़ बन गई है और इसीलिये उसे 'सामासिक संस्कृति' की संज्ञा दी जाती है। "सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशालिनी समझी जानी चाहिये, जिसने विश्व के अधिक से-अधिक देशों, अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्ब करके, उन्हें पचा करके, बड़े-से-बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान् है क्योंकि यहां की सामासिक संस्कृति में अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियाँ पची हुई हैं।"[1]

मानव-संस्कृति विश्व-व्यापी है। विश्व में एक भी ऐसा देश न होगा, जिसकी अपनी संस्कृति न हो और कोई भी ऐसी जाति न होगी जो सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित न हो। मानव को लेकर ही विश्व की सत्ता है। विश्व के प्रत्येक अंचल में मानव बसा हुआ है। अतः संस्कृति भी मानव के साथ ही

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'—पृष्ठ ६५४

विश्व के प्रत्येक छोर को छू आई है। परन्तु सभी संस्कृतियों में कहीं न कहीं मिश्रण अवश्य है। संस्कृति का मूल तत्त्व एकता की भावना है, जो हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, पारसी अथवा क्रिश्चियन संस्कृति सभी में विद्य-मान है और संस्कृति की यही भावना विश्व-मानव को एकता के सूत्र में पिरो सकने में समर्थ है। इसी सांस्कृतिक चेतना की पीठिका पर विश्व-शान्ति और पंचशील के हमारे स्वप्नों का साकार होना निर्भर है। इतना होते हुए भी प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषताएँ भी होती हैं। यह निजी सांस्कृतिक विशेषता उस देश की जनता की वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन, बोलचाल आदि अनेक माध्यमों से प्रकट हो जाती है। आचार-विचार एवं व्यवहारों में वैभिन्य तो प्रायः सभी संस्कृतियों में है।

संस्कृति एक सामाजिक विशेषता से संपन्न वस्तु है और समाज को लेकर ही उसकी सार्थकता है। वह न केवल एक व्यक्ति के जीवन को पुष्ट, संस्कृत और अनुप्राणित करती है, अपितु समग्र मानव-समाज उसके द्वारा पुष्ट, संस्कृत और अनुप्राणित होता है। सर्वश्रेष्ठ संस्कृति समग्र विश्व में प्रसरणशील है। वह किसी देश, प्रदेश, जाति या काल विशेष की परिधि में बंधने को बाध्य नहीं है। उसके आलोक-प्रसार का क्षेत्र सारा संसार हो सकता है और जो संस्कृति इस प्रकार की विश्वजनीनता प्राप्त कर लेती है, वही विश्व-संस्कृति बनने की क्षमता भी प्राप्त कर लेती है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तो समग्र विश्व के लिए एक ही मानव-संस्कृति का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि—"मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुजर कर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है।"[1]

---

१. अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७५

डॉ० द्विवेदी के उपर्युक्त अभिमत में पर्याप्त सार्थकता है। विश्वमैत्री, वसुधैव कुटुम्बकम्, विश्व-शान्ति और विश्व-शासन की कल्पना की साकारता उपर्युक्त आकांक्षा में ही निहित है। ससीम से असीम की ओर उन्मुख संस्कृति ही सर्वोच्च भावों एवं विचारों की वाहिक है। यही सर्वोच्च भाव एवं विचार विश्व-मानव के धर्म हैं और विश्व-संस्कृति के नियामक भी। संकीर्णता में इनकी गति नहीं, व्यापकता में इनका प्रवाह है। हमारी प्राचीन आर्य-संस्कृति की व्यापक मानवीय भावनाओं एवं विचारों ने विदेशी संस्कृतियों को इस तरह आत्मसात् करके पचा लिया कि आज उनका पृथक् अस्तित्व देखने में नहीं आता, हमारी संस्कृति में उनका अन्तर्भाव हो गया है क्योंकि हमारी भारतीय संस्कृति विश्व-मानवता के लक्ष्य में अपना गन्तव्य खोजती रही है। जिन भावों एवं विचारों में यह विश्व-मानवता का तत्त्व प्रधान होगा, वही श्रेष्ठतम संस्कृति के सूचक होंगे, उन्हीं में विश्व-संस्कृति का गौरव पाने की सामर्थ्य होगी और वे ही विश्वजनीन भी होंगे। सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता एवं सर्वजातीयता विश्व-संस्कृति की अनिवार्य शर्त्त है जो विश्व-मानव-ग्राह्यता के गुण से युक्त भी है। भारतीय संस्कृति इन तत्त्वों से संपन्न है और इसी संपन्नता के कारण उसकी सांस्कृतिक धाराएँ विश्व के कोने-कोने में प्रवहमान हैं। पाश्चात्त्य जगत् भारतीय संस्कृति की महद्भावनाओं से आलोकित हुआ है। भारतवासियों ने यहाँ की संस्कृति को समस्त मानव-जाति के कल्याण-संपादन के लिए विश्वव्यापी स्वरूप प्रदान किया है। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में 'विश्व की उन्नत संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग इस भारत में पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। उनके प्रयत्नों से अब भी हिन्दू संस्कृति, इस्लामी संस्कृति, ईसाई संस्कृति और कम्युनिस्ट संस्कृति के स्वस्थ तत्त्वों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया जा सकता है जिसे पाकर भारतीय संस्कृति और भी उदार तथा और भी अधिक उपयोगी हो सकती है। हिन्दू-संस्कृति की आध्यात्मिकता, यूरोपीय संस्कृति की भौतिकता, मुस्लिम संस्कृति की संगठन-प्रवणता और कम्युनिस्ट संस्कृति की साम्य-प्रवणता

को मिलाकर भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति की उत्तम पथ-प्रदर्शिका हो सकती है।[1]"

सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता और संस्कृति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह घनिष्ठता इस सीमा तक पहुंच गई है कि कभी कभी दोनों को एक ही अर्थ का द्योतक मान लिया जाता है और वे एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। हिंदी के शब्द-कोषों में 'संस्कृति' शब्द के जितने अर्थ मिलते हैं, उनमें 'सभ्यता' भी एक है। परन्तु वास्तव में ये दोनों दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं और दोनों में आत्मा और शरीर का-सा सम्बन्ध है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है और आविष्कार सभ्यता के सर्जक। अतः मानव-जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा किए गए सृजन ही सभ्यता के विकास के सोपान हैं।

सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। प्रो० मैकाइवर का कहना है कि—

> "Our culture is what we are, our civilization is what we use."[2]

Will Durant का मत है:—

> "Culture suggests agriculture, but the civilization suggests the cities."[3]

डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य ने सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में निम्न-लिखित अभिमत प्रकट किया है :—

"संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास

---

१. भारतीय संस्कृति—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—पृष्ठ १८६

२. The Modern State—Prof. MacIver—Page 325.

३. The Story of Civilization—Will Durant–Page 1

का समानार्थक। सभ्यता बाह्य क्रियात्मक रूप है और संस्कृति विचारधारा का परिणाम है।"[१]

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार का मत है कि—

"अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस ढंग से प्रयोग करता है, उससे सभ्यता का निर्माण होता है।"[२]

डॉ० देवराज ने सभ्यता और संस्कृति का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

"सभ्यता और संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान् होती है, तब सभ्यता का जन्म होता है और जब वह मूल्य-चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है तो संस्कृति का उदय होता है।"[३]

सभ्यता और संस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। संस्कृति द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक आचरणों का संस्कार होता है। इस संस्कार की प्रक्रिया का निष्पादन व्यक्ति को संस्कृत बनाने में होता है। जो व्यक्ति संस्कृत है, वही सभ्य है और जो असंस्कृत है, जिसके जीवन के व्यक्तिगत एवं सामाजिक पक्षों का सम्यक् संस्कार नहीं हो पाया है, वही असभ्य कहलाता है।

'सभ्य' शब्द का सीधा सम्बन्ध 'सभा' से है, जिसमें सामाजिकता का भाव भी निहित है। सभा में उठने-बैठने एवं उसमें समादर प्राप्त करने के लिए सभ्य होना आवश्यक है। 'सभ्यता' शब्द 'सभाक्' से बना है जो व्यक्ति की सभा में बैठने की योग्यता का अभिव्यंजक है। सभ्य व्यक्ति वह होता है

---

१. लोक संस्कृति विशेषांक—सम्मेलन पत्रिका (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)—पृष्ठ २८

२. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—पृष्ठ १९

३. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—डॉ० देवराज—पृष्ठ १७७

जिसका व्यवहार सज्जनों और शिष्टों का सा हो। सभ्य होने लिए व्यक्ति के सामाजिक तथा व्यक्तिगत व्यवहारों में संतुलन अपेक्षित है। सभ्य व्यक्ति का व्यवहार समाज-सापेक्ष होता है। 'सभ्यता' का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य पक्ष से अधिक है। अतः किसी मनुष्य के क्रिया-व्यापार- क्षेत्र में जितना ही विस्तार और जितनी ही व्यापकता होगी, उसमें उतनी ही पारस्परिकता की योग्यता, शिष्टता का भाव, सज्जनता का गुण एवं सामाजिकता की प्रवृत्ति होगी। घर के बाहर हम जिन लोगों के संपर्क में आते हैं, उनके साथ हमारा व्यवहार-कौशल ही हमारी सभ्यता का परिचायक होता है। हमें समाज में विभिन्न स्वभाव एवं रुचि के लोग मिलते हैं, उनसे सम्यक् ढंग से मिल सकने की योग्यता और सामर्थ्य जिसमें है, वही व्यक्ति सभ्य है और सुसंस्कृत भी। पारस्परिकता की भावना ही सभ्यता और संस्कृति की विधायिका है। पारस्परिकता की यह कसौटी संकुचित नहीं, अपितु व्यापक है। यद्यपि सभ्यता का विशेष सम्बन्ध नागरिकता से है, तथापि वह संकीर्णता के अधीन नहीं है। एक संकीर्ण समाज में सभ्य माना जाने वाला व्यक्ति विशाल समाज में भी सभ्य माना ही जायगा, ऐसी कोई अनिवार्य शर्त्त नहीं है। सभ्यता के मानदण्ड वातावरण के आश्रित होते हैं, अतः उनमें परिवर्तनशीलता अवश्यम्भावी है। यह परिवर्तन विभिन्न जातियों के परस्पर संपर्क में आने से उत्पन्न होता है।

आज सभ्य और असभ्य का मान व्यक्तीकरण से उठकर समाजीकरण के स्तर पर पहुंच गया है और दोनों का सम्बन्ध क्रमशः नगर और गांव से जुड़ गया है। कुछ लोगों की दृष्टि में नगर अथवा शहर के व्यक्ति सभ्य और गांव के व्यक्ति असभ्य होते हैं। वास्तविकता यह है कि गांव के स्वच्छ, निर्मल, यथार्थ और निश्छल वातावरण में जो सभ्यता हमें दिखाई पड़ती है, असत्य, छल-कपट, धोखाधड़ी एवं कृत्रिमता से बोझिल नागरिक सभ्यता में उसके दर्शन सर्वथा दुर्लभ हैं। सभ्यता के प्रति दृष्टिकोणों में वैविध्य दिखाई पड़ता है। यूरोप के लोग स्वयं को एशिया-अफ्रीका वालों से अधिक सभ्य समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सभ्यता का स्तर सुखोपभोग के उपलब्ध

साधनों से आंका जाता है। इसके विपरीत संस्कृति की कसौटी बाहरी वैभव तथा रहन-सहन का उच्चस्तर न होकर जीवन की पवित्रता, सच्चरित्रता, संयम, त्याग तथा प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, सहयोग, सहिष्णुता एवं उदारता की भावना होती है। यही कारण है कि समय के परिवर्तन के साथ सभ्यता बदलती रहती है, किन्तु संस्कृति के तत्त्व अपेक्षाकृत स्थायी स्वरूप के होते हैं। श्री 'दिनकर' के शब्दों में "संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महान् चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती हैं लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।"[१] सभ्यता अनुकरणीय वस्तु है, परन्तु संस्कृति अननुकरणीय है। आधुनिक सभ्यता आडम्बर और मिथ्याचार की पीठिका पर अवस्थित है। इसीलिये यह आडम्बरपूर्ण सभ्यता जिस तीव्र गति से विकासमान होती है, संस्कृति उसी गति से अलक्ष्य होती जाती है।

सभ्यता के बाह्य रूपों में समुद्र की लहरों की भांति निरन्तर परिवर्तन होता रहा है, पर हमारे देश की सांस्कृतिक आत्मा गंभीर और निश्छल रही है। आध्यात्मिकता का प्राधान्य हमारी संस्कृति की शाश्वत निधि के रूप में रहा है और इसी आध्यात्मिकता ने समग्र विश्व को संवलित, समृद्ध और संपन्न किया है।

सभ्यता और संस्कृति दोनों ही संस्कार के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। ऐसी दशा में 'सभ्यता' का अर्थ होगा—मानव जीवन के वे कृत्रिम तथा ऊपरी संस्कार, जिनके द्वारा वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति-प्रदत्त साधनों का उपयोग करता है, जब कि संस्कृति का अर्थ होगा—जीवन के वास्तविक तथा आध्यात्मिक संस्कार, जिनके द्वारा मानव

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारी सिंह दिनकर—पृष्ठ ६५२।

अपनी बुद्धि का प्रयोग कर कर्म और विचार के क्षेत्र में कल्याणकारी सर्जनाओं के लिए सचेष्ट होता है।

सभ्यता हमारी भौतिक संपत्ति है, जिसका सम्बन्ध बाह्य (External) क्रियाकलापों तथा शारीरिक एवं भौतिक विकास से है और संस्कृति हमारी आध्यात्मिक शक्ति, बौद्धिक विकास और व्यक्तित्व जैसे आन्तरिक (Internal) पक्षों में अभिव्यक्त होती है। सभ्यता शरीर का आभूषण है और संस्कृति आत्मा का शृंगार। सभ्यता मनुष्य को सजाकर आकर्षक तो बना सकती है, पर उसे सुसंस्कृत नहीं बना सकती। सभ्य व्यक्ति को संस्कृत और संस्कृत व्यक्ति को सभ्य मान लेने पर धोखा खाने की ही संभावना अधिक रहती है। मानव-अन्तर में विद्यमान कोमल भावनाएँ, दयालुता, परोपकार, सहिष्णुता, विनम्रता आदि तत्त्व उसकी 'संस्कृति' को व्यंजित करते हैं। सभ्यता शरीर की वस्तु है तो संस्कृति हृदय की। हमारी परिष्कृत सुरुचियाँ हमारी संस्कृति की परिचायिका हैं और हमारा शिष्ट तथा दूसरों को सुखद प्रतीत होने वाला व्यवहार हमारी सभ्यता का परिचायक है। श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में—"समाज-जीवन के शरीर को लेकर जिन बाह्याचारों की सृष्टि हुई है, मानव-मन की बाह्य प्रवृत्तिमूलक प्रेरणाओं से जो कुछ विकास हुआ है, उसे 'सभ्यता' कहेंगे और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से जो कुछ बना है, उसे 'संस्कृति' कहेंगे। शरीर और आत्मा की भाँति सभ्यता और संस्कृति जीवन की दो भिन्न प्रेरणाओं को व्यक्त करती हैं। दीपक की लौ सभ्यता है, उसके अन्दर भरा स्नेह 'संस्कृति' है। सभ्यता जीवन का रूप है, संस्कृति उसका सौन्दर्य है जो रूप से भिन्न भी है और अभिन्न भी; जो उसके पीछे से झांकता है और जीवन के अवगुंठन से भी बाहर फूटा पड़ता है, पर वस्तुतः अन्तर में समाया हुआ है![1]"

'संस्कृति' का सम्बन्ध चिन्तन तथा कलात्मक सृजन की उन प्रक्रियाओं

---

१. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका)—श्री रामनाथ सुमन—भूमिका—पृष्ठ ५

से है, जो मानव-जीवन तथा मानव-व्यक्तित्व को परोक्ष रूप से परिष्कृत तथा समृद्धिशाली बनाती हैं, यद्यपि प्रत्यक्षतः मानव-जीवन के लिए उनकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रकट होती, जब कि 'सभ्यता' का सम्बन्ध उन अभिनव आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संस्थाओं से है, जो मानव-जीवन-यात्रा को सरल बनाती तथा स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त करती हैं। जीवनगत उपयोगिता इन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों तथा विभिन्न संस्थाओं के मूल में रहती है। डॉ० सत्येन्द्र के विचार इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं—"सभ्य जीवन मानव-जीवन का सबसे ऊपरी स्तर है, यह हमारे जीवन के भव्य भवन की ऊपरी सजावट का रूप है। यह वैभव और सौष्ठव से विभाजित है, इसको हम बहुधा नगरों में ही केन्द्रित देखते हैं। सभ्यता का जीवन जिन प्रसाधनों पर निर्भर करता है, वे नगर और शहर में ही उपलब्ध होते हैं। फलतः सभ्य जीवन और सभ्यता का नगर अथवा शहर से सम्बन्ध हो गया है।"[1]

प्राचीन काल के ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा और भक्त निविड़ कानन-वासी होते थे। प्रकृति की छत्रच्छाया में वे इतने अधिक सुसंस्कृत होते थे कि बड़े-बड़े राजे-महाराजे जो सभ्यता के प्रतिनिधि माने जाते थे, नंगे पाँव चलकर तपोवनों में आते थे और वल्कल वस्त्रधारी, दीन और वैभवशून्य महर्षियों के समक्ष नतमस्तक होते थे। उनके दैनन्दिन जीवन-क्रम के आधार पर आज हम उनको 'सभ्य' व्यक्तियों में सम्मिलित करने में कदाचित् कुछ हिचक का अनुभव करते, परन्तु उनके सुसंस्कृत होने का यही प्रमाण है कि उन्हीं के कारण आधुनिक भारत अपने वर्तमान स्वरूप को स्थिर रखने में समर्थ हुआ है। इससे स्पष्ट हुआ कि सभ्यता नगरों में बसती है और संस्कृति वनों से चलकर ग्रामों तक आई और वहां के अकृत्रिम और सुरम्य वातावरण पर मोहित होकर वह वहीं विश्राम करने लग गई है। सभ्यता प्रकृति से दूर जा पड़ी है, पर संस्कृति आज भी प्रकृति से अपना अटूट सम्बन्ध बनाये

१. ब्रज-लोक-संस्कृति—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ४७

हुए है क्योंकि ग्रामों का पोषण प्रकृति द्वारा ही होता है। इस सम्बन्ध में प्रो० के० सी० चक्रवर्ती का अभिमत उल्लेखनीय है[१]—

"A civilized people is far away from nature and very often civilized life means a sophisticated and artificial life. A people may be highly civilized but may not be as cultured."

मानव की सृजनात्मिका शक्ति का आधार लेकर मानव-समाज के अन्तर्गत जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण होता है। सृजन की यह प्रक्रिया जब बाह्य यथार्थ द्वारा पोषित होती है तो उपयोगिता की तुला पर चढ़ती है, जिससे औद्योगिक विकास-क्रम का पथ-प्रशस्त होता है और उसे 'सभ्यता' का अभिधान मिलता है, परन्तु जब वही प्रक्रिया बुद्धि, चेतना और अध्यात्म का आधार लेकर बढ़ती है तो उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वहीन होने पर भी वह मानव-जीवन के आन्तरिक परिष्कार, प्रसार और समृद्धि का सार्थक सृजन करती है और उसी को 'संस्कृति' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। विकास के स्तर पर देखें तो सभ्यता का चरम विकास आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों जैसे राकेट आदि में दिखाई पड़ता है, परन्तु सभ्यता के विकास की यह चरमावस्था मानव के लिए अभिशाप बनकर आई है, उसमें व्यापक स्तर पर नर-संहार उद्दिष्ट है। एकमात्र मानव-कल्याण की दिशा में प्रेरित हो जाने पर सभ्यता का यह विकास संस्कृति का भी विकास बन जायगा और तब सभ्यता और संस्कृति के अपूर्व समन्वय की उद्भावना संभाव्य होगी। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग में इसी तथ्य का उद्घाटन किया है कि जब तक सभ्यता और संस्कृति में परस्पर सहयोग और समन्वय नहीं स्थापित होगा, तब तक मानव-जीवन चरम आध्यात्मिक लक्ष्यों को आत्मसात् नहीं कर सकेगा।[२] सभ्यता मानव-मात्र के साथ शिष्ट पारस्परिक

१. एन्शिएण्ट इण्डियन कल्चर—प्रो० के० सी० चक्रवर्ती—पृष्ठ ११

२. देखिए 'कुरुक्षेत्र'—रामधारी सिंह 'दिनकर'—पृष्ठ १०८ से ११९ तक

व्यवहार का उपादान है और संस्कृति मानव की परिष्कृत मनोवृत्तियों की वाहिका है। ये दोनों तत्त्व अपने समन्वित रूप में ही मानव-जीवन को पूर्ण और समृद्ध बनाने में सक्षम हैं। अकेली सभ्यता नगरों की संपत्ति चाहे बन जाय, परन्तु समस्त देश और प्रदेश में अपनी श्रेयस्कर स्थिति बनाने के लिये उसे संस्कृति की उदात्तता का पूर्ण सहयोग स्वीकार करना होगा, अन्यथा सभ्यता संस्कृति की शत्रु बन जायगी।

उपर्युक्त विवेचन हमको इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सभ्यता और संस्कृति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इन दोनों तत्त्वों का समन्वय ही मानव-जीवन का चरम काम्य है। किसी व्यक्ति या समाज के सभ्य और संस्कृत दोनों होने के लिए यह परमावश्यक है कि वह भौतिक दृष्टि से समृद्ध और समुन्नत होने के साथ ही साथ आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसी परिमाण में समृद्ध और समुन्नत हो। भौतिक समृद्धि के आधार पर कोई भी व्यक्ति सभ्य कहा जा सकता है और इसी आधार पर बड़े-बड़े पूँजीपतियों का समावेश सभ्यता के परिवेश में किया जाता है जिसका मूल आधार उच्च शिक्षा, भव्य भवन, मोटरें, कल-कारखाने, बहुमूल्य वेशभूषा आदि हैं जिन के द्वारा उनके जीवन-यापन का सर्वोच्च स्तर बनता है और जिनके द्वारा उनके कृत्रिम जीवन की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु प्रत्यक्षतः उनके क्रियाकलापों विलासिता और अमानवीयता का ही प्राधान्य होता है। सर्व-प्रकारेण आत्म-हित-साधन ही उनके जीवन का मूल अभिप्रेत होता है। एक शब्द में उन्हें आत्म-केन्द्रित (Self Centerd) कहा जा सकता है, परन्तु उन्हें संस्कृत नहीं कहा जा सकता। संस्कृत व्यक्ति वह है जिसकी आत्मिक भावनाओं का उदात्त परिष्करण हो चुका है, जिसमें उच्च मानवीय गुणों का संगम हो गया है तथा जो दया, उदारता, सहिष्णुता, सहयोग, परोपकार, जन-कल्याण तथा दलितों को ऊपर उठाने की सात्त्विक अन्तर्भावना से ओतप्रोत है। ये ही संस्कृति के मूल आकर्षक तत्त्व हैं और इनकी उपलब्धि के पश्चात् व्यक्ति भौतिक दृष्टि से समृद्ध न होने पर भी सुसंस्कृत और सभ्य कहा जायगा।

द्वितीय अध्याय

साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध

संस्कृति मानव-जीवन से सम्बद्ध है और साहित्य भी मानव-जीवनसे ही संबंध रखता है। इस प्रकार संस्कृति और साहित्य दोनों एक केन्द्र-बिन्दु पर जाकर मिलते हैं। इसलिये किसी भी साहित्य में, जिस देश या जाति का वह साहित्य है, उसकी संस्कृति की अथवा सम्पूर्ण मानव-संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। कथाएं और पात्र सब अलग-अलग होते हैं, परन्तु उनके माध्यम से मानव-जीवन के सान्निध्य से संस्कृति उभरती है। साहित्य एक ओर जहाँ जीवन का प्रतिबिम्ब है, वहीं वह जीवन की प्रेरणा भी है। इसी प्रकार संस्कृति भी जीवन की अभिव्यक्ति भी है और उसमें वे सब मानवीय प्रेरणाएं भी निहित हैं जो मानव के लिए अनिवार्य हैं और इन्हीं के बल पर कोई भी समाज, देश अथवा राष्ट्र जीवन-पथ पर अग्रसर होता है। जिसकी सांस्कृतिक पीठिका समृद्ध है, समुन्नत है, वही जाति गर्वोन्नत रहती है।

अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे देश के ऋषि-मुनि, महाकवि तथा सन्त-महात्मा उपदेशात्मक शैली में जिस प्रकार के साहित्य की सृष्टि करते रहे, उसमें लोक-संग्रह और लोक-संस्कृति के तत्त्वों को ही प्राधान्य मिला है, परिणामतः समस्त प्राचीनतम ग्रन्थों में लोक-जीवन और संस्कृति के अनेक ऐसे तत्त्वों के विशद विवेचन मिलते हैं जो न केवल भारतीय जन-जीवन, अपितु समग्र विश्व-मानव का—प्रेरणा, उद्बोधन, उत्साह, शक्ति, आशा, विश्वास आदि मानव-जीवन को संबलित और विकासोन्मुख करने वाले तत्त्वों से मार्गदर्शन कराते रहेंगे। उनके द्वारा संस्कृति के अनेक मानवीय सत्तत्त्वों का संरक्षण हुआ है, मानवता को उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है, मानव में महा-मानववादी दृष्टिकोणों की अवतारणा के लिये प्रयत्न हुए हैं और इसीलिए हम उन ग्रन्थों को अपने जीवन के लिए आलोक-स्तम्भ

मानकर उनका अनुसरण करते हैं। समग्र मानव-संस्कृति उन ग्रन्थों में अपने चिरन्तन स्वरूप में साकार हो उठी है। उन ग्रन्थों में लोक-संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों, अध्यात्म शास्त्र के समान जटिल विषयों, मानव-जीवन के लिये अभीष्ट उच्चादर्शों को उपमा, रूपक, दृष्टान्त, अन्योक्ति आदि अनेकानेक अलंकारों द्वारा संग्रथित कर दिया गया है। अनेक मौखिक एवं लिखित मनोरंजक आख्यायिकाओं एवं गीतों में संस्कृति के तत्त्वों को इस प्रकार सजाकर बिठा दिया गया है कि जिससे क्या अपढ़, मूर्ख, गँवार, जंगली और क्या सुशिक्षित विद्वान् एवं पण्डित—सभी समान भाव से रस ग्रहण कर सकते हैं। उन ग्रन्थों में ऐसा मधुमय आसव पुंजीभूत हो उठा है, जो परम आह्लादकारक, कल्याण-विधायक एवं अलौकिक अनुभूति का प्रदायक है। यही अलौकिक अनुभूति हमें वेदों से लेकर वाल्मीकि, वेदव्यास, कबीर, सूर, तुलसी आदि के साहित्य में भी मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत और रामचरितमानस तो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। आगे चलकर गांधी-साहित्य में भी हम उसी साहित्य और संस्कृति के समन्वित स्वरूप का दर्शन करते हैं।

संस्कृति मानव-मात्र को एकता के सूत्र में संग्रथित करने के लिये सतत सचेष्ट रहती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उसका लक्ष्य होता है और संस्कृति के इस मूल मन्त्र को समग्र विश्व में प्रचारित-प्रसारित करने का मुख्य साधन भी साहित्य ही है। श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस को हम उदाहरण के रूप में रख सकते हैं, जिन्होंने विश्व की अनेक भाषाओं में आकार लेकर समग्र मानव-जाति की आध्यात्मिक चेतना को उद्बुद्ध करके संस्कृति को व्यापकता प्रदान की है।

साहित्य भी ललित कला का एक मुख्य अंग है। इस साहित्य-कला का जीवन से अन्योन्य सम्बन्ध है। सच तो यह है कि कोई भी कला जीवन से विमुख होकर अपना पृथक् अस्तित्व बनाकर नहीं चल सकती। जीवन से संबद्ध होने के कारण कला के लिए सत्य का महत्त्व भी विशेष रूप से बढ़ जाता है। सत्य कला का मूल ग्राह्य तत्त्व है। जो जीवन का सत्य है, वही

समाज का भी सत्य है और जो समाज का सत्य है, वही साहित्य का भी सत्य है। जीवन के लिये मंगल (शिव) का जो महत्त्व है तथा समाज के लिए उसका जो महत्त्व है, वही महत्त्व साहित्य के लिए भी है। इसी प्रकार सौन्दर्य भी जीवन, समाज और साहित्य के लिये परमावश्यक है। इसीलिए साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरं के समन्वय पर विशेष बल दिया जाता है।

साहित्य और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वथा कल्याणमय है। जीवन का उन्मुक्त प्रवाह ही साहित्य की मूल प्रेरणा है। साहित्य की व्यापकता के लिए जीवन की अजस्र प्रवहमानता तो पोषक तत्त्व का कार्य करती है, क्योंकि जीवन-धारा के प्राण-तत्त्व ही साहित्य में आकार ग्रहण करते हैं। मानव-जीवन रहस्यों का भाण्डार है। उन रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए सूक्ष्मतम अन्तर्दृष्टि और गहनतम अनुभूति अपेक्षित है।

किसी भी युग विशेष का सर्वांगीण प्रतिबिम्ब हम साहित्य की आत्मा में झाँक लेते हैं और युग की प्रमुख प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में हम उसके साहित्यिक दाय का तदनुरूप नामकरण कर लेते हैं। युग-विशेष के साहित्य में उसका सामाजिक स्वरूप अपनी यथार्थता में मुखर हो उठता है और इसीलिए कहा जाता है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' परन्तु इस सूत्र की व्याख्या हमें सीमित रूप में ही स्वीकार्य होनी चाहिए। ऐसा कहा जाने लगा है कि साहित्य समाज का दर्पण होने के नाते साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह समाज को जैसा देखे, ठीक वैसा ही चित्रित कर दे। इसी प्रवृत्ति का कुपरिणाम यह दिखाई पड़ता है कि जब तब साहित्य में समाज का अत्यन्त विगलित और घिनौना स्वरूप अवतरित होता जा रहा है और समाज का शिव-पक्ष आत्यन्तिक भौतिकता के नीचे दबता-सा जा रहा है। समाज में असुन्दर का ही प्राधान्य है, सुन्दर और शिव का कहीं नाम नहीं, ऐसी धारणा इस प्रकार के साहित्य को देखकर बनने लगती है। यह स्थिति घोर अकल्याणकारी है और शिवेतर-क्षति के स्थान पर 'शिव-क्षति' की नियामिका है। ऐसी दशा में 'साहित्य समाज का दर्पण है'—के सूत्र की व्याख्या को हम अतीत तक ही सीमित करें और पूर्ववर्ती साहित्य से इतिहास का काम लें और यह मानकर

साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में उतरें कि कालान्तर में हमारे साहित्य में समाज का जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब झाँका जाय, उसमें हमारे सामाजिक जीवन की उच्चस्तरीयता, सांस्कृतिक गरिमा और आदर्शोन्मुखी प्रवृत्तियों का उज्ज्वलतम पक्ष मुखर हो उठे। साहित्यकार समाज की विकृतियों में रस न ले, बल्कि उनके प्रति अपने नैतिकतापूर्ण आक्रोश को एक नए आदर्श की पीठिका में अभिव्यक्त करे, तभी हमारे जीवन, हमारे समाज और हमारी संस्कृति का सुष्ठु स्वरूप साहित्य में उतर सकेगा। यहाँ हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि साहित्य में आदर्श इतना प्रधान हो जाय कि उसे असंभव कल्पना के रूप में निरूपित किया जाने लगे और न साहित्य को आकाश की ओर अभिमुख करने से हमारा आशय है। वास्तव में साहित्य का अस्तित्व तो मानव-जीवन और समाज को लेकर ही है और समाज के सत्य से आंख मूंदना साहित्यकार का दिग्भ्रम होगा। अतः साहित्यकार यथार्थ का चित्रण कर सकता है, परन्तु उस चित्रण में अभिव्यक्त सामाजिक विकृतियों के प्रति उसका आक्रोश एवं असंपृक्तता स्पष्टतया अभिव्यंजित होनी चाहिये, जिससे वह समाज की बुराइयों को दूर करने में योग दे सके। आदर्श के मूर्त्त रूप को हमें यथार्थ के साथ ही साहित्य में उतारना होगा, अन्यथा बुराइयों या सामाजिक विकृतियों को तद्वत् चित्रित करके ही इतिकर्तव्यता मान लेने से सृजन और नव-निर्माण की अपेक्षा पूर्ण नहीं होगी। "सुरसरि सम सब कहँ हित" को साहित्य का चरम श्रेय स्वीकार करने के कारण गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' कोटि-कोटि जन-मानस का कण्ठहार बना हुआ है, क्योंकि उन्होंने जन-जीवन को पैनी दृष्टि से देखा, सांस्कृतिक कसौटी पर उसको परखा और तब उसके आदर्श, सौन्दर्य और औदात्त्य को प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रहण किया। भारतीय जन-जीवन के दुःख-दैन्य को (यथार्थ को) आदर्श के कूलों का संस्पर्श देकर उन्होंने जन-जीवन में कल्याणोन्मुखी भावना भरने का महान् कार्य किया। साहित्य के प्रेय और श्रेय का भी उन्होंने अतल गहराई में घुसकर स्पर्श किया था और इसीलिये तुलसी का काव्य जन-मानस का मूर्त्त प्रतिनिधि बनने में समर्थ हो सका। तुलसीदास के पूर्व के

सन्त साहित्य में भी यही उदात्त जीवन नाना रूपों में साकार हो उठा है। वहाँ समाज के गर्हित पक्ष को उभारा तो गया है, परन्तु उसमें कवि की आसक्ति नहीं, आक्रोश उभरा है, घृणित के प्रति आकर्षण नहीं, विकर्षण और तिरस्कार मुखर हुआ है और अन्याय तथा अत्याचारों के प्रति दमित प्रवृत्ति नहीं, अपितु विद्रोह का स्वर ऊँचा उठाया गया है और इसी कारण सन्त-साहित्य में भी हमें जन-जीवन, जन-भावना और जन-संस्कृति के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण का चरम विकास मिलता है। भक्ति-काव्य के प्रणेता सूर और तुलसी उसी परम्परा के अग्रसारक कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं जिनके अन्तस् में निरन्तर जन-कल्याण की उद्दाम भावना हिलोरें ले रही थीं।

साहित्य और समाज का परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध है। वे दोनों एक दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। सामाजिक धरातल पर ही साहित्य की सृजनशीलता संभव है। समाज से साहित्य और साहित्य से समाज के स्वस्थ रूप का निर्माण होता है। समाज में नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार के क्रियाकलाप वातावरण के प्रभाव से संचरित होते हैं। नैतिकता समाज का श्रेय और अनैतिकता उसका कालुष्य है। जीवन और समाज में नैतिकता ग्रहणीय और अनैतिकता त्याज्य है। अनैतिकता को प्रश्रय प्राप्त होने की दशा में समाज में विविध प्रकार की बुराइयों का प्राबल्य संभावित है। अतः साहित्यकार के लिए भी नैतिकता का ग्रहण श्रेयस्कर और अनैतिकता का पोषण निन्दनीय है। काव्य, नैतिकता और जीवन का सम्बन्ध मैथ्यू आर्नल्ड के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है, वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है और जो काव्य नैतिकता के प्रति उदासीन है, वह स्वयं जीवन के प्रति उदासीन है।"

साहित्य ही नहीं, प्रत्येक सृजन की पृष्ठभूमि में आनन्द-प्राप्ति की भावना निहित है। साहित्य का प्राण 'रस' तो 'ब्रह्मानन्द सहोदर' ही है। प्राचीन तथा आधुनिक सभी विचारकों ने साहित्य के आनन्द पक्ष पर पर्याप्त

जोर दिया है। उपन्यासकारों के सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य का प्रधान गुण आनन्द प्रदान करना माना है। परन्तु उन्होंने उस आनन्द की सृष्टि में भी उच्च चिन्तन, स्वाधीनता का भाव, सौन्दर्य का सार, सृजन की आत्मा और जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश निहित होना अनिवार्य मानकर साहित्य को संस्कृति के बिल्कुल निकट ला खड़ा किया है। आनन्द अथवा संस्कृति के उक्त गुणों को अपने में समाविष्ट करके ही कोई साहित्यिक कृति सामाजिक धरातल पर अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर सकती है। इस उपयोगिता का उपहार लेकर साहित्य जन-मानस की गहनता को स्पर्श कर सकता है।

वस्तुतः साहित्य समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करने वाला होता है। साहित्य वह सार्थक शब्द-चित्र-फलक है जिसमें समाज की उन्नत एवं पतनशील प्रवृत्तियों का समष्टिगत स्वरूप अंकित होता है। मनुष्य ही साहित्य का उद्दिष्ट है। मनुष्यों से ही समाज, देश, राष्ट्र और विश्व की अवस्थिति है। अतः समग्र विश्व-मानव ही साहित्य की वर्ण्य-वस्तु है। मानवीय समस्याओं का अंकन साहित्य का मूल अभिप्रेत है। मानव-जीवन तथा समग्र विश्व की हित-कामना से प्रेरणा प्राप्त कर जिस साहित्य का सृजन होता है, वही साहित्य वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य कहलाने का अधिकारी होता है। संस्कृति की दृष्टि भी मानव-कल्याण की ओर ही उन्मुख रहती है, उसके रोम-रोम से यही ध्वनि निःसृत होती रहती है—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्।"

साहित्य का संस्कृति से भी अन्योन्य सम्बन्ध है। साहित्य समाज का, उसकी श्रेष्ठतम भावनाओं का और उसकी संस्कृति का भी प्रतिनिधि है। समाज और साहित्य परस्पर विरोधी भावों से संवलित हैं। जब-तब साहित्य के मूल प्रयोजनों की व्याख्या की जाती है, उसे 'कला कला के लिए' कहकर संकुचित सीमा में बाँधने का प्रयास किया जाता है और फिर उसके विरुद्ध

प्रतिक्रिया बनकर 'कला जीवन के लिए' का सिद्धांत अपना रूप सँवारता दिखाई पड़ता है। सृजन की दृष्टि से महत्त्व दोनों का होता है। आदर्श और यथार्थ का आग्रह, सत्यं-शिवं-सुन्दरं आदि का मोह परस्पर विरोधी भावों का ही विधायक है। परन्तु अन्ततः साहित्य का सम्बन्ध समाज-जीवन और उसकी संस्कृति से ही स्थापित होता है। समाज तथा संस्कृति से निर्लिप्त रहकर साहित्य अपना स्थायी स्वरूप नहीं बना पाता। मानव-समाज सतत विकासशील है। मानव के विकास के साथ समाज का विकास होता है, समाज के विकास के साथ ही धर्म का, संस्कृति का और साहित्य का भी विकास होता है। समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास का यह स्वरूप हम वैदिक साहित्य में भी देख सकते हैं जिसमें मानव-जीवन के लिए ग्रहणीय अनेक उच्चादर्शों की भूमिका प्रस्तुत की गई है। उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि समाज और संस्कृति के विकास में सतत अक्षुण्ण योग देते रहे हैं और उन्होंने निरन्तर अपना (साहित्य का) भी विकास किया है। पुराण साहित्य में भारतीय जीवन की समग्र और सर्वांगीण अभिव्यक्ति हुई है। इसीलिये जन-जीवन, समाज और संस्कृति सभी तत्त्वों का उसमें विशद निदर्शन मिलता है।

साहित्य संस्कृति का वाहन है। संस्कृति एक अव्यक्त सत्ता है। साहित्य उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार संस्कृति साहित्यिक मूल्यांकन की निर्माणशाला है। किसी जाति-विशेष के साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उस जाति का सांस्कृतिक इतिहास जानना अनिवार्य होता है। साहित्यकार अपने साहित्य में अपने युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करता दिखाई पड़ता है। उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने देश की संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख सामाजिक समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करके उनका ऐसा समाधान प्रस्तुत करे, जिससे समाज उन्नति-पथ पर अग्रसर हो और साथ ही उसे अपनी संस्कृति का सम्यक् बोध हो। पुरातन साहित्य में हम अपनी संस्कृति के जिस सुष्ठु स्वरूप की झाँकी पाते हैं, उसे देखकर जहाँ एक ओर हमारा अन्तस्

आनन्दोल्लास से पुलकित हो उठता है, वहीं अपनी आज की सांस्कृतिक विपन्नता का अनुमान करके क्षोभ भी कम नहीं होता है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से चिन्तन करके हम अपनी पुरातन सांस्कृतिक गरिमा को पुनः प्राप्त करने के लिये सजग हों, ऐसी प्रेरणा भी वहाँ पर विद्यमान है।

संस्कृति प्रत्येक देश और समाज में परिव्याप्त सत्ता है। वह समाज की धात्री के पद पर अधिष्ठित होकर उसे कल्याणोन्मुखी प्रवृत्तियों के ग्रहण की भी सतत प्रेरणा देती रहती है। साधना भी मनुष्य को कल्याण की ओर ही अग्रसर करती है। इस साधना का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधना मानव की ही वस्तु है और मानव-कल्याण ही उसका उद्दिष्ट है। यही कार्य संस्कृति का भी है। अतः साधना और संस्कृति यहाँ आकर एक केन्द्र पर मिल जाती हैं और दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीलिये डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानव की श्रेष्ठ साधनाओं को ही संस्कृति की संज्ञा दी है।[1] साधना का स्वरूप वैयक्तिक होता है, परन्तु वह मानव-संस्कृति का अंग भी है। निरन्तर साधना करके व्यक्ति अपने आपको सुसंस्कृत करने में सफल हो सकता है।

संस्कृति समूहवाचक शब्द है। उसकी सत्ता व्यक्ति में विद्यमान होते हुए भी सामाजिकता में अधिक विकासोन्मुख दिखाई पड़ती है। व्यष्टि और समष्टि के अन्योन्य सम्बन्ध के अनुरूप ही साधना और संस्कृति का सम्बन्ध है। प्रत्येक मानव जब साधना-पथ पर अग्रसर होता है तो उसे पूजा, व्रत, अनुष्ठान आदि अनुक्रमों का आश्रय लेना पड़ता है। आचार की दृष्टि से पावित्र्य एवं सद्भावना तो साधना के लिए अपरिहार्य ही है। अतएव मानव को श्रेष्ठ साधनाओं का मधुर संस्पर्श प्राप्त कर जो आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, पूजा आदि के सामाजिक विधि-विधान विकसित होते हैं, उन्हीं की समष्टि को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है और संस्कृति के यही तत्त्व साहित्य की आत्मा का भी पोषण और संस्कार करते

---

१. अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७५

हैं। इसीलिये साहित्यकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्य की जिस भी विधा को अंगीकार कर वह सृजन के क्षेत्र में अग्रसर हो, उसमें मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-संस्कृति की आंशिक अथवा सर्वांगीण (यथास्थिति) अभिव्यक्ति करे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति-साधना के लिये जिन मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम को अपना आराध्य बनाया, उनके सर्वांगीण व्यक्तित्व और चरित्र को रामचरित मानस में साकार रूप में उपस्थित कर दिया परन्तु भक्ति के प्रवाह में वे तद्‌युगीन संस्कृति को विस्मृत नहीं कर सके, अपितु उसको राम के चरित्र के समानान्तर ही अपने मानस में अभिव्यक्त किया। परिणामतः रामचरित मानस भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि बनकर साहित्य-जगत् में जगमगाने लगा। अतः यह कहना असंगत नहीं होगा कि साहित्यकार के लिये यह आवश्यक है कि वह संस्कृति के प्रति निष्ठा-भावना रखकर साहित्य-सृजन की दिशा में प्रवृत्त हो। समाज और संस्कृति से निरपेक्ष रहकर कोई भी साहित्य मानव-जाति के कल्याण का सजग प्रहरी बनने की क्षमता खो देगा, यह निर्विवाद है।

हिन्दी काव्य में संस्कृति का स्वरूप

हिन्दू तथा इस्लाम संस्कृतियों के संपर्क तथा सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों के बीच जब हिन्दी साहित्य का आविर्भाव हुआ, उस समय देशी राजा अपने राज्य तथा अपनी सत्ता और आत्मगौरव की सुरक्षा के प्रयासों में व्यस्त थे। देश में कोई एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था न थी। भारत अनेक राज्यों में बँटा था और प्रत्येक राज्य का शासक भारत के अन्य राज्यों को जीतकर अपने राज्य में मिलाने के लिए सचेष्ट रहता था। विदेशी मुसलमानों को भारत की इस फूट से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला। उन्होंने अनेक बार भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के विभिन्न राज्यों को अपने अधीन कर लिया। इन विदेशी आक्रमणों ने भारत की शासन-व्यवस्था को विशृंखलित तो

किया ही, देश में सामाजिक तथा सांस्कृतिक अस्थिरता भी उत्पन्न कर दी। विदेशी संस्कृति के अनेक तत्त्व भारतीय संस्कृति में समाविष्ट हो गए, जिनके परिणामस्वरूप सामाजिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन आ गया और देशीय संस्कृति को कई रूपों में अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अपने क्षेत्र को संकुचित करना पड़ा। आभिजात्यवर्गीय संस्कृति में तो यह संकुचन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। देशी राजाओं में भी इस समय पारस्परिक संघर्ष चल रहे थे जिनके मूल में कोई न कोई सुन्दरी या राजकुमारी होती थी। इस प्रकार देश में अशान्ति, अरक्षा और असमंजसपूर्ण वातावरण व्याप्त था। ऐसी अनिश्चितता के वातावरण में सर्जित साहित्य तद्‌युगीन समाज को, सामान्य जन-जीवन को सर्वांगीण रूप में लेकर नहीं चल सका और उन परिस्थितियों में यह संभव भी नहीं था। अतः कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता, युद्ध, विवाह और भोग-विलास के शृंगारिक वर्णनों तक ही अपनी काव्य-प्रतिभा को सीमित रखा। तथापि इन वर्णनों में यत्र-तत्र राजन्य संस्कृति के तत्त्वों का समावेश भी अनायास ही हो गया है।

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के आदि-काल में चन्दबरदाई द्वारा रचित '**पृथ्वीराज रासो**' सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें जन-जीवन के समग्र चित्रण का अभाव होने पर भी धर्म, कर्म और मोक्ष-प्राप्ति का विधान, दान, रीति-रिवाज, विवाह, षट्‌ऋतु और बारहमासा वर्णन, व्यूह, राजन्य समृद्धि, उत्सव, वेश-भूषा, खानपान, नृत्य-संगीत, आमोद-प्रमोद आदि संस्कृति के अनेक तत्त्वों का जहाँ कवि चित्रण करने बैठा है, वहाँ वह उत्साह, आनन्द और उल्लास में डूब गया है और उसका चित्रण राजन्य संस्कृति की झाँकी दिखाने में समर्थ बन गया है। रासोकार ने तद्‌युगीन सामाजिक विशेषताओं का निरूपण करते हुए उसे युग की सांस्कृतिक चेतना के आलोक-स्तम्भ का स्वरूप प्रदान किया है।

कन्या जब यौवन की देहली पर पहुँचती है तो किसी उपयुक्त वर से उसका विवाह करने की चिन्ता उसके माता-पिता को सताने लगती है। इसके लिए पुरोहित को बुलाकर वर खोजने तथा विवाह का मुहूर्त्त निश्चित करने का प्रस्ताव होता है। पुरोहित के साथ राजकुल का एक सदस्य भी जाता है। पुरोहित मणि और मोतियों से चौक पूर कर उसमें श्रीफल (नारियल) प्रतिष्ठित करता है और तब कन्या के भावी पति के साथ उसका वाग्दान संस्कार **संपन्न** कर दिया जाता है। रासो में कुंडली के आधार पर लग्न आदि निश्चित करने की पुरातन प्रथा का भी वर्णन हुआ है। 'शिव मण्डप पश्चिम दिशा पूजि समय संप्रात' पद में प्रभात-काल में कन्याओं द्वारा शिव की पूजा तथा गणगौर (गौरी) के पर्व का भी वर्णन हुआ है, जिसमें कन्यायें गौरी की पूजा करके अपने लिए सुयोग्य अथवा मनचाहा वर पाने की कामना करती हैं। यह गणगौर पर्व आज भी राजस्थान की विशेषता बना हुआ है तथा देश के अन्य भागों में भी सोत्साह मनाया जाता है।

प्राचीन काल से लोक-जीवन में प्रचलित बारात की अभ्यर्थना तथा स्त्रियों द्वारा दूल्हा देखने की उल्लासपूर्ण प्रथा का भी रासो में सजीव चित्रण हुआ है। विवाह के वर्णन में चन्द ने पूजा के **विविध** विधि-विधानों का तथा मण्डप की प्रदक्षिणा की प्रथा का भी संकेत दिया है। पृथ्वीराज जब पद्मावती का वरण करके दिल्ली वापस आए, उस समय के उत्सव-वर्णन में चन्द ने संस्कृति के **उज्ज्वल** स्वरूप को मुखर कर दिया है। पृथ्वीराज और पद्मावती का स्वागत करने के लिए सुन्दरी और सुहागिन स्त्रियाँ मंगल-कलश लेकर उनके सामने आईं और सोने के थाल में सामग्री सजाकर उन दोनों की आरती की और उल्लासपूर्वक मोती निछावर करने लगीं। विवाह के पश्चात् होने वाले इस उत्सव को आज भी सामान्य लोकजीवन में 'परिछन' के रूप में देखा जा सकता है।

नरपति नाल्ह के **'बीसलदेव रासो'** के अन्तर्गत वीसलदेव और राजमती के विवाह, विप्रलम्भ तथा संयोग के वर्णनों में यथास्थान राजन्य-संस्कृति

का स्वरूप भी प्रकट हुआ है। **लोक-जीवन में बहु-प्रचलित सांस्कृतिक थातियों—लोकोक्तियों और मुहावरों, शकुन-अपशकुन संबंधी विश्वासों की अभिव्यक्तियाँ तो बीसलदेव रासो के सांस्कृतिक महत्व को और भी बढ़ा देती हैं।**

जगनिक का **'आल्हखण्ड'** तो बावन युद्धों और विवाहों के वर्णन में ही समाप्त हुआ है जिसमें विवाहादि प्रसंगों में जादू का चमत्कार, देवी-देवताओं की शक्ति, रीति-रिवाज, लोक-विश्वास आदि की सांस्कृतिक छटा भी देखने को मिल जाती है।

अमीर खुसरो उन मुसलमानों में से एक हैं, जिनका न केवल हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने की दृष्टि से विशेष महत्व है, अपितु सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी जिनका ऋण हिन्दू-संस्कृति के ऊपर है। उन्होंने अपनी पहेलियों तथा मुकरियों के माध्यम से लोकरंजन का विधान करते हुए अनेक सांस्कृतिक पक्षों को उभारा और तद्युगीन सभ्यता का दिग्दर्शन भी कराया। संगीत के तो वे विदग्ध आचार्य ही थे। वाद्य-यन्त्रों में सितार का आविष्कार भी खुसरो ने ही किया था।

मृत्यु के शोक-गीतों में खुसरो ने वेदना को साकार स्वरूप प्रदान किया है। खुसरो ने अपनी पहेलियों तथा मुकरियों के माध्यम से मानव-जीवन के दैनन्दिन व्यापारों को उभारने का भी प्रयत्न किया है। नाखून काटना, काजल लगाना, दर्पण में मुँह देखना, बाप का आधा नाम लेना, घर में दिया जलाना, भोजन में नमक का महत्व, शादी में ढोल की अपरिहार्यता आदि अनेक जीवनगत क्रियाओं को छोटी-छोटी पहेलियों में उतार कर खुसरो ने संस्कृति के प्रति अपनी आस्था-भावना अभिव्यक्त की है। उनकी पहेली 'सीस काट कर भू में धरा, लोथें चलीं नहान' में अन्त्येष्टि-संस्कार के कतिपय तत्वों का भी समावेश हुआ है। 'फाटो पेट दरिद्री नाम' वाली पहेली में खुसरो ने शंख को लक्ष्मी का भाई और विष्णु का साला कहकर जहाँ मनोरंजन का विधान किया है, वहीं ब्राह्मणों के घर में शंख का विद्यमान होना (उत्तम घर में वाको ठाम) भी बताया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने जन-

जीवन सम्बन्धी अनेक सामान्य वस्तुओं को अपनी पहेली तथा मुकरियों का विषय बनाया है। खुसरो ने ब्रजभाषा में अन्योक्ति के माध्यम से नारी-जीवन की विविध दशाओं को जो अभिव्यक्ति दी है, वह यद्यपि जन-जीवन को संसार में मानव की अस्थायी स्थिति तथा मृत्यु की विभीषिकाओं से अवगत कराकर सांसारिक आसक्तियों से विरत करने के प्रयास के रूप में आध्यात्मिक परिवेश लेकर उपस्थित हुई है, तथापि उसमें संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष अपनी समग्रता में भी मुखर हुआ है। खुसरो का एक ऐसा ही पद है—

**"बहुत रहो बाबुल घर दुलहिन चल तोरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों अन्त करी लरिकाई।
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे सबही सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुंब सब आए सगरे लोग लुगाई।
चार कहार मिलि डोली उठाएँ संग पुरोहित औ चले नाई।"**

विद्यापति की **पदावली** का भी सांस्कृतिक दृष्टि से कम महत्व नहीं है। विद्यापति के शृंगारिक पदों में भी आध्यात्मिकता का पक्ष शिथिल नहीं है। उनकी पदावली में यत्र-तत्र सांस्कृतिक गरिमा का आभास भी मिल जाता है और यह सांस्कृतिक गरिमा व्यावहारिक जीवन के समानान्तर चलती है। नृत्य-गीत (नचारी), रासलीला, गंगा, दुर्गा, शिव, विष्णु आदि की स्तुतियाँ तथा संयोग-वियोग के पदों के साथ ही जन्त्र-तन्त्र और मन्त्रों से समन्वित पदों की भी रचना विद्यापति ने की है। **'महेशवाणी'** के पद तो शिवरात्रि के पर्व पर आज भी मिथिला में गाए जाते हैं। इसी प्रकार उनके अनेक पद लोकगीतों का स्वरूप धारण कर चुके हैं और विवाह आदि के अवसरों पर आज भी मिथिला में गाए जाते हैं। उनकी 'महेशवाणी' में शिव-पार्वती-विवाह प्रसंग में भी लोक-जीवन में प्रचलित अनेक सांस्कृतिक तत्वों का उद्घाटन हुआ है।

विद्यापति ने अनेक धार्मिक कृत्यों का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ

किया है। वसन्तोत्सव के समय मिथिला में गाए जाने वाले पदों में विद्यापति का आन्तरिक उल्लास आज भी अपनी छटा दिखा जाता है। षट्ऋतु और बारहमासा वर्णन में कवि का आध्यात्मिक पक्ष भी अपना रूप सँवारता दिखाई पड़ता है। विद्यापति के पदों में चित्रकला, संगीत और काव्य का भी अनूठा समन्वय हुआ है। "कत न वेदन देसि मोहि मदना" पद में तथा अन्यत्र भी नारी की वेशभूषा और शृंगार-प्रसाधनों का सुन्दर चित्रण हुआ है। उनके अनेक पद लोकगीतों के रूप में आज भी मिथिला की अमराइयों में गूँजते सुनाई पड़ते हैं। 'सुनु रसिया अब न बजाउ बिपिन बँसिया', 'नन्द क नन्दन कदंब क तरु तर धिरे धिरे मुरली बजाउ', 'कुंज-भवन सयँ निकसलि रे रोकल गिरिधारी', 'मोरा रे अंगनवाँ चनन केरि गछिया ता चढ़ि कुरलै काग रे' आदि पद तो आज भी मिथिला के लोक-जीवन में पर्व-उत्सवों के समय सरसता का संचार करते दिखाई पड़ते हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों की छटा भी उनके पदों में मिलती है--"रहती ठाढ़ि हजूर', 'भँगिया जरठ दरदौ नहिं जान' आदि इसके उदाहरण हैं।

लोक-विश्वासों की अभिव्यक्ति की भी विद्यापति के पदों में कमी नहीं है। स्वप्न में विश्वास, आँगन में कौए की बोली सुनकर प्रियतम के आने की प्रतीति और कौए की चोंच सोने से मढ़ाने का आश्वासन आदि लोक-जीवन में प्रचलित सामान्य बातों को भी विद्यापति ने अपने पदों में स्थान दिया है। 'दे तुलसी तिल देह समरपिनु' में मृत्यु के समय में मुँह में तुलसी और हाथ पर गोदान के लिए तिल रखने के रीति-रिवाज का भी समावेश हुआ है। राज्याभिषेक वाले पद में उत्सव तथा अन्त्येष्टि-संस्कार का एक साथ ही संक्षेप में वर्णन हुआ है, जिसमें कवि कहता है कि राज्याभिषेक ओर अंत्येष्टि क्रिया के सामने राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों का कोई महत्व नहीं। प्रयाग में सौ यज्ञ करने के माहात्म्य का प्रतिपादन भी सांस्कृतिक धरातल पर हुआ है। कामदेव की आराधना के लिए तत्पर नायिका सखियों से झूमर और लोरी गाने की प्रार्थना भी करती है। विद्यापति की यह कल्पना उनकी सांस्कृतिक चेतना की साखी

भरती है। विद्यापति के पदों में राजन्य वर्ग की समृद्धि का चित्रण भी सुन्दर रूप में हुआ है।

भक्ति-काल

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के संघर्ष के युग में समन्वयवादी कबीर का आविर्भाव भक्ति-काल की महत्तम देन है। जाति-पाँति का भेद भुलाकर राम-भक्ति में अगाध निष्ठा रखते हुए कबीर ने देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योग दिया है। उन्होंने अपनी साखी, सबदी और रमैनी के माध्यम से देश के जन-जीवन में व्यापक स्तर पर सांस्कृतिक क्रान्ति को जन्म दिया। कबीर ने हिन्दू मुस्लिम संस्कृति का चाहे व्यापक निदर्शन न कराया हो, परन्तु जहाँ उन्होंने सामाजिक विकृतियों पर प्रहार किया है, वहाँ कबीर में संस्कृति बोलती हुई जान पड़ती है। कबीर ने धर्म के नाम पर तद्युगीन समाज में प्रचलित ज्ञान, योग, जप-तप, पूजा तथा अन्य अनेक बाह्याचारों के समूलोच्छेदन का पुनीत कार्य किया तथा उनके स्थान पर ग्राह्य मानवीय संस्कृति की पीठिका भी निर्मित की। जहाँ कबीर अन्तः शुद्धि की बात करते हैं, वहाँ वे संस्कृति को पुष्ट करते दिखाई पड़ते हैं। जहाँ कबीर का ध्यान इन बातों की ओर गया है, वहाँ वे सांस्कृतिक उन्नायक हैं। वे मानव की उन उदात्त भावनाओं की ओर संकेत करते हैं, जिनकी भारतीय समाज में कमी है। कबीर चाहते थे कि लोग आत्म-संस्कार करें, उनमें परस्पर प्रेम-भावना बढ़े। इस प्रकार कबीर ने व्यापक स्तर पर मानवीय संस्कृति को ध्यान में रखा है और इसी कारण उन्होंने दोनों पक्षों को खरी-खोटी सुनाई है और उन पक्षों का उद्घाटन किया है, जिनके द्वारा मानव-आत्मा का उन्नयन और शुद्धिकरण हो सकता है। कबीर जब मानव-जीवन में दिखाई देने वाले अभावों की ओर संकेत करते हैं तो उन अभावों में वह संकेत भी निहित होता है, जिस दिशा में वे मानव-समाज को ले जाना चाहते हैं। इस प्रकार दो महान् संस्कृतियों के संधि-स्थल पर खड़े होकर कबीर ने अपने त्याग, संतोष, ज्ञान और प्रेम-भावना के

माध्यम से तद्युगीन समाज में अभिनव सांस्कृतिक आलोक विकीर्ण किया। फलतः हिन्दू तथा इस्लाम संस्कृतियों में समन्वय की उद्भावना हुई तथा लोकजीवन को श्रेयस्कर मार्ग की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

गुरु नानक, दादूदयाल, रैदास आदि कबीर की परम्परा के प्रसारक संत थे। इन्होंने भी अपने पद तथा बानियों के माध्यम से जन-जीवन में ऐसी उपासना-पद्धति का प्रचार किया, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों को समान रूप से ग्राह्य हो तथा उन दोनों जातियों की सांस्कृतिक भावना के अधिक निकट हो। जन-जीवन में सदाचरण की प्रवृत्ति जाग्रत करके इन सन्तों ने संस्कृति के धर्म, संस्कार, आचार-व्यवहार आदि तत्वों को पुष्ट रूप प्रदान किया तथा दो संस्कृतियों में परस्पर समन्वय लाने का प्रयास भी किया है।

प्रेममार्गी शाखा के अन्तर्गत मलिक मुहम्मद जायसी सूफी कवियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जायसी जहाँ हठयोग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष तथा पौराणिक इतिवृत्तों में पारंगत थे, वहीं दर्शन तथा संस्कृति के प्रति भी उनके हृदय में अगाध आस्था थी। उन्होंने सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा था। सामाजिक विधि-विधानों के प्रति जायसी में पर्याप्त सहानुभूति थी तथा वे सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे। मानव-जीवन के सूक्ष्मतम अंशों तक जायसी की दृष्टि पहुँची है और उन्होंने **'पद्मावत'** में अपने युग के पारिवारिक और सामाजिक जीवन का चित्र-सा खींच दिया है। उसमें दाम्पत्य प्रेम का प्राधान्य होते हुए भी यात्रा, युद्ध, शौर्य, स्वामिभक्ति, कृतघ्नता, छल, मातृप्रेम, सपत्नी-कलह, सती-प्रथा आदि का भी सम्यक् वर्णन हुआ है।

सांस्कृतिक दृष्टि से **'पद्मावत'** अत्यन्त समृद्ध है। इसमें वसन्तोत्सव के वर्णन में विभिन्न जातियों की वेश-भूषा एवं श्रृंगार-प्रसाधन सम्बन्धी विशेषताओं से लेकर विवाह, बिदा, संयोग-वियोग, खान-पान, भोज आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। षट्ऋतु और बारहमासा वर्णन तो जायसी का

अनूठा क्षेत्र ही प्रतीत होता है। नीचे के कतिपय उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं:—

विवाह

भइ भाँवरि नेवछावरि राज चार सब कीन्ह।
दायज कहौं कहाँ लगि, लिखि न जाइ जत दीन्ह॥

× × ×

विदा

औ सँग चला गवन सब साजा।
उहै देइ अस पारे राजा॥

× × ×

संयोग

पिय धनि गहि दीन्हीं गलबाँहीं।
धनि बिछुरी लागी उर माँहीं॥
ते छकि रस नव केलि करेहीं।
चौका लाइ अधर रस लेहीं॥

× × ×

जन्म

कँवलसेन पदुमावति जाएउ।
जानहुँ चन्द धरति महँ आएउ॥
पंडित बहु बुधिवन्त बोलाए।
रासि बरग और गरह गनाए॥

जायसी ने जिस भी सांस्कृतिक प्रसंग पर लेखनी उठाई है, उसको

पूर्णता में चित्रित किया है। अतः संस्कृति का सुष्ठु और संपूर्ण स्वरूप उनके 'पद्मावत' में साकार होकर उतरा है।

राम-भक्ति शाखा के कर्णधार और सगुणोपासक भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास जो सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत बड़े समन्वयवादी थे। जन-भाषा अवधी तथा ब्रज भाषा को उन्होंने अपना काव्य-माध्यम बनाया, जिसके परिणामस्वरूप उनके काव्य द्वारा व्यापक स्तर पर मानव-समाज का कल्याण संभव हो सका। उनके 'रामचरित मानस' में मानव-जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति हुई है। उसमें गोस्वामी जो ने जन्म से मृत्यु तक के समस्त हिन्दू संस्कार, आचार-व्यवहार, धर्म, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, व्रत, पूजा, लोक-विश्वास आदि अनेक सांस्कृतिक तत्वों का उत्कृष्ट रूप में समावेश करके समाज को प्रेरणा प्रदान करने के साथ ही जन-मानस की सामान्य भावनाओं का संस्कार करने का भी प्रयत्न किया है। ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करके उसके प्रति जन-जीवन में गहन और दृढ़ आस्था एवं आस्तिकता भरने के कारण गोस्वामी तुलसीदास का काव्य पराधीनता-काल में भी भारतवासियों को अपनी सांस्कृतिक गरिमा अक्षुण्ण बनाए रखने का संबल प्रदान कर सका। मानवतावादी दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। गोस्वामी जी ने अपने पात्रों में यही मानवतावादी दृष्टिकोण भरने का प्रयास किया है। उनके 'रामचरित मानस' में जहाँ हमें लोक-संस्कृतिका उज्ज्वलतमरूप देखनेको मिलता है, वहीं राजन्य संस्कृति की छबि भी अपनी संपूर्ण यथार्थता के साथ अभिव्यक्त होती दिखाई पड़ती है। वास्तव में संस्कृति के क्षेत्र में गोस्वामी जी का योगदान अत्यन्त महत्व का है। उनकी रचनाओं के समग्र चित्रण लोक-जीवन के यथार्थ प्रवाह के अभिव्यंजक हैं। इन चित्रणों में जन-जीवन तथा जन-संस्कृति अपनी पूर्णता में साकार हुई है। इनके प्रत्येक पात्र जन-जीवन के सच्चे प्रतिनिधि हैं। तुलसीदास जी के राम और सीता हमारी संस्कृति और शिष्टाचार के आदर्श हैं, वे इस धरती के मानव-मानवी हैं। लौकिक संस्कारों के विस्तृत वर्णन के साथ ही तुलसीदास जी ने रामचरित

मानस, 'जानकी मंगल,' 'पार्वती-मंगल,' 'रामलला नहछू,' 'कवितावली' आदि ग्रन्थों में संस्कृति के समस्त तत्वों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल रामचरित मानस के कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

जन्म

भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशिल्या हितकारी।

× × ×

जातकर्म

तब नन्दीमुख श्राद्ध करि जात कर्म सब कीन्ह।

× × ×

नामकरण

नामकरण कर अवसर जानी।
भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी।।

× × ×

चूड़ाकर्म

चूड़ाकरण कीन्ह गुरु आई।
विप्र दक्षिणा पुनि बहु पाई।।

× × ×

उपनयन

भए कुमार जबहिं सब भ्राता।
दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।।

वेदारंभ

गु गृह गए पढ़न रघुराई।
अल्प काल विद्या सब आई।।

× × ×

विवाह

राम सीय सिर सेंदुर देहीं।

× × ×

गौना

प्रेम विवश परिवार सब जानि सुलगन नरेश।
कुंवरि चढ़ाई पालकी, सुमिरे सिद्धि गनेश।।

× × ×

अन्त्येष्ठि

इहि बिधि दाह-क्रिया सब कीनी।
बिधिवत् न्हाइ तिलांजलि दीनी।।

× × ×

लोकरीति

लोक-रीति जननी करहिं, बर दुलहिनि सकुचाहिं।

यों तो तुलसीदास जी की समस्त रचनाओं में संस्कृति के प्रति उनकी अनुराग-भावना अभिव्यक्त हुई है, परन्तु रामचरित मानस के पश्चात् 'पार्वती-मंगल', 'जानकी-मंगल' और 'रामलला नहछू' को विशेष महत्व दिया जा सकता है। रामचरित मानस के प्रत्येक पृष्ठ में भारतीय संस्कृति बोल रही है, यह कहना कदाचित् अत्युक्तिपूर्ण न होगा। वास्तव में

तुलसीदास जी ने समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों की गहनतम अनुभूति की थी और वही अनुभूति उनके काव्य में अभिव्यक्त होकर उन्हें लोक-नायक पद पर अधिष्ठित कर सकी है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना सामाजिक स्तरों में रह चुके थे।... उन्होंने नाना प्रकार के पुराणों और निगमागम का अध्ययन किया था, और साथ ही लोकप्रिय साहित्य और साधना-मार्ग की नाड़ी पहचानने का उन्हें अवसर मिला था।"[१] इन सारी परिस्थितियों ने कवि के मस्तिष्क और हृदय को जनजीवन के कल्याण और सांस्कृतिक अभ्युत्थान की दिशा में मोड़ दिया, जिसके फलस्वरूप तुलसी-साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि बन गया।

सूरदास के आविर्भाव काल में कर्म, योग और ज्ञानोपासना का प्रभाव जन-जीवन में व्याप्त होता जा रहा था, जो तद्युगीन समाज के लिए कल्याणकारी नहीं सिद्ध हुआ। सूरदास जी ने महाप्रभु बल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्गीय भक्ति के माध्यम से जन-जीवन को कल्याण और समृद्धि के नूतन पथपर लाने का प्रयास किया। अपने परमाराध्य कृष्ण की विविध लीलाओं का गान करते हुए उन्होंने संस्कृति के उत्थान में तो योग दिया ही, साथ ही हिन्दू-संस्कृति के प्रति जन-जीवन में आकर्षण भी उत्पन्न किया।

सूरदास जी ने ब्रज-संस्कृति को उसकी समग्रता में देखा और अपने साहित्य में उस समय ब्रज में प्रचलित अनेक संस्कार, पर्व-उत्सव, तीर्थ-व्रत, पूजा, वाणिज्य, व्यवसाय, आमोद-प्रमोद, नृत्य, लोकगीत आदि का यथावसर सम्यक् और सुष्ठु चित्रण किया है। सूर-साहित्य में अभिव्यक्त

---

१. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ २३१-३२

लोक संस्कृति का अनुसन्धान ही हमारे प्रबन्ध का मूल विषय है, अतएव यहाँ हम संक्षेप में केवल इतना कहना ही पर्याप्त समझते हैं कि सूरदास के काव्य में न केवल ब्रज, अपितु समस्त हिन्दू-संस्कृति के तत्वों का यत्र-तत्र सुन्दर संगुंफन हुआ है।

सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी सूरदास की ही भाँति धर्म और भक्ति-परक पदों में संस्कृति का समावेश करके देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में योग दिया है।

रीति-काल

रीतिकालीन कवियों में जीवन की विविधताओं के निदर्शन का पर्याप्त अभाव है। वे "आगे के सुकवि रीझिहैं तौ सुकविताई, न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है," की सीमित भावना से प्रायः मुक्तक-पद-रचना करने में तल्लीन रहे। जन-जीवन को इन्होंने खुली आँखों से देखा अवश्य, पर उससे अपने काव्य के लिए केवल शृंगार के उपकरण ही चुने। फिर भी भूषण, गुरु गोविन्दसिंह, लाल आदि कवियों ने अपने सामाजिक दायित्व को भी दृष्टि में रखकर अपने काव्य में संस्कृति को मुखर बनाया। अन्य अनेक कवियों ने भी शृंगार के संकुचित क्षेत्र में रहते हुए पारस्परिक जीवन के अन्दर सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की। महाकवि भूषण इस युग के विशेष महत्वपूर्ण कवि हैं, जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं के कीर्तिस्तवन के साथ ही हिन्दू-संस्कृति के उत्थान और उन्नयन में भी योग दिया और इसी कारण हम उन्हें राष्ट्रीय कवि के रूप में सम्मान देते हैं। देश की पराधीनता के वातावरण में यवनों के विरुद्ध भूषण के हृदय से निःसृत उद्गार समग्र हिन्दू जाति और समाज के हृदय के उद्गार बन गए। शिवाजी की प्रशंसा में भूषण ने एक पद कहा है, जिसमें संस्कृति के स्वरूप की स्पष्ट झलक है:—

"वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यौ आनि रसना सुघर में।

हिन्दुवन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।"

इसी प्रकार--

"वेद पुरानन की चरचा अरचा दुज देवन की फिरि फैली।"

मुगल शासकों ने हिन्दू जाति तथा संस्कृति के जिन-जिन मर्मस्थलों पर आघात किया था, उसके विरुद्ध तीव्र आक्रोश अपने अन्तर में समाहित करके भूषण ने अपनी काव्य-प्रतिभा के माध्यम से हिन्दू-संस्कृति के उत्थान में अपूर्व योग दिया।

महाकवि बिहारी के भक्तिपरक पदों में आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण हुआ है। बिहारी शृंगारी कवि थे और प्रायः शृंगार-वर्णन तक ही अपने को सीमित रखा तथापि उनके दोहों में यत्र-तत्र नगर-संस्कृति की झाँकी मिल जाती है। उन्होंने समाज में व्याप्त बाह्याचारों का खण्डन कबीर के स्वर में स्वर मिलाकर किया है:--

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे, नाचै वृथा, साँचे राँचे राम॥

बिहारी के काव्य का आधार तत्कालीन परिस्थितियाँ ही थीं, अतः उनके कतिपय दोहों में तद्युगीन संस्कृति का स्वरूप भी स्पष्ट हुआ है। विभिन्न प्रकार की वेशभूषा, खान-पान, शृंगार-प्रसाधन, मनोरंजन की अनेक रीतियाँ--जैसे कबूतर उड़ाना, पशु-पक्षियों की लड़ाई, घुड़दौड़, आँखमिचौनी रास, संगीत आदि का वर्णन करके बिहारी ने सांस्कृतिक तत्वों को स्पर्श करने का प्रयास किया है।

महाकवि पद्माकर का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है, जिन्होंने कृष्णकाव्य के आधार पर यत्र-तत्र सांस्कृतिक तत्वों को उभारने का प्रयत्न किया है। होली के वर्णन में तो वे सूरदास जी से प्रायः समझौता करके चलते दिखाई पड़ते हैं—

फाग की भीर अभीरनि तें गहि गोबिन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छोरि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मींजि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कह्यौ मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी!

उपर्युक्त उद्धरण में पद्माकर जी ने राधा और कृष्ण के व्याज से समग्र जन-जीवन में दिखाई पड़नेवाले उल्लास को साकार स्वरूप प्रदान कर दिया है; साथ ही होली के सजीव वर्णन द्वारा संस्कृति के स्वरूप को भी मुखर किया है।

रीतिकाल के अन्य शृंगारी कवि मतिराम, देव, घनानन्द, आलम, बोधा आदि ने या तो राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का शृंगारिक वर्णन किया है अथवा आभिजात्य समृद्धि और विलासपूर्ण वातावरण का चित्रण किया है। "गुलगुली गिलमैं गलीचैं गुनीजन" तक ही सीमित रहने के कारण इनके काव्य में संस्कृति गंभीर निद्रा में सोई हुई जान पड़ती है। हाँ, यत्र-तत्र जहाँ इन कवियों ने होली, रास, पर्वोत्सव, क्रीड़ा आदि प्रसंगों का वर्णन किया है, वहाँ जैसे तन्द्रिल संस्कृति अँगड़ाई लेकर उठने के प्रयत्न में सचेष्ट जान पड़ती है परन्तु सेज, सुराही, सुरा और प्याला के मादक वातावरण में उसे फिर सो जाना पड़ा है।

आधुनिक-काल

आधुनिक काल का हिन्दी काव्य साहित्यिक दृष्टि से व्यापक समृद्धि लेकर आया। अँग्रेज देश पर अपना पूरा अधिकार जमा चुके थे। पराधीनता की भावना भारतीयों के अन्तर्मन को व्यथित कर रही थी। इस युग में साहित्यकारों की दृष्टि जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की ओर भी मुड़ी। स्वाधीनता के लिए संघर्ष का युग होने के कारण कवियों तथा लेखकों ने देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर संस्कृति के अभ्युत्थान को विशेष महत्व दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी

की शासन-व्यवस्था में हिन्दू-संस्कृति को विकसित होने का कम अवसर प्राप्त हो सका। अतः राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संघर्षपूर्ण विद्रोह का वातावरण व्याप्त रहा। यह विद्रोह जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में हुआ। काव्य में ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ग्रहण किया, जिसके कारण इस विद्रोह को अभिव्यक्ति देने के लिये साहित्यकारों को सहज उन्मुक्त क्षेत्र मिल गया। अपने पिता से सांस्कृतिक भावना उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण कर भारतेन्दु जी ने देश की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का व्यापक चित्रण अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक में किया और उन्होंने देश की दीन-हीन अवस्था पर अश्रुपात करते हुए आह्वान किया—

"आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।"

देश की तत्कालीन दशा में परिवर्तन लाने के लिए भारतेन्दु का उक्त नाटक तथा अन्य रचनाएँ भी अत्यन्त सहायक प्रमाणित हुईं। विद्रोह-भावना की वह चिनगारी निरन्तर वर्द्धमान होती रही और राजनीतिक आन्दोलनों में उसने अपनी व्यापक प्रतिक्रिया प्रदर्शित की।

द्विवेदी युग का साहित्य भारत की संस्कृति के सन्दर्भ में जन-जीवन की ओर झाँकने को उद्यत् हुआ। उसने जब पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सन्दर्भ में भारत को देखा तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। साहित्यकारों को अपनी हीन स्थिति का परिज्ञान हुआ और उनमें देश के पुनरुत्थान की भावना बलवती हो उठी। जो साहित्यकार भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति आकर्षित होकर साहित्य-सृजन में लगे थे, उन्होंने इस युग में अतीत को वर्तमान में लाने का सफल प्रयास किया, जिससे हिन्दी साहित्य में संस्कृति का स्वरूप साकार होकर उतर आया।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य में संस्कृति का यह आग्रह स्पष्टतः देखा जा सकता है। उनकी 'भारत-भारती' तो भारतेन्दु के 'भारत-

दुर्दशा' नाटक की नवोन्मेषाकांक्षा लेकर आई। 'साकेत' के माध्यम से भी उन्होंने इस पुनरुत्थान की सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध करने में महान् योग दिया। 'भारत-भारती' का 'अतीत खण्ड' भारत की प्राचीन संस्कृति का उद्घोष है और उसी संस्कृति के पुनरुत्थान के प्रति गुप्त जी ने भारत वासियों को प्रेरित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने वर्त्तमान में प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करने के लिए देशवासियों का आह्वान किया तथा वेद, सभ्यता, विज्ञान, कला-कौशल, शक्ति-शील-सौन्दर्य और शौर्य, शासन, सामाजिक जीवन, सदाचार, धर्म, विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष, मुगल शासन और अन्त में बृटिश शासन तक का पूरा मानचित्र 'भारत भारती' के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया। उसका वर्तमान खण्ड तो जैसे बृटिश शासन काल के सामाजिक जीवन का भाष्य ही बन गया है। कवि क्रान्तदर्शी और भविष्यद्रष्टा भी है, इस कर्त्तव्य को भी उन्होंने भली प्रकार निबाहा और भविष्यत् खण्ड में देश के पुनरुत्थान की दिशाएँ संकेतित कीं। इस देश के पुनरुद्धार की सजग दिशाएँ बताते हुए इस खण्ड में उन्होंने कहा—

"अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं?
क्या हम सभी मानव नहीं किंवा हमारे कर नहीं?
रो भी उठें हम तो बनें क्या अन्य रत्नाकर नहीं?"[1]

गुप्त जी ने साकेत के सम्बन्ध में तो हम केवल दिनकर जी के शब्दों में ही कह सकते हैं कि "पुनरुत्थान के क्रम में राम-कथा विषयक हमारी अनुभूति में जो परिवर्तन आया, वह सारा का सारा मैथिलीशरण जी के 'साकेत' में व्यक्त हुआ है।[2]"

---

१. भारत भारती—श्री मैथिलीशरण गुप्त—पृष्ठ सं० १५५

२. पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण—श्री रामधारीसिंह दिनकर—पृष्ठ १२

श्री जयशंकर 'प्रसाद' तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का एकमात्र समाधान 'प्रेम' को लेकर 'कामायनी' में आए। इच्छा, कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी का पुण्य कामायनी में साकार होकर उतर आया, जिसके फलस्वरूप वह युग की समर्थ और प्रतिनिधि रचना के रूप में समादृत हुई। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी के शब्दों में "नवीन जीवन परिस्थितियों के भीतर नए मानस व्यवहार के चित्र के साथ पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक और बुद्धिवादी संस्कृतियों के समन्वय की जो उदात्त कल्पना, महान् संकल्प और विस्तृत प्रयास 'कामायनी' में दिखाई देता है, वह उसे इस युग का प्रतिनिधि काव्य बना देने के लिए पर्याप्त है।... 'कामायनी' नई संस्कृति के नव-निर्माण और उसकी नवचेतना का परिचायक महाकाव्य है।"[१] यों तो कामायनी में अभिव्यक्त कवि का समग्र चिन्तन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता-सा दिखाई पड़ता है, किन्तु उसके इड़ा सर्ग में भारतीय संस्कृति का स्वरूप अधिक स्पष्टता के साथ मुखर हुआ है।

प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों के पात्र भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। इन नाटकों के कथानक भारत के प्राचीन इतिहास के हिन्दू काल से चुने गए हैं, जिनसे हमें प्रसाद जी के प्राचीन साहित्य के अध्ययन, प्राचीन संस्कृति से प्रेम और प्राचीन इतिहास के तथ्यों के अन्वेषण की प्रवृत्ति का स्पष्ट पता लगता है।

महाप्राण निराला ने अपने काव्य में युग की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर ऊँचा उठाया। संस्कृति उनकी अनेक कविताओं में मूर्तिमान हो उठी है। 'तुलसीदास' अपनी संपूर्णता में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का दिग्दर्शन कराता हुआ सा दिखाई पड़ता है। उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में ही भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप तथा उसकी यवनकाल और बृटिश शासन-काल की समन्वित स्थिति की झाँकी मिल जाती है—

---

१. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—पृष्ठ ३८

"भारत के नभ का प्रभा-पूर्य
शीतलच्छाय-सांस्कृतिक-सूर्य
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिग्मण्डल--
उर-आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल निश्चलत्प्राण पर शतदल।"[१]

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' भारतीय संस्कृति के उत्थान तथा विकास की दृष्टि से अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। सांस्कृतिक एकता तथा मानव-कल्याण का पथ प्रशस्त करने का श्रेय प्रसाद, गुप्त और निराला के उपरान्त दिनकर जी के ही भाग में आता है। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में उनकी सांस्कृतिक चेतना तथा मानवतावादी दृष्टिकोण मुखरित है। उनका 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ तो हमारे समक्ष प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति का पुनराख्यान करता हुआ प्रस्तुत होता है। दिनकर जी ने अपने 'कुरुक्षेत्र' में आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति को मानवता की संहारकारिणी शक्ति निरूपित किया है और प्रकृति को मानव-कल्याण की दिशा में प्रेरित करने की ओर विशेष बल दिया है। वे मानव-संस्कृति के उत्थान के प्रति अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण रखते हैं। जैसे--

"यह होगा महा रण राग के साथ
युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा।
नर-संस्कृति की रण-छिन्न लता पर
शान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा।
कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की
मानव ऊपर और चलेगा।

---

१. तुलसीदास--श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'--पृष्ठ १

मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नव-धर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।"[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य में संस्कृति का स्वरूप निरन्तर निखर कर अभिव्यक्त होता रहा है। उसके इस निखार को रीतिकालीन कवियों ने चाहे धूमिल करने का प्रयत्न किया हो, परन्तु भक्तिकाल में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के जो बीज भक्त कवियों ने बोए थे, वे आधुनिक साहित्य में विकासोन्मुख अवस्था में दिखाई देते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि पर सृजित प्रसाद, पन्त और निराला के साहित्य में संस्कृति का जो स्वरूप निखरा, वह महादेवी वर्मा और परवर्ती अनेक कवियों तथा लेखकों की आत्यन्तिक वैयक्तिकता के ग्रहण की प्रवृत्ति के कारण अवश्य कुछ परिवर्तित हो गया, जिसके कारण आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी को कहना पड़ा कि "यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवन-स्रोत से अपना रस-ग्रहण छोड़ देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक संवेदना की भूमि पर की गई रचना का साहित्यिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आँका जाय?"[2]

---

१. कुरुक्षेत्र—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'—पृष्ठ १०६–१०७
२. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—पृष्ठ ३३

तृतीय अध्याय

लोक संस्कृति और शिष्ट संस्कृति

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति

हिन्दी में 'लोक' शब्द 'फोक' की व्यापक अर्थाभिव्यक्ति करता है। 'फोक' शब्द की उत्पत्ति ऐंग्लो सैक्सन शब्द (Folc) से हुई है, जो जर्मन में "Volk" के रूप में तथा अंग्रेजी में "Folk" के रूप में प्रचलित है। **'लोक'** शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस 'धातु' का अर्थ 'देखना' होता है जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक-वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ 'देखने वाला।' इस प्रकार वह समस्त जन-समुदाय जो इस 'देखना' कार्य (क्रिया) को करता है, 'लोक' कहलायेगा।[1] **ऋग्वेद में 'लोक'** शब्द **'स्थान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ** है।

'लोक' की परिभाषा

'जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त है।[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद' या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके

---

१. देखिए हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—षोडश भाग—प्रस्तावना—पृष्ठ १

२.—वही—पृष्ठ ४

व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।[१] श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी के शब्दों में "लोक' का तात्पर्य सर्वसाधारण जनता से है तथा दीन-हीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित लोग और जंगली जातियाँ, कोल, भील, संथाल, गोंड़, नाग, शक, हूण, किरात पुक्कस, यवन, खस इत्यादि सभी लोक-समुदाय मिलकर 'लोक' संज्ञा को प्राप्त होता है।"[२]

डॉ० श्याम परमार ने 'लोक' की व्याख्या इस प्रकार दी है—'लोक' साधारण जन-समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद-रहित, व्यापक एवं प्राचीन परंपराओं को श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणम विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है।"[३]

'लोक-संस्कृति' शब्द की व्याख्या

जिस प्रकार अंग्रेजी के 'फोक' के आधार पर हिन्दी में 'लोक' शब्द बना, उसी प्रकार 'फोकलोर' शब्द के लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हुए, जिनमें 'लोक-संस्कृति' भी एक है। 'फोकलोर' का अर्थ है असंस्कृत लोगों का ज्ञान। जिस प्रकार 'फोक' शब्द के लिए हिन्दी में अनेक शब्द बनाए

---

१. 'जनपद'—वर्ष १, अंक १, पृष्ठ ६५

२. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन-पत्रिका)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग—पृष्ठ ११२

३. भारतीय लोक साहित्य—डॉ० श्याम परमार—पृष्ठ १०

गए हैं—लोक, जन, ग्राम्य आदि, उसी प्रकार 'फोकलोर' के लिए भी हिन्दी में कई शब्द प्रचलित हैं। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इसका समानार्थी शब्द 'लोकवार्ता' घोषित किया था। बाद में डॉ० बासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० श्याम परमार आदि ने इसी शब्द को ग्रहण करने पर बल दिया। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके स्थान पर 'लोक-संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, 'लोकयान' के लिए और डॉ० भोलानाथ तिवारी 'लोकायन' शब्द के लिए आग्रह करते हैं।[1] कुछ अन्य विद्वानों ने 'लोकविद्या' शब्द प्रचलित करने का भी प्रयत्न किया था, परन्तु डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'लोक संस्कृति' शब्द को ही 'फौकलोर' के समानार्थी शब्द के रूप में ग्रहण किया है,[2] जो अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित होता जा रहा है।

'लोक-संस्कृति' के क्षेत्र के सम्बन्ध में भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं। एक वर्ग ऐसा है जो लोक की कला, उसका विश्वास, परम्परा तथा उससे सम्बन्धित व्रतादि विधानों को 'फोकलोर' के अन्तर्गत मानता है। दूसरा वर्ग 'फोकलोर' के अन्तर्गत उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त हल, मकान, वंशी बनाने जैसी उपयोगी कलाओं को भी सम्मिलित करता है। शार्लट सोफिया बर्न तो लोक की मानसिक संपन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ आती हैं, उन सबको इसके क्षेत्र में समाहित मानती हैं। उनके अनुसार "यह किसान के हल की आकृति नहीं जो फोकलोरिस्ट को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे अनुष्ठान जो किसान हल को भूमि जोतने के समय करता है; जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता

---

१. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका)—हि० सा०, प्रयाग —पृ० ४३६—४३७

२. हिन्दी साहित्य का वृहद् तिहास—षोडश भाग—प्रस्तावना—पृष्ठ ४

है; पुल अथवा घर का निर्माण नहीं, वरन् वह बलिदान जो उसके बनाते समय किया जाता है।"[1]

लोक संस्कृति और शिष्ट संस्कृति

वैदिक काल से ही इस देश की संस्कृति की दो पृथक् धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं—(१) शिष्ट संस्कृति और (२) लोक संस्कृति। "शिष्ट संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस अभिजात वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्धिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ था, जो अपनी प्रतिभा के कारण समाज का अग्रणी और पथप्रदर्शक था तथा जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद या शास्त्र था। लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जन-साधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्स भूमि जनता थी और जो बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर उपस्थित थी।"[2]

वैदिक काल की शिष्ट संस्कृति और लोक संस्कृति का स्वरूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद में अभिव्यक्त विचारों का धरातल उच्चस्तरीय होने के कारण शिष्ट जन-जीवन से सम्बन्धित है और शिष्ट संस्कृति का प्रतिनिधि है, जब कि अथर्ववेद में अभिव्यक्त विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन से सम्बद्ध है और लोक-संस्कृति का प्रतिनिधि है। ऋग्वेद में जिन यज्ञ-यागादि का विधान हुआ है, वह अभिजातवर्गीय जन-जीवन का ग्राह्य स्वरूप है तथा अथर्ववेद में प्रतिपादित मन्त्र, तन्त्र, टोना-टोटका, जादू, अन्धविश्वास आदि साधारण जनता की वस्तुएँ हैं। अतएव ऋग्वेद यदि अभिजात वर्ग की संस्कृति (शिष्ट संस्कृति) का निदर्शक है तो अथर्ववेद लोक-संस्कृति का परिचायक।

---

१. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका)—हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग—पृ० ४३५ पर उद्धृत।

२. हिन्दी साहित्य का वृहद् तिहास—षोडशभाग—प्रस्तावना—पृष्ठ ४

प्रो० बलदेव उपाध्याय के अनुसार "लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है।"[१]

लोक संस्कृति के संघटक तत्व

सामान्य लोकजीवन में ग्रहीत जीवन-विधि को संक्षिप्ततः 'लोकसंस्कृति' की संज्ञा दी जा सकती है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार "जिन उपनिषदों में आत्मा-परमात्मा, जीव, जगत, ब्रह्म आदि का वर्णन है, वे अभिजात संस्कृति के ग्रन्थ हैं, परन्तु जिनमें लोकजीवन का विवरण है, लोक-विश्वास तथा लोक-परंपराओं का उल्लेख है, उनका सम्बन्ध लोक-संस्कृति से है। गृह्य सूत्रों को यदि लोक-संस्कृति का विश्वकोश कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।"[२]

लोक-संस्कृति को तीन मुख्य तत्वों में विभाजित किया जा सकता है—

कलाएं—जिनके अन्तर्गत साहित्य, लोकगीत, लोकगाथा (बैलेड्स), लोककथा, लोक-नाट्य, लोकोक्ति, मुहावरे, सूक्ति, पहेली, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि आ सकते हैं।

विश्वास—जिसके अन्तर्गत विभिन्न जीवों, धर्मगाथाओं के महापुरुषों, भूत-प्रेत, चुड़ैल, परी आदि से संबंधित अन्धविश्वास आते हैं।

अनुष्ठान—जिसके अन्तर्गत वे समस्त क्रिया-व्यापार आते हैं, जिन्हें उक्त अन्ध-विश्वासों के कारण अनिष्ट को दबाने तथा इष्ट को प्रसन्न करने की भावना से संपन्न किया जाता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास- —षोडश भाग——प्रस्तावना——पृष्ठ ४

२. ——वही ——पृष्ठ ४

श्रीमती शार्लट सोफिया बर्न के अनुसार "यह (लोकवार्ता) एक जातिबोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत के सम्बन्ध में मानव-स्वभाव तथा मनुष्य-कृत पदार्थों के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। . . . .विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं, तथा धर्मगाथाएँ, अवदान (लीजैण्ड), लोक-कहानियाँ, साके (बैलेड्स) गीत, किंवदंतियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक संपन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है, वह सभी इसके क्षेत्र में है।"[1]

सामान्य विवेचन

लोक-जीवन सतत गतिशील रहता है। उसमें नूतनता के परिवेश में पुरातन का समाहार करके चलते रहने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लोक-जीवन और लोक-संस्कृति का स्वरूप सर्वकालीन है। वह सभी युगों में अपने किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। वैदिक युग की संस्कृति आज की भारतीय संस्कृति में अपने तत्वों को अन्तर्भूत करके जन-जीवन में घुल-मिल गई है। इसी प्रकार लोक की प्रवृत्ति भी सार्वदेशिकता की है। वह किसी देश-विशेष की सीमा में बँधकर चलने को बाध्य नहीं है। भारतीय संस्कृति के विषय में तो यह और भी सत्य है क्योंकि इसने न केवल हमारे

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ४ पर उद्धृत

देश के जन-जीवन में अपना अक्षुण्ण अस्तित्व बनाया है, अपितु विश्व की अनेक संस्कृतियों को अपना अवलम्ब दिया है। यह अवलम्ब इसे विश्व के अन्य देशों, जो इसके संपर्क में आए, से मिला भी है। भारतीय संस्कृति में पौराणिक कथाओं, तीर्थाटन, अनेक संस्कार, व्रत, उत्सव, पर्व, त्यौहार, रीति-रिवाज तथा लोक-विश्वासों को जो महत्व प्राप्त हुआ, उसका वही क्रम परंपरागत रूप से अब तक चला आ रहा है और उसी से लोक-संस्कृति का संपादन हुआ है। मंगलाकांक्षा से आप्लावित प्रतीकात्मक संस्कार-गीत तो संस्कृति की पवित्रतम धरोहर के रूप में माने जाते हैं। इनमें मनुष्य की दृष्टि इतनी विशद और व्यापक है कि राम-सीता, शिव-पार्वती, कृष्ण और राधा सभी का दैवी अस्तित्व पिघलकर मानवीय बन जाता है। इस परंपरागत अनुक्रम ने भारतीय जीवन तथा भारतीय संस्कृति को जाग्रत और प्राणवान् बनाए रखने में बड़ा योग दिया है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण लोक-संस्कृति ने विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं में परस्पर समन्वय स्थापित करने का उद्योग किया है। अपनी इसी समन्वय-भावना के कारण लोक-संस्कृति ने समग्र विश्व को आकर्षित और प्रभावित किया है। परन्तु हर युग की संस्कृति के व्यापक परिवेश में ऐसा बहुत बड़ा आभिजात्य वर्ग रहता है, जो नागरिकता की चकाचौंध में संस्कृति के नाम पर अनेक प्रकार की विसंगतियों, विकृतियों और अतिरंजनाओं को अपने युग की विशिष्ट अभिरुचि के रूप में ग्रहण कर लेता है, परन्तु यह अर्द्ध-संस्कृत तथा कृत्रिम सनकों से संवलित वर्ग युग की सर्जनशीलता के लिये अपरिहार्य सा हो जाता है। यदि सारा युग-जीवन उस युग-विशेष के सांस्कृतिक संचरण का आधार है तो यह वर्ग उसके उचित परिवेश का काम करता है। यह जाने-अनजाने स्थायी मान्यताओं की स्थापना, विकास और संवर्द्धन में सक्रिय रूप से सहायक सिद्ध होता है। यह बात दूसरी है कि उसकी वृत्ति संवेदनात्मक सूक्ष्म पक्ष की अपेक्षा उसके बाह्य विधि-विधानों में अधिक रुचि लेती है। संस्कृति को एक सीमा तक गतिशील बनाकर यही वर्ग उसे परंपराओं तथा रूढ़ियों में बाँधने का भी प्रयत्न करता

है और इस प्रकार एक शिष्ट संस्कृति की भूमिका निर्मित होती है।

संस्कृति का सम्बन्ध हमारे मन, हृदय और मस्तिष्क के संस्कारों से रहता है। इस दृष्टि से संस्कृति स्थायी है। समयानुसार उसमें विकास और ह्रास होता रहता है। 'संस्कृति' शब्द विशिष्ट जन-समुदाय के विचारों का द्योतक है और 'लोक-संस्कृति' साधारण जन-समुदाय के विचारों की परिचायिका है। इसीलिये संस्कृति के दो सामान्य रूप विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुए हैं—शिष्ट संस्कृति और लोक-संस्कृति। शिष्ट संस्कृति को नगर-संस्कृति और लोक-संस्कृति को ग्राम्य-संस्कृति की भी संज्ञा दी गई है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने लोक-संस्कृति के स्वरूप का विवेचन करते हुए अत्यन्त मोहक शब्दावली में लिखा है कि "शिक्षा मूढ़ वर्ग जब हमारी संस्कृति की उस धारा को छोड़कर पथभ्रष्ट हो गया है, जब वह धारा से कटकर दूर चला गया है और जीवन की गुलकारियाँ, उसके आत्म-ओज पर छा गई हैं, तब भी अशिक्षित, सामान्य जनता ने अपने युग-युग के संचित आदर्शों को अपने हृदय के रक्त से सींचकर जीवित रखा है। मस्तिष्क के अहंकार में जब संपन्न एवं सभ्य वर्गों के पाँव डगमग हो गए हैं, तब शताब्दियों की अमृत ज्योति को देश के अगणित जनपदों में फैले अदृश्य हृदयों की स्नेह-धारा प्राप्त हुई है। जाति के जीवन की बाती इस अटपटे बैन में, उनकी अकृत्रिम वाणी में, उनकी व्यथा एवं अनुभूति में, उनके रोने और गाने में, उनके जीवन-क्रम में सिमिट-सिमिट कर फिर जी उठी है। जब साहित्य राज-प्रासादों के विलास-कक्षों में बन्द हो गया, तब प्रणय का पावनकारी मुक्तिनाद ग्राम वधूटियों एवं ग्राम तरुणों के कण्ठों से अमराइयों के बीच फूटा, तब साहित्य की सरस्वती सहस्रधा होकर लोक-कण्ठ पर तरंगित हुई, तब संस्कृति अतर्क्य विश्वासों एवं प्रेरणाओं का आधार लेकर मीरा की भक्ति के चरणों में घुँघरू बन गई, तब वह लक्ष-लक्ष ग्राम-निवासों की दीवारों पर शिल्प बनकर उभरी, तब उसने सहस्रशः शिलाओं को जीवित अहिल्या का रूप दिया, संगीत और वाद्य उसकी झंकार से मुखरित हो गए। जीवन अगणित तरंगों

में बहा, अगणित बाद्यों में बजा और अगणित गीतों में फूट उठा। यही सब समष्टिगत आत्म-प्रकाश लोक-संस्कृति है। इसमें हृदय का उद्रेक अतः स्वाभाविकता अधिक है। इसमें मानव-हृदय का अमृत अकृत्रिम रूप में विद्यमान है।"[१]

डॉ०श्याम परमार का कथन है कि "मानव सभ्यता के कृषि अवस्था में आते ही ग्रामों और नगरों की सभ्यता में भेद उपस्थित हुए, यद्यपि दोनों का सम्बन्ध बराबर बना रहा और दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करती रहीं। नगर में ग्राम की अपेक्षा किंचित् परिष्कृत रुचि पनपने लगी। परिष्कार की यह स्थिति जब काफी ऊँची उठ गई तो ग्राम और नगर संस्कृति का भेद स्पष्ट दिखने लगा। इससे असंस्कृत (सर्वसाधारण) और संस्कृत (परिष्कृत जन) के दो वर्ग प्रकट हुए।"[२]

भारतीय जन-जीवन आज जिन अनेक धाराओं के मध्य प्रवाहित होता दिखाई पड़ता है, उनका मूल उद्गम लोक-संस्कृति से ही हुआ है। लोक-संस्कृति को ही भारत की संस्कृति का संस्कार करने का श्रेय प्राप्त है। आज संस्कृति का जो परिष्कृत रूप शिष्ट जन-समुदाय में दृश्यमान् है, वह उसका प्रकृत रूप नहीं है। उसका प्रकृत रूप तो लोक-संस्कृति में ही अपनी सार्थकता खोजता है। इसी कारण लोक-संस्कृति अपने प्रकृत रूप में आज भी गाँवों, जंगलों और पर्वतों के प्राकृतिक प्रांगण में अपना अक्षुण्ण रूप सँवारती दिखाई पड़ती है। वास्तव में लोक-संस्कृति का जीवन और उसकी सप्राणता ग्रामवासियों और वनवासियों के रीति-रिवाजों, लोक-गीत, संस्कार और आचार-व्यवहारों में ही दिखाई पड़ती है। गाँवों में रहने वाले कृषक, श्रमिक तथा आदिवासी इस संस्कृति के सजग प्रहरी बने हुए हैं। कृत्रिमता के वातावरण से दूर लोक-संस्कृति अपने जिस आकर्षक स्वरूप को लेकर जी

---

१. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग—पृष्ठ ८-९

२. भारतीय लोक साहित्य—डॉ० श्याम परमार—पृष्ठ ७३

रही है, जिस हार्दिक सरसता का संचार उसके द्वारा जन-जीवन में हो रहा है और उसके द्वारा जिस मानवीय धरातल का निरन्तर निर्माण हो रहा है, उस गहन सौन्दर्यानुभूति का संस्पर्श भी शिष्ट-संस्कृति नहीं पा सकती। आज औद्योगिक और नागरिक सभ्यता के विकास ने अपने कृत्रिम परिवेश को लेकर भी हमें आकर्षित कर लिया है और उसके प्रभाव में हम ग्राम, वन और पर्वतों की पावन गोद में किलकारियाँ भरती हुई लोक-संस्कृति को अबोध बालिका समझकर तिरस्कृत करते जा रहे हैं, परन्तु इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि जिन कृषकों, श्रमिकों और वनवासियों को हम अशिक्षित, असभ्य, असंस्कृत और जंगली कहकर उनके प्रति अपनी घृणा और उपेक्षा अभिव्यंजित करते हैं, वे ही इस पृथ्वी के तथा लोक-संस्कृति के भी परम प्रिय और लाड़ले सपूत हैं और जिनके बलिष्ठ व्यक्तित्व के ऊपर ही उसकी सुरक्षा का पुनीत कर्तव्य-भार भी है और यही इस बात का भी कारण है कि लोक-संस्कृति में जो निष्कलुषता तथा निष्कलंकता है, वह नगर-संस्कृति में नहीं है। "यह सच है कि लोकसंस्कृति के सुन्दर रूप को जड़ विज्ञान की नागरिकता तथा कृत्रिमता ने नीरस बना दिया है, उसका आध्यात्मिक जीवन-स्रोत सूखता सा जा रहा है, उसकी विकृति में कुंभीपाक और रौरव के कीड़ों का प्रवेश हो गया है. अनात्मवाद और आत्मा के प्रति अविश्वास ने लोक-जीवन, संस्कृति और समाज की साहित्यिकता अथवा जीवत्व शक्ति को क्षयमान बना दिया है। भारतीय सादगी, सौजन्य और सभ्यता में गन्दगी की वैतरणी, अशिष्टता की कर्मनासा और विकृति की नारकीयता लहरा उठी है। मानव ने, पाँच तत्व के पशु ने अपने मूल स्रोत, चिन्मयता अथवा आत्मा के हिमालय का परित्याग कर दानवता का वरण कर लिया है, लोक-संस्कृति विकृति हो चली है।"[१] यही कारण है कि आभिजात्य वर्ग में हमें संस्कृति का स्वरूप अपनी पूर्णता

१. लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग —पृष्ठ ८५

तथा सत्यता में नहीं मिल पाता। वहाँ तो वैभव और समृद्धि का व्यामोह उसकी आत्मा को ग्रस लेता है। उसके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए तो हमें सामान्य जन-जीवन में प्रवेश करना होगा। वहीं अपनी दृष्टि गड़ानी होगी। प्रदेश विशेष के अन्तर्गत नगर न सही, कस्बा न सही, गाँव न सही, केवल एक सामान्य भारतीय घर का सम्यक् अध्ययन करके हम 'लोक-संस्कृति' के व्यापक और सुष्ठु स्वरूप का संधान पा सकते हैं। एक भारतीय घर अपने पूरे समाज की संस्कृति का प्रतिनिधि बनकर खड़ा हो सकता है। अन्त में डॉ० सत्येन्द्र के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "भारतीय घर की ही भाँति समस्त समाज का रूप बनता है। भारतीय घर के इन पर्तों पर दृष्टि डालें तो पहला स्तर टोने टोटकों का मिलेगा। किसी भी प्रकार का अनुष्ठान हो, कोई संस्कार हो, कोई उत्सव हो, एक न एक टोना टोटका उसके साथ लगा हुआ होगा। दूसरे स्तर पर दई-देवताओं की भावना है। इन दई-देवताओं में पितरों की मृतात्माएँ, मसान, विविध देवियाँ तथा अनेकों अन्य देवता सम्मिलित हैं। इनमें से एक पर्त पर दई देवताओं को निवारण करने के टोटके रहते हैं। दूसरे पर्त पर उनकी पूजा रहती है। इनके ऊपर सामान्य धार्मिकता का वातावरण रहता है। तब शास्त्रीय, धार्मिक आनुष्ठानिकता का सत्कार होता है। उसके ऊपर एक ही घर में वह जागरूक धार्मिक मतवाद मिलेगा, जो दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण करता है। इसी से संघर्ष करता हुआ सुधार वृत्ति का संस्कार भी पनपा दिखाई पड़ेगा जो प्राचीन मान्यताओं और विश्वासों के मूल तात्पर्य और रूप की तो रक्षा करेगा, पर उसे पोशाक समय की प्रवृत्ति के अनुकूल पहना देना होगा।"[१]

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ९—१०

चतुर्थ अध्याय

ब्रज-संस्कृति में सामान्य भारतीय संस्कृति तथा अन्य प्रादेशिक विशेषताएँ

एक ओर से हिमालय पर्वत-मालाओं से तथा तीन ओर से समुद्र से घिरी हुई भारत-भूमि पर निवास करने वाली जनता ने सहस्रों वर्षों में आचार-विचार की जो विशिष्ट प्रणाली विकसित की है, वही भारतीय संस्कृति है। यह संस्कृति भारत की मिट्टी से बनी है। धर्म और उपासना पद्धतियों के वैविध्य के आधार पर इस देश में किसी भिन्न संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। भारत की संस्कृति एक है, जो मूलतः हिन्दू-संस्कृति है। एक जीवित संस्कृति के नाते अन्य जीवन-प्रवाहों के साथ इसका आदान-प्रदान चलता रहा है, किन्तु इसकी मूल धारा अक्षुण्ण रही है और वैदिक काल से लेकर आज तक यह अपने अविच्छिन्न स्वरूप को स्थिर रखती आई है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

समन्वय की भावना भारतीय संस्कृति की विशेषता है और इसी भावना के कारण यह अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आने पर उससे प्रभावित भी होती रही और उन्हें प्रभावित भी किया है। आर्य तथा अनार्य जातियों के सम्मिश्रण से हिन्दू-संस्कृति का विकास हुआ है।

पुरुषार्थ चतुष्टय भारतीय संस्कृति का आधार-स्तम्भ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-ये चार तत्व पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं। धर्म तत्व अन्य तीन तत्वों को भी प्रभावित करता है। अर्थ और काम का

सम्बन्ध भौतिकता से होने पर भी उनका धर्मानुकूल सेवन मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक होता है।

वर्णाश्रम धर्म भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। इसी वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य लौकिक और पारलौकिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करता है। यह व्यवस्था वैदिक काल से चली आ रही है। ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मा (विराट् पुरुष) के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जाँघों से वैश्यों की तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणों का कार्य पठन-पाठन, सदाचरण एवं तप करना था। सत्व गुण की प्रधानता के कारण वे धर्म की पतवार थे और उनके भरण-पोषण का भार समाज पर था। क्षत्रियों में रजोगुण का प्राधान्य माना जाता था। समाज की रक्षा का भार उनके ऊपर था। वैश्य कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यवसाय आदि साधनों द्वारा समाज के उदर-पोषण का कार्य करते थे। ये तीन वर्ण द्विज कहलाते थे। शूद्र द्विजेतर वर्ण के माने जाते थे और समाज की सेवा करना उनका काम था। 'सेवा धर्म परम गहनो' का आदर्श लेकर चलने के कारण इनको समाज में सम्मान प्राप्त था। इस वर्ण-व्यवस्था का चरम लक्ष्य प्रत्येक वर्ण को अपने अपने धर्म के अनुसार कर्त्तव्यरत रहते हुए ब्रह्म-चिन्तन का अवसर प्रदान करना था। वर्णानुसार कार्य-विभाजन की इस पद्धति ने सबको स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर प्रदान कर मानव की स्वातन्त्र्य भावना की रक्षा की तथा समग्र मानव-समाज एकता से सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध हो सका। परस्पर समानता, सहयोग, सहिष्णुता, परदुःखकातरता तथा मानव-कल्याण की भावना बढ़ी और इस प्रकार ये गुण भारतीय संस्कृति के मुख्य गुण हो गए।

वर्णानुसार कार्य-विभाजन के साथ साथ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की सीमा १०० वर्ष की मानकर आश्रम-व्यवस्था हुई, जिसके अनुसार प्रारम्भ के पच्चीस वर्ष मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन में लगाता था। फिर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विवाह करके पच्चीस वर्ष तक 'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव', 'आचार्य देवो

भव' और 'अतिथि देवो भव' के आदर्शों का अनुसरण करता हुआ मातृ-ऋण, पितृ-ऋण और गुरु-ऋण से मुक्त होने के लिए उपयुक्त आचरण करता था। ५० वर्ष की अवस्था में वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था और संसार से विरक्त होकर वन में जाकर पच्चीस वर्ष तक तप और त्यागपूर्ण जीवन बिताता था। ७५ वर्ष की आयु में वह संन्यासाश्रम में प्रवेश करता था और उपनिषदादि के अध्ययन से अध्यात्म विद्या के अर्जन में तत्पर रहकर मोक्ष प्राप्ति की ओर सचेष्ट रहता था। इस आश्रम-व्यवस्था में 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' दोनों मार्गों के संपादन की व्यवस्था हुई।

प्राचीन काल में व्यक्ति को समाज-निष्ठ बनाने और उसमें सब प्रकार के सद्‌गुणों का विकास कर उसके व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष के लिए कार्य क्षेत्र तथा संस्कारभूमि के रूप में जिन अनेक संस्थाओं की रचना की गई थी, उनमें कुटुम्ब प्रमुख था। कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार, जो भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है, व्यक्ति का जन्म किसी दुर्घटना का परिणाम नहीं, अपितु कर्म द्वारा अर्जित समझा जाता था। व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता था, उसके साथ सहज रूप में अपने को एकाकार कर लेता था। वह परिवार के सुख-दुःख में सहयोगी होना अपना धर्म समझता था। जितना संभव होता था, उतना अपने परिवार को देता था और अपनी आवश्यकता भर के लिए अपने परिवार से लेता था। यह समाजवाद का आदर्श तथा व्यावहारिक रूप था, जो न तो वाह्य सिद्धान्तों और रूढ़ियों पर आधारित था और न राज्य के हस्तक्षेप और नियन्त्रण से दूषित था। संयुक्त परिवार की प्रणाली व्यक्ति को आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा की आजीवन गारण्टी देती थी। वृद्धों, विधवाओं तथा अपाहिजों के लिए भी उसके अन्तर्गत भरण-पोषण की व्यवस्था थी। अपने संपूर्ण दोषों के बावजूद परंपरागत धन्धों को अपनाने की पद्धति में व्यक्ति की आजीविका का स्थायी प्रबन्ध था।

मानव-जीवन को नियमित और संस्कृत करने की दृष्टि से हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के अनेक संस्कारों

का विधान हुआ है। गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि षोडश संस्कारों द्वारा मनुष्य-जीवन की विभिन्न स्थितियों का संस्कार होता है, जो उसकी मानसिक भावनाओं के परिष्करण में भी सहायक होते हैं। ये संस्कार प्रतीकात्मक होते हैं तथा किसी न किसी महदुद्देश्य से पोषित होते हैं, परन्तु इन संस्कारों का चरम लक्ष्य मानव के मोक्ष की दिशा में रहता है। उपनयन संस्कार का न केवल सांस्कृतिक, अपितु आध्यात्मिक महत्व भी है। यह संस्कार मनुष्य को वेदाध्ययन के लिए अधिकार प्रदान करता है और उसे कर्तव्य-बंधन में बाँधता है। नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म आदि संस्कार परस्पर प्रेम-भावना को विकसित करने के तथा इनके उत्सव उल्लास-संवर्द्धन के विधायक होते हैं। इन संस्कारों से सामाजिकता की भावना बढ़ती है। विवाह संस्कार दो व्यक्तियों को आजीवन पुनीत प्रणय-सूत्र में आबद्ध करने की दृष्टि से किया जाने वाला महान् संस्कार है, जो समाज को संयमित, नियमित तथा सदाचारपूर्ण बनाने का लक्ष्य रखता है।

भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता हिन्दुओं की साधना-शैली में है। मन्त्र, हठ, लय, राजयोगादि इस साधना-शैली की वे विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं, जो मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं।

भारतीय संस्कृति नारी की महत्ता का उद्घोष करती है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का आदर्श स्वीकार कर स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना जाता है। पुरुष और नारी को विवाह के द्वारा प्रणय-सूत्र में बाँधने की जो पवित्र भावना है, वह भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त अन्य संस्कृतियों में नहीं मिलती। यहाँ नारी मात्र पुरुष-भोग्या नहीं है, अपितु वह मानव-जीवन के लिए माता, स्त्री तथा सहचरी के रूप में गुरुतर कर्तव्यों से लदी हुई है। धार्मिक कृत्यों में उसे पुरुष के समान भाग मिलता है और वह सहधर्मिणी तथा गृहलक्ष्मी के रूप में समादृत होती है। नारी का ऐसा सम्मान भारतीय संस्कृति की अनोखी विशेषता है।

भारतीय संस्कृति मानव को त्याग, तपस्या और तपोवन की प्रेरणा देती है जिसके कारण वह जीवन और जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाता है, भौतिक सुख-सुविधा के प्रश्न को गौण मानकर वह समष्टि-गत और आध्यात्मिक भावना से संवलित होता है, उसके आचार-विचारों में पवित्रता की उद्भावना होती है और वह सच्चाई, सरलता, शील और सदाचार द्वारा आत्मोन्नति की दिशा में अग्रसर होता है। भारतीय संस्कृति संग्रह की अपेक्षा अपरिग्रह तथा भोग की अपेक्षा इन्द्रियनिग्रह पर विशेष बल देती है। इसी प्रकार वह रूप की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की ओर और शरीर की अपेक्षा आत्मा की ओर विशेष आकर्षित दिखाई पड़ती है। भारतीय संस्कृति का जन्म तपोवनों में हुआ था, इसलिए वह अपनी जन्मदात्री शक्ति के प्रति आसक्ति भावना रखती है और राजाओं की अपेक्षा संन्यासियों को विशेष आदर की दृष्टि से देखती है। कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की अपनी मुख्य विशेषताओं में से है, जो अन्य संस्कृतियों में प्रायः नहीं मिलती। गीता का 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः' का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की आत्मा में रच-बस गया है, इसीलिए भारत ने जीवन को कर्त्तव्य रूप में ही देखा है, जब कि दूसरे देशों ने कर्त्तव्य और भोग को एक में मिला दिया है।

हजारों वर्ष के वात्याचक्रों को झेलकर भी भारतीय संस्कृति ने अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखा है। वैदिक धर्म जो आदि भारत का मुख तत्व था, आज भी बहुसंख्यक भारतीयों के धर्म में सुरक्षित है। हमारे देश के कर्मकाण्डी पुरोहितों द्वारा देवताओं तथा अन्य प्रकृति-शक्तियों की पूजा करके उन्हें तृप्त करने में वेद-मन्त्रों का प्रयोग आज भी वैदिक धर्म की महत्ता का उद्घोष करता दृष्टिगत होता है। उपनिषदों तथा भगवद्-गीता द्वारा जिस पावन ज्ञान-धारा को प्रवाहित किया गया, वह धारा आज भी भारत में अपना अस्तित्व बनाए हुए है। भगवान् बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने इसी धारा से प्रभावित होकर जीव-मात्र के प्रति मैत्री,

करुणा और अहिंसा का प्रतिपादन किया था, जो अब तक हमारे देश को शक्ति प्रदान करते आ रहे हैं।

अनेक विदेशी जातियों ने भारत की संस्कृति को प्रभावित किया। विदेशी आक्रामकों तथा शासकों को इस देश की संस्कृति ने प्रभावित किया। विभिन्न जातियाँ अपनी पृथक् पृथक् संस्कृति लेकर भारत में आईं, परन्तु अन्ततोगत्वा वे सब भारतीय संस्कृति में घुल-मिलकर तदाकार हो गईं। इस प्रकार आज को भारतीय संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण बन गई है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस मिश्रण ने ही भारतीय संस्कृति को अस्तित्व प्रदान किया। सदाचार, विनम्रता, त्याग, तपस्या, मैत्री, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, अहिंसा, विश्व-संस्कृति और पंचशील आदि की भावनाओं ने इस देश की संस्कृति को निरन्तर विकसित तथा पुष्ट बनाने में योग दिया है।

ब्रज संस्कृति और उसकी प्रादेशिक विशेषताएँ

ब्रज-प्रदेश अनेक शताब्दियों से धर्म और संस्कृति का केन्द्र रहा है। ब्रज संस्कृति अपने समन्वित रूप में मध्यदेश की अत्यन्त प्राचीन और प्रभावशालिनी संस्कृति है। किसी भी देश, समाज और क्षेत्र-विशेष की संस्कृति मानव-विकास की परिचायिका होती है। जनपदों के ऐतिहासिक क्रम में ब्रज शूरसेन जनपद के अन्तर्गत था, जिसका केन्द्र मथुरा नगर था। अपने इस प्राचीन सांस्कृतिक महत्व को ब्रज ने अपने जीवन के स्पंदन के समान सुरक्षित रखा है। ब्रज-संस्कृति क्षेत्रीय संस्कृति है, जिसकी मौलिक विशेषताएँ भाषा, धर्म और कला के क्षेत्र में पृथक् अस्तित्व बनाती दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रज-संस्कृति में सामान्य भारतीय संस्कृति की प्रायः वे सभी विशेषताएँ आ गई हैं, जिनके कारण भारतीय संस्कृति को विश्व की संस्कृतियों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। समन्वय-भावना, सहिष्णुता, विनय, विकासशीलता, सर्वांगीण उदारता, प्रेम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण, जीवन के प्रति उदात्त भावना और आध्यात्मिक मनोवृत्ति आदि ब्रज-

संस्कृति की वे मुख्य विशेषताएँ हैं, जो भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्वों से स्पन्दन प्राप्त करती रहती हैं।

इस प्रदेश की भाषा ब्रजभाषा है, जो अपनी माधुरी के कारण लगभग ४०० वर्षों तक हिन्दी साहित्य की काव्य-भाषा के रूप में ग्रहीत रही है। इस ब्रजभाषा साहित्य की महत्ता इसी बात से प्रमाणित है कि ब्रज के प्रायः जितने भी प्रामाणिक साहित्यकार हुए हैं, उन्होंने ब्रज-संस्कृति और भाषा दोनों के लिए मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश से ही प्रेरणा प्राप्त की है। सांस्कृतिक दृष्टि से मथुरा प्रदेश ब्रज का केन्द्र है। लोक-वार्ता साहित्य जो मथुरा में मिलेगा, वही ब्रज की लोकवार्ता की रीढ़ माना जाएगा।[1]

ब्रज की आचार-पद्धति में अनेक धर्म समाहित हैं। मथुरा से प्राप्त मूर्तियों से पता चलता है कि ब्रज-प्रदेश में बौद्ध धर्म, जैन धर्म और हिन्दू धर्म का समय-समय पर प्रभाव पड़ता रहा है, जो आज भी ब्रज-संस्कृति में समाविष्ट हैं। वैष्णव धर्म की प्रधानता तो ब्रज-संस्कृति की मौलिक विशेषता ही बन गई है। विष्णु के अवतार कृष्ण की उपासना और भक्ति के रूप में इस वैष्णव धर्म को शताब्दियों से ब्रज में पोषण प्राप्त होता रहा है। सच तो यह है कि ब्रज-प्रदेश वैष्णव संस्कृति का सुदृढ़ केंद्र रहा है।

ब्रज की स्थापत्य कला में यूनानी, ईरानी, पह्लव, शक, हूण आदि कलाओं के दर्शन होते हैं, जो ब्रज-संस्कृति की कलात्मक तथा धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण हैं। ब्रज लोक संस्कृति तो वैष्णव धर्म की आधारशिला ही है। प्राचीन शूरसेन जनपद में यक्ष, नाग और मातृ-देवी की उपासना प्रचलित थी, जो आज भी ब्रज संस्कृति का अंग बनी हुई है। साथ ही गिरिमह, इन्द्रमह और नदीमह पर्व भी प्राचीनकाल में प्रचलित थे, जो आज भी क्रमशः गोवर्द्धन, इन्द्र और यमुना की पूजा के रूप में अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। भाषा, धर्म और कला के इस समन्वित परिवेश में हमें ब्रज-संस्कृति की सर्वांगीण उदारता के दर्शन होते हैं।

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन--डॉ० सत्येन्द्र--पृष्ठ ४८

संगीत तो ब्रज-संस्कृति का प्राणतत्व ही है। आनन्द और उल्लासपूर्ण जीवन के लिए संगीत अनिवार्य है। ब्रज का जन-जीवन और ब्रज-संस्कृति भी इसी संगीत की सरसता से ओतप्रोत है और इसी कारण ब्रज-साहित्य में भी संगीतात्मकता का तत्व प्रधान रूप से दिखाई पड़ता है। ब्रज के लोक-गीतों में भी यही संगीतप्रियता अभिव्यक्ति पाती है।

ब्रज-संस्कृति के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति की संस्कारगत विशेषताएँ भी अपने प्रादेशिक रूप में देखने को मिलती हैं। पुंसवन (साध), जन्म, नालछेदन, छठी, साँतिए, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, प्रथम गोचारण, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि आदि अनेक संस्कार तथा प्रथाएँ ब्रज-संस्कृति की भी महत्वपूर्ण अंग बनी हुई हैं।

ब्रज-संस्कृति में भारतीय संस्कृति के पर्व, उत्सव तथा त्यौहारों का भी अपनी कतिपय प्रादेशिक विशेषताओं के साथ समावेश हुआ है। इन पर्वोत्सवों में जहाँ ब्रज-संस्कृति अपनी प्रादेशिक विशेषताओं को लेकर अभिव्यक्त होती है, वहीं वह भारतीय संस्कृति के अंतर्गत समाविष्ट पर्व-उत्सवादि तत्वों का भी संस्पर्श करती है।

इन विविध पर्व, उत्सव और त्यौहारों के लिए तिथियाँ निश्चित हैं, जिनका पौराणिक और ऐतिहासिक आधार है और वही परंपरानुगत रूप में अद्यावधि ब्रज-लोक-जीवन में स्वीकृत और ग्राह्य हैं। जैसे—

गनगौर का उत्सव विशेष रूप से लड़कियों द्वारा मनाया जाता है, जिसमें गौरी की पूजा चैत्र शुक्ल तृतीया को की जाती है। **अक्षय तृतीया** का उत्सव वैशाख शुक्ल तृतीया को मनाया जाता है, जिसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण की नित्य लीला से है। **रथयात्रा** का उत्सव आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को मनाया जाता है, जिसमें ब्रज की बाल तथा किशोर भावनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है। **नवरात्रि** का उत्सव आश्विन शुक्ल १ से ९ तक मनाया जाता है, जिसमें देवी की पूजा नौ दिनों तक की जाती है। श्रावण में **नागपंचमी** का पर्व भी बड़े उल्लास से मनाया जाता है। **पवित्रा** उत्सव का सम्बन्ध लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से है, जिसका प्रचलन महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा हुआ था और आज

भी यह उत्सव श्रावण शुक्ल एकादशी को मनाया जाता है। **श्रीकृष्ण जन्माष्टमी** का उत्सव ब्रज में भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को मनाया जाता है, जिसमें भगवान् कृष्ण की झाँकियाँ मंदिरों तथा घरों में भी प्रदर्शित की जाती हैं। यह उत्सव राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर चुका है और समग्र भारत की धार्मिक भावना का संस्पर्श प्राप्त कर यह भारतीय संस्कृति का अंग बन गया है; यद्यपि श्रीकृष्ण का जन्म ब्रज (मथुरा) में होने के कारण वहाँ इस उत्सव का उल्लास विशेष महत्व का होता है। **राधाष्टमी** का उत्सव राधा के जन्म से संबंधित है, जो भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को ब्रज में मनाया जाता है। **दान** का उत्सव कृष्ण की नित्य लीलाओं से सम्बन्ध रखता है और भाद्रपद शुक्ल एकादशी को मनाया जाता है। **साँझी** का उत्सव भाद्रपद की पूर्णिमा को मनाया जाता है। **रास** का उत्सव श्रीकृष्ण की रास-लीलाओं का पावन स्मारक है, जो आश्विन की पूर्णिमा को मनाया जाता है। **अन्नकूट** का उत्सव कार्तिक शुक्ल १ को मनाया जाता है, जिसका सम्बन्ध कृष्ण की अवतारी लीलाओं से है। **गोवर्द्धन-पूजा** इस उत्सव का विशिष्ट आकर्षण है। **गोपाष्टमी** का उत्सव भी श्रीकृष्ण से ही सम्बन्धित है और कार्तिक शुक्ल अष्टमी को मनाया जाता है। **व्रतचर्या** का उत्सव मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी को मनाया जाता है। कार्तिक स्नान, नागपंचमी, मकर-संक्रान्ति, अहोई आठें, करवा चौथ, भैया दूज, अनन्त चतुर्दशी, स्याहू आदि पर्व भी ब्रजसंस्कृति के प्रमुख आकर्षणों में से हैं।

इन पर्वोत्सवों के अतिरिक्त छः ऋतुओं के आधार पर भी ब्रज में उत्सवों की व्यवस्था है। **डोल** का उत्सव फाल्गुन शुक्ल १ को मनाया जाता है, जो वसन्त ऋतु का उत्सव है। **फूलमण्डली** ग्रीष्म ऋतु का उत्सव है। **हिंडोरा** श्रावण कृष्ण १ से मनाया जाने लगता है। यह वर्षा ऋतु का उत्सव है। **रास** शरद् ऋतु का उल्लास कहा जा सकता है। **जागरण** उत्सव का सम्बन्ध राधा-कृष्ण के विवाह-दिवस के जागरण से है, जो हेमन्त ऋतु का उत्सव है। **होली** फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाई जाती है। यह शिशिर और वसन्त

ऋतु के संधि-काल का उत्सव है। इन समस्त पर्व तथा उत्सवों में नृत्य और गीत भी अतिरिक्त सरसता का संचार करते हैं।

जन-जीवन में उल्लास की भावना भरने तथा आमोद-प्रमोद का अवसर प्रदान करने की दृष्टि से कुछ राष्ट्रीय पर्वों का भी विधान है, जो भारतीय संस्कृति के प्रतीक बन गए हैं। ब्रज-संस्कृति में भी भारतीय संस्कृति के इन तत्वों का समावेश है और रक्षाबंधन, दशहरा, दीपावली तथा होली के उत्सव राष्ट्रीय पर्व के रूप में भी ब्रज में मनाए जाते हैं। ये पर्व क्रमशः श्रावण की अमावस्या, आश्विन शुक्ल दशमी, कार्तिक की अमावस्या तथा फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाए जाते हैं।

यों तो अनेक पर्व-उत्सवों के अवसर पर वाद्य और नृत्यों का आयोजन ब्रज में होता है, परन्तु ब्रज-संस्कृति को प्राणवान् बनाने की दृष्टि से 'रास' का विशेष महत्व है। इस रास का महत्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है कि "रास वह स्थल है, जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्ति में परिणत हो जाता है।"[१]

ब्रज-संस्कृति में अनेक रीति-रिवाजों का भी समावेश हुआ है। ब्रज के लोग कर्म-फल के सिद्धान्त को मानने वाले तो हैं ही, साथ ही उनमें 'भाग्यं फलति सर्वदा न च विद्या न च पौरुषम्' का सिद्धान्त भी प्रतिफलित होता दिखाई पड़ता है। जन्म और विवाह के समय अनेक रीति-रिवाज देखे जाते हैं। जन्म के अवसर पर जच्चा की चारपाई के पायों के नीचे सतिए रखना, सोहर गाना, लग्न-ग्रह आदि का विचार, शकुन-अपशकुन की भावना से शिशु की रक्षा के लिए किए जाने वाले अनेक विधि-विधान, टोने-टोटके, जन्त्र-तन्त्र आदि तथा विवाह के अवसर पर सगाई, वाग्दान, निमन्त्रण, भोज, घूरा पूजना, मण्डप बनाना, हल्दी तेल चढ़ाना, कंकण बाँधना, मधुपर्क, भाँवरें, गठबंधन, अग्नि-प्रदक्षिणा, कंकण-मोचन, जुआ खेलना, गारी (ज्योनार के गीत), न्यौछावर या भूर बाँटना, बिदाई, दहेज आदि प्रथाएँ

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—पृष्ठ १५२

ब्रज-संस्कृति में समाविष्ट हैं। साथ ही गृह-प्रवेश, अंत्येष्टि, दसवाँ, तेरही आदि की प्रथाएँ भी ब्रज में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पर्व और उत्सवों के अन्तर्गत भी अनेक प्रकार की प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिनका सम्यक् निदर्शन स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है।

मनोरंजन और आमोद-प्रमोद भारतीय संस्कृति को सुदीर्घ काल से अनुप्राणित करते रहे हैं। ब्रज-संस्कृति में भी विविध प्रकार के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद प्रचलित हैं। खेलों में बालक, युवा, जन-साधारण और अभिजात-वर्ग के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। दौड़, कबड्डी, आँखमिचौनी, चील-झपट्टा, गेंद, भौंरा-चकडोरी, कोड़ा जमालशाही, लिरिया और मेड़, आटे-बाटे, अटकन-बटकन, घपरी-घपरा, ककरी-मुँदरिया, मछली मछली कितना पानी, चुनचुन मूँगा आदि अनेक खेल बालकों से सम्बन्धित हैं। युवकों में कबड्डी, हेलू, मल्लक्रीड़ा, रास आदि खेल प्रचलित हैं। इन खेलों में जाति अथवा आर्थिक समृद्धि आदि का ध्यान नहीं रखा जाता। बाजीगर और नटों के खेल ब्रज में अपना अलग ही महत्व रखते हैं। चौगान का खेल घोड़े पर चढ़कर खेला जाता है, जिसे राजन्य संस्कृति का अंग कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त चौपड़, जुआ, चाँचरि आदि खेल भी हैं, जो अवसर-विशेष पर खेले जाते हैं। हल्लीसक (रास) के अतिरिक्त स्वाँग भी ब्रज की मुख्य विशेषता है। यह ठेठ ग्रामीण मनोरंजन का विधायक है, जो कुछ अश्लीलता का पुट लेकर भी चलता है। ब्रजमण्डल में स्वाँग के अतिरिक्त नौटंकी भी होती है, जिसे 'भगत' कहते हैं। खुले रंग-मंच पर विभिन्न प्रकार की लीलाएँ प्रदर्शित करके मनोरंजन कराना इन 'भगतों' का उद्देश्य होता है।

लोककथा

ब्रज में आनुष्ठानिक पर्व-त्यौहारों के अवसर पर स्त्रियाँ विविध व्रतादि के अनुष्ठान करती हैं, जिनमें गाँव की वृद्धा स्त्रियाँ लोक-कथाएँ सुनाकर व्रत करने वाली स्त्रियों का मनोरंजन कराती हैं। इससे व्रत का समय भी

आनन्दपूर्वक कट जाता है। दूसरी ओर वृद्ध पुरुष भी अथियानों या चौपालों में बैठकर लोककथाएँ सुनाते हैं। इन कथाओं के विषय देव, चमत्कार, कला-कौशल, जान-जोखिम, पशु-पक्षी, बुझौवल तथा जीवट की कथाओं से संबद्ध होते हैं। प्रेम का अभिन्न पुट, अश्लील शृंगार का अभाव, मानव की मूल वृत्तियों से निरन्तर साहचर्य, मंगल-कामना की भावना, सुखान्तता, रहस्य, रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता, उत्सुकता की भावना, वर्णन की स्वाभाविकता आदि इन लोक-कथाओं की मुख्य विशेषताएँ हैं।

कार्तिक का महीना व्रतों की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होता है। भैयादूज, अहोई आठें, करवा-चौथ, स्याहू, आसभैया प्यास-भैया, अनन्त चतुर्दशी, गणपूजा, अन्नकूट, गोवर्द्धन-पूजा, गोपाष्टमी आदि पर्व ब्रज में प्रचलित हैं, जिनमें कोई न कोई लोक-कथा सुनना अनिवार्य माना जाता है। इन लोक-कथाओं में ब्रज की आत्मा बोलती-सी जान पड़ती है।

लोक-गाथाएँ

लोक-गाथाओं की दृष्टि से 'ढोला' ब्रज की मौलिक विशेषता है। इसके अतिरिक्त राँझा, जाहरपीर आदि लोक-गाथाएँ गीतात्मक शैली में ब्रज में प्रचलित हैं। जाहरपीर की लोक-गाथा में तो ब्रज में धार्मिक अनुष्ठान के गीत की प्रतीति होती है और इसीलिये अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर उसे गीत के रूप में गाया भी जाता है।

लोक गीत

ब्रज के अधिकांश लोक-गीत किसी न किसी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कहानी पर आधारित हैं। 'ढोला' का लोकगीत ब्रज में सर्वाधिक लोकप्रिय है, जो प्रायः पुरुषों द्वारा गाया जाता है। इस लोकगीत का आधार राजा नल और उनके पुत्र 'ढोला' की कथा है।

ब्रज में ढोला के पश्चात् 'आल्हा' को विशेष महत्व प्राप्त है, जिसमें राजपूतकालीन संस्कृति का समग्र चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त पंजाब

की 'हीर-राँझा' की प्रेम-कथा का भी ब्रज में प्रचलन है, जो आल्हा तथा ढोला की ही भाँति लोकप्रिय है।

जाहरपीर और गुरु गुग्गा की कहानी का व्रज में बहुत सम्मान है। जोगियों के कुछ परिवार ऐसे गीतों को धार्मिक पूजा, व्रत और जागरण के अवसरों पर गाते हैं। जाहरपीर, गुरु गुग्गा, पूरनमल, भरथरी, गोपीचन्द आदि ऐतिहासिक वीर पुरुष थे और वे आज भी ब्रज में देवता की भाँति पूजे जाते हैं। इनकी कहानियों में गोरखनाथ के चमत्कारों का भी वर्णन होता है। अधिकांश लोकगीतों में राम, कृष्ण, शिव और पार्वती की लीलाओं का वर्णन हुआ है, जिसमें केवल धार्मिक भावना की ही निहिति नहीं है, अपितु लोक-जीवन का सुष्ठु स्वरूप भी उनमें मुखर हुआ है। उनमें अभिव्यक्त स्रष्टा की भावनाएँ व्यष्टिगत भावना के धरातल से ऊपर उठकर समष्टिगत भावना का स्पर्श करती दिखाई पड़ती हैं। लोकगीतों में जन-जीवन का समग्र परिचय देने की क्षमता होती है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के शब्दों में "जिस जनपद में जो गीत प्रचलित हैं, उनमें वहाँ के लोगों की रहन-सहन, रीति-रिवाज, खानपान और आचार-व्यवहार का सजीव चित्रण रहता है। लोक-संस्कृति इन गीतों में अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है।"[१]

जन्म से लेकर विवाह तक के संस्कारों के अवसर पर लोकगीतों का प्रचलन समस्त भारत में है। परन्तु ब्रज में जन्म के अवसर पर बै, सोभर (सोहिलो) या सोहर, जन्ति, बधावे, नेग, छठी, साँतिए, जगमोहन लुगरा आदि के विविध लोकगीत प्रचलित हैं। विवाह के अवसर पर संपन्न होने वाले अनेक उप-संस्कारों के भी अलग अलग लोकगीत हैं, जैसे सगाई, पीली चिट्ठी, लगन, मण्डप, मटियान, हल्दी-तिल, गठबंधन, भाँवरें, घूरा पूजना, रतजगा आदि। ब्रज में इन संस्कारों में विशेष उल्लासपूर्वक भाग लेने

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—षोडश भाग—प्रस्तावना—पृष्ठ ९३

वाली स्त्रियाँ होती हैं, यद्यपि पुरुष भी अनेक संस्कारों में सम्मिलित रहते हैं।

सौन्दर्य-भावना भारतीय संस्कृति के रोम-रोम में बसी है, परन्तु ब्रज-संस्कृति में उसका जितना सुन्दर रूप हमें मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गीत और कहानियों का ब्रज में अखण्ड भण्डार भरा हुआ है, जिसका रसास्वादन ब्रज के स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी करते हैं। "क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, प्रत्येक के जीवन-क्रम में जैसे गेय स्वर समा गया हो। ब्रजवासी इस नित्य के गीत से अघाता नहीं। वह ऐसे अवसरों की बाट जोहता है, जब वह उत्सवों और अनुष्ठानों पर अपने संगीत-प्रेम को विशेष प्रोत्साहित कर सके।"[1] जीवन के विविध संस्कारों को तो ब्रज में अत्यन्त महत्व प्राप्त है। इन अवसरों पर गाए जाने वाले वैविध्यपूर्ण गीतों से ब्रज का समस्त वातावरण अनुगुंजित हो उठता है। उषा की लालिमा के साथ ये गीत जागते हैं और रात्रि के अन्तिम प्रहर में उनका स्वर सोता है। विवाह में 'रतजगा' के अवसर पर तो सारी रात गीतों का क्रम चलता रहता है और उसे 'रतजगा' का ही अभिधान भी दिया जाता है।

कार्तिक स्नान के अवसर पर स्त्रियों द्वारा राधा-दामोदर के गीत सोल्लास गाए जाते हैं। फाल्गुन में ख्याल तथा जिकड़ी के भजनों के अतिरिक्त होली और रसिया का विशेष प्रचलन ब्रज की ऐसी मौलिक विशेषता है, जिसमें न केवल जन-जीवन अपितु ब्रज की प्रकृति भी आनन्दातिरेक से थिरकने लगती है। रसिया तो एकमात्र ब्रज का लोकगीत है, जो अपनी सर्वाधिक लोकप्रियता तथा भावनाओं के उत्तेजन की दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखता है। लोकगीतों के इन्हीं आकर्षणों से प्रभावित होकर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "लोकगीतों की एक एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—षोडश भाग—पृष्ठ ३६८

हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी हुई भी निष्प्राण हैं।"[1]

प्रत्येक पूर्णमासी को ब्रज की चौरासी कोस की परिक्रमा का प्रचलन ब्रज की निजी विशेषता है, जो प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वयं सूरदास[2] तथा अन्य अष्टछापी कवियों ने भी अपने पदों में इस प्रचलन की ओर संकेत किया है। इतनी लम्बी परिक्रमा को पूर्ण करने में ब्रजवासियों को शारीरिक शिथिलता का भान नहीं होने पाता। परिक्रमा के साथ साथ गीत भी चलते रहते हैं और इस कारण उनमें उत्साह एवं सरसता का संचार होता रहता है। ऐसी मान्यता है कि यह परिक्रमा मानव-शरीर के पापों का प्रक्षालन कर देती है। अतएव ब्रज-लोक-जीवन में इस परंपरागत प्रथा में भाग लेने के समय विशेष उमंग दिखाई पड़ती है।

लोकोक्ति, पहेलियाँ और मुहावरे

ब्रज में ग्राम विशेष में ग्रामीण घटनाओं अथवा परिस्थितियों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित अनेक प्रकार की ऐसी लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ और मुहावरे प्रचलित हैं, जिनमें मानव-समाज का सुदीर्घकालीन अनुभव संचित है। इनको सार्वदेशिक और सार्वकालिक स्वरूप भी प्राप्त हो चुका है। इनके भाव भारत भर में फैल गए हैं; परन्तु उन्होंने परिधान प्रादेशिक भाषाओं का ग्रहण कर लिया है। लोकोक्तियों के अनेक प्रकार ब्रज में प्रचलित हैं—अनमिल्ला, भेरि, अचका, औठपाव, गहगड्ड, औलना खुसी आदि। इसी प्रकार अनेक प्रकार की पहेलियों का भी ब्रज में प्रचलन है, जिनका उद्देश्य मनोरंजन, ज्ञानवर्द्धन, बुद्धि-परीक्षण तथा

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १३०

२. देखिए सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—(ना० प्र० स०, सं० २०१५)—पृष्ठ ४३०, पद सं० १११०।

उत्सुकता की वृद्धि करना होता है। पहेलियों का आनुष्ठानिक प्रयोग भारत में ही नहीं, संसार के अन्य देशों में भी प्रचलित है। ब्रज की पहेलियाँ खेती, भोजन, घरेलू वस्त्र, प्राणी, प्रकृति, अंग-प्रत्यंग आदि विषयों से सम्बन्धित होती हैं।

शिष्टाचार

आयु के आधार पर छोटे, बड़े अथवा समवयस्क लोगों के शिष्टाचार प्रदर्शन के अनेक विधान भी ब्रज में प्रचलित हैं, जैसे प्रणाम, जुहार, पालागन, नमस्ते, नमस्कार, पाँव पड़ना आदि। इनके अतिरिक्त एक दूसरे को आलिंगन करने की प्रथा भी ब्रज में यत्र-तत्र अब भी पाई जाती है।

अतिथि-सत्कार

अतिथि की सेवा तथा स्वागत-सत्कार भारतीय संस्कृति में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'अतिथि देवो भव' की यह उदात्त भावना ब्रज-संस्कृति में भी व्याप्त है और अतिथियों की सेवा तथा स्वागत-सत्कार के प्रति उन्मुक्त-हृदयता की प्रवृत्ति ब्रज के लोक-जीवन में देखने को मिलती है।

परंपराओं का भी संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। ब्रज में अनेक रीति-रिवाज, लोक-विश्वास, जादू-टोनों की परंपरा ब्रज-संस्कृति का अंग बन गई है। जादू-टोने और टोटके तो वेदों के द्वारा प्रसारित होकर भारतीय संस्कृति के अंग ही बन गए हैं।

मानव-समाज की मूलभूत प्रेरणाएँ समान होते हुए भी प्रत्येक देश, प्रदेश अथवा जाति की संस्कृति के रूपों में कुछ न कुछ विशेषता होती है। यह विशेषता उसकी निजी वस्तु है और उसमें कुछ निरालापन भी होता है, जिसके कारण उस संस्कृति-विशेष में कुछ अन्तर आ जाता है और कहीं कहीं तो यह अन्तर पर्याप्त व्यापकता ग्रहण कर लेता है। इस अन्तर का आधार-भूत कारण उस देश, प्रदेश अथवा जाति विशेष के विकास क्रम की असमान

परिस्थितियाँ ही होती हैं, परन्तु भौगोलिक वातावरण भी उस संस्कृति का रूप सँवारने में महत्वपूर्ण योग देता है। ब्रज-संस्कृति गोप-गोपियों के साथ सरसता का सम्बन्ध रखती है, क्योंकि ये गोप-गोपी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के प्रीति-भाजन रहे हैं। अनेक वन-उपवनों से आच्छादित ब्रज-प्रदेश प्रकृति की गोद में ही सोता, जागता तथा किलकारियाँ भरता है और ब्रज-संस्कृति उसके माधुर्यपूर्ण अन्तस् को निरन्तर स्पंदित करती रहती है। जीवन-क्रम के विकास की दृष्टि से गोप-गोपियों का सम्बन्ध उस प्राचीन आभीर जाति से माना जाता है, जो प्रकृत्या स्वच्छन्द एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने की अभ्यस्त रही है। यही कारण है कि ब्रज-संस्कृति में जन-जीवन के उल्लास और आनन्द की जो गहराई है, वह उस परिमाण में अन्य प्रादेशिक संस्कृतियों में नहीं मिलती। कृष्ण-भक्त कवियों ने भी इस संस्कृति को आकर्षक स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण योग दिया है, जिनकी कृतज्ञता ब्रज-संस्कृति अपने अनेक लोक-गीतों के माध्यम से आज भी अभिव्यक्त करती दृष्टिगत होती है। इस प्रकार ब्रज-संस्कृति जहाँ भारतीय संस्कृति के सामान्य तत्वों का समाहार लेकर प्रस्तुत होती है, वहीं उसकी कतिपय प्रादेशिक विशेषताएँ ऐसी हैं, जो उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक बना देती हैं।

पंचम अध्याय

सूरदास और उनका युग

साहित्य-जगत् में सूरदास जी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जबकि भारत पर पश्चिमोत्तर से हुए अनेक आक्रमण ठण्डे पड़ चुके थे। दिल्ली के सिंहासन पर बाबर का वंशधर और अभागे बादशाह हुमायूँ का परम सौभाग्यशाली पुत्र अकबर महान् आसीन था। उसने सभी धर्मों के प्रति उदारता एवं सहिष्णुता की नीति अपनाकर जन-साधारण की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उस समय तक वैष्णव भक्ति-आंदोलन भी दक्षिण में पर्याप्त प्रभाव जमा चुका था, परन्तु फिर भी हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति, भारतीय सभ्यता और साहित्य के लिए स्थिति सामान्य नहीं थी। समाज में नैराश्य-भावना घर कर चुकी थी और मानव-जाति मिथ्या लोक-विश्वासों से संवलित हो रही थी। भूत-पिशाचों के प्रति उसमें आस्था-भावना जाग्रत हो चली थी। नर-बलि और पशु-बलि की परंपरा यत्र-तत्र अभी भी रक्षित थी। जन-जीवन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टियों से पतनोन्मुख हो रहा था। उपासना के क्षेत्र में एक वर्ग निर्गुण भक्ति के प्रचार में व्यस्त था और दूसरा वर्ग सगुण भक्ति को ही मानव को इस संसार से पार उतारने में सक्षम घोषित कर रहा था। उस समय की सामाजिक और धार्मिक अन्तर्दशा का परिचय महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

गंगादि तीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।
× × ×
अपरिज्ञान नष्टेषु मन्त्रेक्ष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थ वेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।

अर्थात् यह देश म्लेच्छों से आक्रान्त है, जिसके कारण यह पापागार-सा बन गया है। सत्पुरुषों को यहाँ दुःख दिया जाता है। जनता भी इस दुःख से सदा व्यग्र रहती है। ऐसी दशा में कृष्ण ही मेरी एकमात्र गति हैं। गंगा आदि जितने भी उत्तमोत्तम तीर्थ-स्थल हैं, वे सब इन म्लेच्छों द्वारा आक्रान्त हैं, अतएव इनका आधिदैविक महत्व विनष्ट होता जा रहा है। ऐसी दशा में तो कृष्ण ही मेरी एकमात्र गति हैं। अशिक्षा और अज्ञान का वातावरण परिव्याप्त होने के कारण वैदिक एवं अन्य मन्त्रों का महत्व नष्ट होता जा रहा है। ब्रह्मचर्यादिक व्रतों के प्रति लोगों में निष्ठा नहीं रह गई है। ऐसी दशा में भी कृष्ण ही मेरी एकमात्र गति हैं।

ऐसे संक्रान्ति-काल में लोक-साधक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने लोक-रंजन की महद्भावना से अभिभूत होकर वल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना की और वे लीला-पुरुषोत्तम लोक-नायक कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान एवं उन्हें जन-जीवन में प्रसारित करके लोकरंजन कराने की ओर उन्मुख हुए। महाप्रभु के इस महदुद्देश्य के लिए तद्युगीन परिस्थितियाँ ही प्रेरक-स्रोत बनीं। महाप्रभु के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पुष्टिमार्ग के अनुयायी भक्तों ने साहित्य-सृजन करके उसके द्वारा कृष्ण के मधुर एवं लोकरंजक रूप के प्रचार का बीड़ा उठाया। अष्टछाप के कवियों की वाणी इतनी प्रभावपूर्ण थी कि उससे आकर्षित होकर दूर-दूर से जनता आने लगी और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत तथा लोक-कल्याणकारी वाणियों का आस्वादन करने लगी। इन अष्टछापी कवियों में

महाप्रभु वल्लभाचार्य के परम-प्रिय शिष्य सूरदास जी को शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ।

सूरदास जी ने यदि अपने को माया के हाथ बिका हुआ घोषित किया, अपनी परवशता की दुहाई दी, हिंसा-मद और ममता के रस में आकण्ठ निमग्न निरूपित किया, अज्ञान-तिमिर में परमाश्रय को विस्मृत कर देने की बात कही, अपने को चिर-निद्रा में ग्रस्त बताया[१] तो यह उन्होंने आत्म-कथन नहीं किया, अपितु यह उनकी वह विशिष्ट भावना-पद्धति है जिसमें भक्त अपने आराध्य के समक्ष अपने आपको अत्यधिक हीन कहता है और उसके पश्चात् उससे अपने उद्धार तथा कल्याण की कामना प्रकट करता है। दूसरी ओर आत्म-कथन के आवरण में अपनी दीनता प्रकट करने के साथ साथ उन्होंने तत्कालीन सामाजिक अन्तर्दशा का भी निरूपण किया है। उन्होंने कर्मकाण्डों के अन्धकारपूर्ण कूप में पग-पग पर गिरते हुए समाज को सुमति और सत्संगति की लकुटी का आधार ग्रहण करने की चेतावनी देकर यह प्रकट किया है कि तद्युगीन समाज में अशिव मनोवृत्तियों का कैसा प्राबल्य था।[२] तत्कालीन समाज में जो मठ स्थापित थे, उनके मठाधीशों की चाल-ढाल कैसी थी, इसका भी

---

१. **अब हौं माया हाथ बिकानौ।**
परबस भयो पसू ज्यों रजु-बस, भज्यो न श्रीपति रानौ।
हिंसा-मद ममता-रस भूल्यौ-आसा हीं लपटानौ।
वाही करत अधीन भयौ हौं निद्रा अति न अघानौ।
अपने ही अज्ञान, तिमिर में बिस्र्यो परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है ताहू मैं कछु कानौ।।
—सूरसागर—पद ४७

२. **दीन जन क्यौं करि आवै सरन।**
भूल्यौ फिरत सकल जल थल मग सुनहु ताप त्रय हरन।

परिचय सूरदास जी ने दिया है जिससे यह व्यंजित होता है कि उन मठाधीशों की सामान्य प्रवृत्तियाँ उन्हें रास नहीं आई थीं। मठाधीश हरिस्मरण से विरत होकर दूसरों की निन्दा में काल-यापन करते थे, तेल व फुलेल लगाकर शरीर की मालिश कराते थे, अपने वस्त्रों की धवलता के प्रति वे अधिक जागरूक दिखाई पड़ते थे, तिलक लगाकर स्वामी बनकर निकलते थे, पर विषयवासना के उपादानों की ओर ही निरन्तर उनका ध्यान बना रहता था। पेट-पूजा और प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न रहना ही उनका परम उद्देश्य था। उस युग की इसी धार्मिक अव्यवस्था का संकेत सूरदास जी ने निम्नलिखित पद में किया है——

किते दिन हरि सुमिरन बिनु खोए।
पर-निन्दा रसना के रस करि केतिक जनम बिगोए।
तेल लगाइ कियौ रुचि मर्दन बस्तर मलि मलि धोए।
तिलक लगाइ चले स्वामी बनि विषयिनि के मुख जोए।[1]

सूरदास जी के समय में समाज की सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या थीं, इसका परिज्ञान उन्हीं के निम्नलिखित पद से भी हो जाता है——

परम अनाथ विवेक नैन बिनु निगम-ऐन क्यों पावै ?
पग पग परत कर्म-तम-कूपहिं को करि कृपा बचावै ?
नहिं कर लकुटि सुमति-सतसंगति जिहि अधार अनुसरई।
प्रबल अपार मोह-निधि दस दिसि सु धौं कहा अब करई।
अखुटित रटत सभीत ससंकित सुकृत शब्द नहिं पावै।
सूर स्याम पद-नख प्रकाश बिनु क्यों करि तिमिर नसावै।।
——सूरसागर——पद ४८

१. सूर-सागर——पूर्वार्द्ध (सं० २०१५) पद ५२

आलिंगन चुंबन परिरंभन नख छत चारु परस्पर हाँसी।

× × ×

यौवन मद जन मद मादक मद धन मद विष मद भारी।
काम विवश नर नारि भजत दुइ पंच सरहिं फिरि मारी।

इत्यादि

सूरदास जी के समय के मुगल-शासन में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और भारत का आन्तरिक व्यापार अनुदिन उन्नति की ओर अग्रसर था। विभिन्न प्रदेशों की जनता व्यापार और तीर्थ-यात्रा के माध्यम से एक दूसरे के निकट संपर्क में आने का अवसर पाने लगी। महान् सम्राट् अकबर की धार्मिक उदारता तथा सहिष्णु शासन-नीति ने जनता के बहुमुखी अभ्युत्थान का पथ प्रशस्त किया। किन्तु इस्लाम और हिन्दू धर्म का पारस्परिक संपर्क भारतीय संस्कृति और सभ्यता को समन्वित रूप प्रदान करने की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। इस युग की सभ्यता में हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के सुन्दर तत्वों का सम्मिश्रण हुआ। इस संपर्क ने ऐसे धर्म की अवतारणा की, जो विशाल मानव-धर्म की आधार-शिला पर अव-स्थित हुआ; जिसमें न वैसा जाति-पाँति का भेद था, न वह संकीर्ण मनोवृत्ति थी, न पुरोहितों का वह प्रभुत्व रह गया था और न ही बाह्या-चार, कर्मकाण्ड तथा विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का वैसा विधान स्वीकृत था। इस धर्म ने ऐकेश्वरवाद, विश्वबन्धुत्व, प्रेम, संयम, सदाचार और आत्मशुद्धि की ओर विशेष बल दिया। भारतीय वास्तु-कला को समग्र विश्व में सांस्कृतिक गौरव प्रदान करने वाला 'ताजमहल' इसी संपर्क की महत्वपूर्ण देन है तथा फतहपुर सीकरी के बुलन्द दरवाजा और मोती-मस्जिद का भी भारतीय वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

भक्ति और धर्म के विकास की दृष्टि से सोलहवीं शताब्दी का समय विशेष महत्व रखता है। सूरदास जी के समय में ब्रज प्रदेश में कृष्ण भक्ति-

धारा अजस्र रूप में प्रवाहित थी। इस धारा में कई शाखा-प्रशाखाएँ फूट चली थीं और निरन्तर विकासोन्मुखी थीं। निम्बार्क, गौड़ीय वैष्णव, राधावल्लभीय, पुष्टिमार्गीय (वल्लभ संप्रदाय) तथा हरिदासी आदि संप्रदायों के रूप में कृष्ण-भक्ति-धारा व्यापक स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी और सारा उत्तरी भारत इन विभिन्न संप्रदायों की भक्ति-भावनाओं से ओतप्रोत हो रहा था। राम की 'जग-मंगल-करनी' और 'कलि-मल-हरनी' भक्ति की पावनी-गंगा को अजस्र वेग से प्रवाहित करने वाले भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी सूरदास के समानान्तर भाव-लोक में लोक-जीवन को ले जा रहे थे, परन्तु उनकी भक्ति में मर्यादा का प्रभूत आग्रह और सेवक-सेव्य-भाव की प्रधानता ब्रज की स्वच्छन्द वसुन्धरा को उतनी रुचिकर नहीं प्रतीत हुई। फलतः वह लीला-नायक और लोक-रंजक कृष्ण की मधुरा और प्रेम-लक्षणा भक्ति की ओर सख्य भाव से ही अधिक आकर्षित हुई।

सगुण भक्ति के उक्त अनेक संप्रदायों का केन्द्र-स्थल ब्रज-प्रदेश बना। अकबर की सहिष्णु शासन-नीति के कारण सगुण-साधना की पावन भूमि (ब्रज प्रदेश) का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। अनेक उदाराशयी संत-महात्मा इस प्रदेश में आकर बस गए और उन्होंने इससे पूर्व के मुस्लिम शासन से संत्रस्त जनता में आशा, उत्साह, आनन्द और कल्याण की भावना जाग्रत की। महाप्रभु चैतन्य, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और हित हरिवंश जी ने भी वृन्दावन के पुनरुद्धार की दिशा में सफल प्रयास किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने मथुरा, गोकुल और वृन्दावन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। अष्टछाप के कवि—सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास ने अपने आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति तथा लोक-कल्याण की भावना से अनुप्राणित होकर सरस काव्य-धारा प्रवाहित की। इस युग के धार्मिक नेताओं ने मानव को क्षणिक सांसारिक भोग-

विलासों की असारता बताकर लोक-जीवन में उच्चस्तर की आध्यात्मिक चेतना जाग्रत की।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान

हिन्दी साहित्य का आदि काल समाप्त होते-होते देश एक विचित्र परिस्थिति के मध्य फँस गया था। हिन्दू राजा शौर्य, पराक्रम एवं पौरुष की पूँजी गँवा बैठे थे और उनमें विलास-वृत्ति का प्राधान्य हो चला था। विलास-सुख के सामने देश के स्वातंत्र्य का सुख उनकी दृष्टि में गौण बन गया था। अतः आदि-काल के अन्तर्गत जिस प्रकार के साहित्य-सृजन की परंपरा का निर्माण हो चुका था, उसे गतिशील होने का कोई मार्ग नहीं रह गया। वे ऐसी दशा में स्वतन्त्रता के गीत गा भी किस मुँह से सकते थे? स्वतन्त्रता के गीत उनके मुखों से शोभा भी तो न पाते! मुसलमानों की विजय और हिन्दू जाति के पराभव ने जन-मानस पर नैराश्य-भावना की काली घटा घुमड़ा दी थी और समस्त वातावरण विषाक्त-सा हो उठा था।

अरब, तुर्क और मुगल भारत में राजनैतिक प्रभाव लेकर तो आए ही, परंतु इस्लाम की भावना से वे पूर्णतः अनुप्राणित थे। वे अपने धर्म, संस्कृति तथा भाषा को भारतीय जन-जीवन में खपा देना चाहते थे, परन्तु स्वयं भारतीय जन-जीवन में खपने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। इस प्रकार एक धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का पुनः श्रीगणेश हुआ। विजेता मुसलमान एकेश्वरवाद के प्रबल समर्थक थे, जब कि हिन्दुओं में बहुदेवोपासना की प्रथा प्रचलित थी। मुसलमानों ने इस बहुदेववाद का घोर विरोध किया। ऐसी परिस्थिति में यह नितान्त आवश्यक हो गया था कि किसी मध्यम मार्ग को ग्रहण किया जाय और धर्म तथा भक्ति का कोई ऐसा समन्वित स्वरूप स्थिर किया जाय जो हिन्दू और मुसलमानों को समान रूप से आराधना के माध्यम के रूप में स्वीकार्य हो।

सन्त कवियों ने युग की इसी माँग की पूर्ति की और उन्होंने दोनों धर्मों के परस्पर विरोधी तत्वों का खण्डन करना आरम्भ किया। उन्होंने एक ऐसे समन्वित भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, जो दोनों जातियों के धर्म एवं उपासना के लिये व्यवहार्य हो। एतदर्थ उन्होंने काल-सापेक्ष साधना-पद्धति का प्रवर्त्तन किया। वेदों द्वारा भी ईश्वर के निराकार रूप का समर्थन किये जाने पर भी निराकारोपासना का यह स्वरूप जन-मानस को ग्राह्य एवं व्यावहारिक नहीं प्रतीत हुआ। सन्त कवियों ने उसे व्यावहारिकता प्रदान की, डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "सन्त कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और उसे अधिक समय तक विपत्ति की अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राम-भक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी। पर इससे जनता पर होने वाले कबीर, दादू, रैदास आदि सन्तों के उपकार का महत्व कम नहीं हो जाता।"[१]

सन्तों का युग संक्रांति का युग था। संक्रान्ति-काल में साहित्य का मनोरंजकत्व विश्राम करने लगता है और सन्देशवाहकत्व जाग उठता है। सन्त कवियों ने तद्युगीन समाज में प्रचलित जातिवाद, मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड, वर्गीय भावना, अवतारवाद आदि विकृतियों का खण्डन करना आरम्भ किया। अस्पृश्य तथा अछूत समझे जाने वाले वर्ग को तिरस्कार, उपेक्षा और अपमान की दाहकता से उबार कर गले लगाने वाला सन्त-समुदाय सहज ही लोक-जागृति का पथ प्रशस्त कर सका। निम्न जाति के लोगों में आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत करके उन्हें श्रेयस्कर भक्ति-पथ पर अग्रसर करने का श्रेय इन्हीं सन्त कवियों को है। इन बहुमुखी प्रयत्नों के फलस्वरूप यह स्वाभाविक ही था कि

---

१. देखिए 'कबीर ग्रंथावली'—डॉ० श्यामसुन्दरदास—पृष्ठ ९

जन-जीवन सुधार और आत्म-परिष्कार की दिशा में प्रवृत्त होता। समाज और संसार से विरक्त रहकर भी इन्होंने अपनी बानियों के माध्यम से लोक-जीवन में आत्म-विश्वास की भावना भरी और उन्हें प्रगति की दिशा में उन्मुख किया। इस प्रकार उन्होंने एक बहुत बड़े अंग को समुन्नत करने का प्रयत्न किया। इस संसार से विरक्त रहकर भी ये सन्त समाज के कर्णधार बन गये। इनके स्वरों में जहाँ तीव्र अक्खड़ता थी, वहीं इनके तर्क भी अकाट्य थे। कौन ब्राह्मण ऐसा था, जो इस तर्क का उत्तर दे सकता—'जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया, और राह होइ काहे न आया'। परिणाम यह हुआ कि मानव का मानव के साथ आत्मीयता और मनुष्यत्व का सम्बन्ध स्थापित हो गया और इस प्रकार समाज में समानता के स्तर का निर्माण हुआ।

इन सन्तों की दृष्टि समाज की विकृतियों पर गड़ जाती थी और फिर ये सन्त ऐसा तीव्र प्रहार करते थे कि विकृति वहीं ढहकर चूर हो जाती थी और उसमें से एक शाश्वत सत्य उभर कर सामने आ जाता था—'ढाई अक्षर प्रेम का'। प्रेम का यह पाठ पढ़ाने का उन्हें अधिकार भी था, क्योंकि उन्होंने सामान्य जनता की भाषा को अपना काव्य-माध्यम बनाया था।

कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि ने मानव में आध्यात्मिक भावना का संचार और उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा करने में ही अपना सारा जीवन लगा दिया। इन्होंने एक शाश्वत सत्य की खोज की और उसे प्राप्त करके उसके प्रकाश से समग्र जन-जीवन को आलोकित कर दिया। समस्त धर्मों में सामंजस्य स्थापित करने की भावना से प्रेरित होकर इन सन्तों ने जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया। साथ ही इन्होंने वर्ण, वर्ग, जाति तथा धर्म को विशेष महत्व न देकर समग्र मानव-समाज के उत्थान तथा कल्याण का पथ प्रशस्त किया।

सन्त कवियों के द्वारा तैयार की गई पीठिका पर रामानन्द जी के उपदेशों से प्रेरणा ग्रहण करके राम-भक्ति शाखा का उदय हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी इस शाखा के प्रधान स्तम्भ थे। गोस्वामी जी ने जिस आधार पर अपने राम-काव्य का सृजन किया, वह लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत था। लोक-मंगल की इस सार्वजनीन भावना से उत्प्रेरित होकर उन्होंने राम के जिस लोक-रक्षक रूप की उद्भावना की, उसने लोक-मानस में एक नई चेतना और स्फूर्ति का अभ्युदय किया।

सामाजिकता के क्षेत्र में गोस्वामी जी वर्णाश्रम धर्म के कट्टर समर्थक थे और श्रुति-सम्मत मार्ग के प्रति उनमें अडिग आस्था थी। इसी कारण उनका राम-काव्य निर्गुणवादी सन्तों तथा मधुरा भक्ति के उपासक और लोकरंजनकारी कृष्ण के लीलामय स्वरूप के गायक भक्त कवियों से कुछ अधिक उदात्त होकर एक भिन्न ही धारा में प्रवाहित हुआ। यह निश्चित है कि तुलसीदास जी की भक्ति-भावना का आधार अधिक सुदृढ़ था तथा उनकी अन्तर्दृष्टि भी अधिक व्यापक थी। इसीलिए राम-काव्य ने जनता में जिस विश्वास, श्रद्धा और सामर्थ्य की भावना को जन्म दिया, उसको विस्मृत कर सकना किसी भी साहित्यकार तथा इतिहासकार के लिए असम्भव है।

इस समय देश में अन्य अनेक धार्मिक संप्रदाय भी सक्रिय थे। सन्त-महात्मा, पीर-फकीर तथा संन्यासी एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करके जनता में एकता की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे। जन-जीवन उनकी ओर भी आकृष्ट हो रहा था। पंजाब के सिख गुरु भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में अपनी पृथक् भक्ति-साधना का प्रचार कर रहे थे। उनकी बानियों में भी लोक-भाषा का आकर्षण विद्यमान था। इसी समय दक्षिण से आकर वल्लभाचार्य जी ने वृन्दाबन की पवित्र भूमि पर डेरा जमाया और वहाँ से उन्होंने कृष्ण-भक्ति का प्रचार तत्परतापूर्वक किया। एक गंभीर कुहासे के मध्य महाप्रभु

वल्लभाचार्य जी के रूप में जो नूतन भास्कर उत्तरी भारत के क्षितिज पर अवतीर्ण हुआ, उसने जन-जीवन में व्याप्त वाह्याभ्यान्तरिक ध्वन्स और विनाश के गहन अन्धकार को उच्छेद करके 'बिजली की चमक' सा नूतन आलोक विकीर्ण करने का श्रेयलाभ किया, पर यह आलोक स्थायी था, उसमें 'बिजली की चमक' सी क्षणिकता न थी।

स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा जिस अभिनव संस्कृति का निर्माण किया गया, उसे हम वैष्णव संस्कृति की संज्ञा दे सकते हैं। इस अभिनव संस्कृति ने नगरों की अट्टालिकाओं के मध्य निरन्तर विकसनशील भोगवादी संस्कृति के संघर्ष को वरेण्य समझकर जनता में जीवन के प्रति नई आस्था, नई भावना तथा नया दृष्टिकोण उत्पन्न किया।

रामानन्द, कबीर, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी और मीराँ का काव्य-सृजन इस अभिनव सांस्कृतिक पुनरुत्थान को निरन्तर गतिमान बनाता रहा और आज भी इनकी अमर वाणी जन-जीवन को सांस्कृतिक चेतना से परिप्लुत कर रही है। वास्तव में वैष्णव भक्ति मार्ग जन-जीवन के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रतिनिधि है। कर्मकाण्ड के रूप में वैष्णव भक्तों ने पौराणिक व्रत और उपासना का पथ प्रशस्त किया तथा अपने उदार मानवतावादी दृष्टिकोण के द्वारा आश्रम-धर्म की कठोरता, आचार-विचारों में संकीर्णता की मनोवृत्ति तथा नैराश्य-भावना की प्रबलता का शमन किया।

सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते यह वैष्णव संस्कृति सहस्रधा होकर जन-जीवन में प्रसृत हो गई। इस शताब्दी में साहित्य, संगीत और कला की जो आश्चर्यजनक उन्नति हुई, उसी को दृष्टि में रखकर भक्ति-काल को स्वर्ण-युग की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में भक्ति-काल में न केवल संस्कृति, साहित्य, संगीत और कला का अभ्युत्थान हुआ, अपितु जन-जीवन में नैराश्य के स्थान पर आशा, विषाद के स्थान पर उल्लास, पराजित भावना के स्थान पर विजय-गर्व और संकीर्ण

मनोवृत्तियों के स्थान पर व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रतिस्थापना हुई।

श्रीकृष्ण का जन्म तथा कार्यक्षेत्र होने के कारण मथुरा नगर भी अनेक धर्मों का तीर्थस्थल-सा बन गया। जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों ने भी ब्रज-वसुंधरा में मोक्ष-प्राप्ति की कामना से आश्रय ग्रहण किया और अनेक मन्दिर तथा स्तूपों का निर्माण कराया। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मथुरा नगर सर्वोपरि स्थान का भागी बन गया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित बल्लभ-संप्रदाय इस क्षेत्र में बड़ा शक्तिशाली प्रमाणित हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो मथुरा, गोकुल और वृन्दाबन को अभूतपूर्व आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक गौरव की पीठिका पर ला रखा। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ,महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के चार शिष्य कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास और परमानन्ददास तथा अपने चार शिष्य गोविन्ददास, छीतस्वामी, नन्ददास और चतुर्भुजदास को सम्मिलित करके 'अष्टछाप' का निर्माण किया।

इन अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति से ओत-प्रोत होकर उनकी प्रेम-लीलाओं का गान अपने मधुर पदों में किया। परन्तु सूरदास जी इन कवियों के शिरोमणि बन गए। डॉ० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में "अष्टछाप का प्रथम वर्ग (जिसमें सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास और परमानन्ददास आते हैं) सचमुच हिन्दी साहित्य में एक युग-प्रवर्त्तक कवि-वर्ग हुआ है।"[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनके महत्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (भाग १)—डॉ० दीनदयालु गुप्त—पृष्ठ २६

अनुराग जगाया या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"[१] और उस समय जब कि जन-जीवन आशा-निराशा के बीच भ्रमित हो रहा हो और मानव जीवन को अभिशाप समझने लगा हो, इन वैष्णव कवियों का यह कर्तृत्व गुरुतर महत्त्व का प्रमाणित होता है।

अन्त में हम डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि "इस (मध्य) युग के धर्म और कला को अलग-अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। क्या वास्तुशिल्प, क्या चित्रकला, क्या काव्य, क्या नृत्य और क्या संगीत—सर्वत्र एक ही बात दिखाई देती है और वह यह कि समस्त भारतीय अन्तरीप (?) एक सिरे से दूसरे सिरे तक भक्ति विशेषकर वैष्णव भक्ति की शक्तिशाली तरंग से आक्रांत हो उठा था। इस बात का महत्व तब और बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि इसी युग में भारतवर्ष विदेशी धर्म और विजातीय संस्कृति का करुणाजनक शिकार बना हुआ था।"[२]

सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति के चित्रण की सोद्देश्यता

भारत की सांस्कृतिक परंपरा सुदीर्घ अतीत से अप्रतिहत प्रवाह लेकर चलती आ रही है। यह परंपरा प्रत्येक युग में अपने जीवन्त स्वरूप को सुरक्षित रखती रही है। प्रत्येक युग अपनी सांस्कृतिक चेतना के अन्वेषण की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। समूह-मानस में अन्तर्निहित भावनाएँ अद्यावधि अपनी सप्राणता का उद्घोष कर रही हैं। भारतीय जीवन का मुख्य अभिप्राय संस्कृति की पुरातन परंपराओं के प्रति आकर्षण बनाए रखने तथा उन्हीं परंपराओं के अनुसार अपने आचार-विचार एवं व्यवहार को नियमित एवं संयमित रखने का रहा है और उन्हीं के द्वारा वह मानव-समाज को भविष्य में भी समुन्नत और समृद्ध बनाना चाहता है।

---

१. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ १५०
२. सूर साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७२-७३

संस्कृति की सर्जनात्मक प्रतिभा जिस सूक्ष्म स्तर पर सक्रिय होती है, उस स्तर पर युग का कोई अत्यन्त प्रतिभा-संपन्न और प्रखर संवेदनाशील कवि या विचारक ही प्रतिष्ठित हो सकता है। सूरदास ने इस युग-धर्म की सार्थकता स्वीकार की और उन्होंने तदनुरूप लोक-संस्कृति के विशिष्ट कल्याणकारी तत्वों को कृष्ण-लीला-गान की लड़ी में पिरो दिया। सूरदास जी ने जहाँ कहीं भी ऐसे चित्रण प्रस्तुत किए हैं, वहाँ वे इसी युग-धर्म के उद्देश्य से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। वे लोक-जीवन तथा लोक-संस्कृति को दृष्टि में रखकर मानव-समाज के लिए महदादर्शों को स्थापना करके समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक वैषम्य एवं स्वार्थपरता की मनोवृत्ति का समूलोच्छेद करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने लोक-संस्कृति के आकर्षक स्वरूप को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया।

वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण सूरदास जी ने सूरसागर में पुष्टिमार्गीय भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से भी लोक-संस्कृति का चित्रण किया है। पुष्टिमार्ग का मूलाधार श्रीमद्भागवत होने के कारण उसमें वर्णित सांस्कृतिक परंपराओं का ग्रहण प्रायः सभी पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों द्वारा हुआ है। पुष्टिमार्ग में तनुजा, वित्तजा और मानसी सेवाओं का जो विधान था, उसमें अनेक संस्कारों के उत्सव, पर्व तथा अन्य वर्षोत्सवों की जो व्यवस्था थी, उसमें लोक-संस्कृति को ही प्रधानता प्राप्त थी।

लोक-संस्कृति के अंग——पर्व एवं उत्सवों का पुष्टिमार्ग में समावेश होने के कारण सूरदास जी को इन अंगों का सरस एवं सुरुचिपूर्ण वर्णन करना ही अभीष्ट था। इस प्रकार जहाँ उन्होंने पुष्टि-मार्ग के प्रति जन-जीवन का आकर्षण बढ़ाया, वहीं लोक-संस्कृति के सुष्ठु स्वरूप का भी चित्रांकन स्वतः हो गया। ब्रज-संस्कृति के इन्हीं तत्वों में सूरदास जी की साधना-पद्धति को भी स्वभावतया अभिव्यक्ति मिल गई है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "सूरदास. . .कविता नहीं

करते थे, वे भजन गाते थे। साहित्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से नहीं गाते थे, गाते थे साधना के लिए। साधना भी ब्रज-तत्व की, जहाँ लौकिक रस विपर्यस्त हो जाते हैं। ब्रज-तत्व में जो काम है, वही प्रेम है; जो प्रेम है, वही राग है, जो राग है, वही भक्ति है।"[१] और यही रागात्मक भक्ति सूरदास जी को लोक-जीवन के अति सन्निकट भी ला देती है।

सूरदास जी की भक्तिसाधना का क्षेत्र ब्रज-प्रदेश और मुख्य रूप से वृन्दावन रहा है। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि तथा लीला भूमि होने के कारण ब्रज का विशेष महत्व है। ब्रज के सामान्य जन-जीवन में ही उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ था, अतः वे उसमें घुल-मिल गए थे। ब्रज-वासियों के सुख में, दुःख में, उल्लास में विषाद में, आतंक में, उत्साह में— सर्वत्र श्रीकृष्ण सम्मिलित दिखाई पड़ते थे। इस प्रकार वे ब्रज के सामान्य जनजीवन से कभी असंपृक्त नहीं रहे। सूरदास जी के परमाराध्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि तथा लीला-भूमि का प्रभाव उनके मानस पर गहरा पड़ा था। यही कारण है कि सूरदास जी के काव्य की प्रवृत्ति यथार्थ जीवन की ओर अधिक उन्मुख दिखाई पड़ती है।

सूर-साहित्य में तद्युगीन जन-जीवन के संस्कार, रीति-रिवाज पर्व-उत्सव, आमोद-प्रमोद, सुख-दुःख आदि का चित्रण तो पर्याप्त मात्रा में हुआ ही है, साथ ही उसमें लोक-मानस का प्रतिनिधि होनेकी भी पूरी क्षमता है। लोकमानस में सूरदास जी के पदों की सर्वग्राह्यता ही उनकी सफलता और लोकप्रियता का कारण है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि सूरदास जी वृन्दावन में रहते रहते वहाँ के लोकगीतों तथा लोक-संस्कृति की ओर अधिकाधिक आकर्षित हुए थे और इसी आकर्षण के कारण उन्हें अपने साहित्य में लोकजीवन की तद्वत् अभिव्यक्ति करने में पूरी सफलता प्राप्त हुई और उनके अनेक पद लोक-कण्ठहार बन गए तथा बहुत से पद तो

---

१. सूर-साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १२९

लोकगीतों का स्वरूप धारण करके आज भी न केवल ब्रज-संस्कृति अपितु समस्त उत्तरी भारत की संस्कृति के अपरिहार्य अंग-से बन गए हैं।

प्रायः ऐसा होता है कि लोक-जीवन अपने अंग-प्रत्यंग की सूक्ष्म और सरस अभिव्यक्ति जिस भी मौखिक अथवा लिखित काव्य में पाता है, उसे अपनी संपत्ति समझकर ग्रहण कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरित मानस' का देश के कोने-कोने में जो इतना प्रचार-प्रसार देखा जाता है, उसके पीछे भी यही कारण है। गोस्वामी जी ने भी लोक-जीवन तथा लोक-संस्कृति को अपने काव्य का आधार बनाया जिसके फलस्वरूप उनका रामचरित मानस जन-मानस का स्पन्दन बन गया। ठीक यही बात सूरदास जी के प्रति भी लागू होती है। सूरदास जी के भजन और कीर्त्तन के पदों का ब्रज में ही नहीं, समस्त भारत में जो इतना प्रचार-प्रसार हुआ है, उसका कारण उनमें लोक जीवन की सरस भाषा के माध्यम से लोक-संस्कृति की मधुर अभिव्यक्ति ही है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "सभी मानव सुलभ, सामान्य जीवन-दशाओं का चित्रण करते हुए सूर ने वल्लभीय भक्तिमार्ग के आधार पर इनका पर्यवसान प्रभु की पूजा में ही किया है। गोपियों के व्रत, नियम आदि का उद्देश्य तो स्पष्ट रूप से ही कृष्ण की प्राप्ति है। अन्य चरित्रों के क्रिया-कलाप की भी अन्तिम परिणति कृष्ण-भक्ति में ही है। यशोदा और नन्द वात्सल्य प्रेम के रूप में, उद्धव और गोप सखा-भाव से, गोपियाँ और राधा दाम्पत्य प्रेम-भाव से कृष्ण की भक्ति करती हैं।"[1] स्नेह, एकता और प्रेम की यह त्रिवेणी लोक-संस्कृति में प्रवाहित होती है और इन्हीं तत्वों का संगम अपने काव्य में कराना सूरदास जी का परम लक्ष्य था।

कृष्ण-कथा और लोक-जीवन का सम्बन्ध

कृष्ण कथा विविध सोपानों से अग्रसर होकर निरन्तर विकसित हुई

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ ३३७

है और आज उसका एक सर्वमान्य लोक-प्रचलित स्वरूप बन गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि में कृष्ण कथा का जो स्वरूप वर्णित है, उसे लोक-जीवन में मान्यता प्राप्त हुई है। भारत का समग्र हिन्दू समाज उस कृष्ण-कथा-प्रसंग से सुपरिचित है तथा उसके प्रति उसमें अगाध आस्था-भावना भी विद्यमान है।

भारतीय लोक-जीवन अनादि काल से धर्म और उपासना के प्रति आस्थावान् रहा है। प्रारम्भ में प्रकृति के अनेक तत्वों के लोक-रंजक और संहारक स्वरूप से आकर्षित या आतंकित होकर उनकी पूजा, उपासना और भक्ति करने की पद्धति संचरित होती रही। काल-क्रम से यह धर्म का प्रधान अंग बन गई और उसमें अवतारी पुरुषों को भी स्थान मिला। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि को परम सत्तावान् भगवान समझकर उनकी भक्ति की जाने लगी। भक्ति का यह तत्व ही मूलतः लोक-जीवन का प्रमुख तत्व है। इस भक्ति में जब सगुण भावना का सन्निवेश हो जाता है तो लोक-जीवन लोक-नायकों को वरेण्य समझकर उनकी उपासना तथा भक्ति करने लगता है। कृष्ण की भक्ति का भी लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कृष्ण वास्तव में लोक-जीवन तथा लोक संस्कृति के नियामक भी रहे हैं। डॉ० सत्येन्द्र के शब्दों में "कृष्ण की कथा का लोक-वार्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल भारतीय साहित्य को ही राम और कृष्ण लोक वार्ता से नहीं मिले, अन्य भाषाओं के साहित्यों को भी मुख्य-मुख्य जातीय अभिप्राय ऐसे ही लोकवार्ताओं से मिला करते हैं और वहाँ से साहित्यकार उन्हें ग्रहण कर लोक-विश्वास की मुख्य तीलियों को बिना विचलित किए, उन अभिप्रायों में नूतन कथा-व्याख्या प्रतिष्ठित करता है। इसी कारण किसी भी साहित्य में महान् जातीय पुरुष प्राचीन परंपरा अथवा पुराणों से ही अवतीर्ण होते हैं और समय के अनुसार नयी साहित्यिक व्याख्या ग्रहण करते जाते हैं।"[१]

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ५२

यही कारण है कि राम और कृष्ण अनेक रूपों में विश्व-जीवन में अनादि काल से समाहित हैं। यह लोक-जीवन इन अवतारी पुरुषों की कथाओं में नए तत्वों का भी समावेश करता रहता है, जिसके कारण उनमें देश, प्रदेश अथवा समाज की मानव-संस्कृति का वास्तविक रूप तरलित होने लगता है।

कृष्ण कथा के सम्बन्ध में कृष्ण के चार महत्वपूर्ण स्वरूप हैं, यथा—(१) गोपी जन-वल्लभ नन्द यशोदा के दुलारे कन्हैया, (२) अर्जुन को गीता का उपदेश देनेवाले कर्मयोगी श्रीकृष्ण, (३) उपनिषदों तथा पुराणों में वर्णित अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा तथा (४) राजनीतिक श्रीकृष्ण, युग-प्रवर्तक और क्रान्तिकारी जन-नेता।

इन सभी स्वरूपों में से पहला स्वरूप अधिक सरस तथा आकर्षक था, अतएव लोक-जीवन में सरसता का संचार करने की दृष्टि से इसी स्वरूप को अधिक मान्यता प्राप्त हुई। इस रूप में कृष्ण केवल ब्रज के वन्य-प्रान्तर में तथा वीथियों में गोपियों के साथ रास-लीला करते हुए नृत्य-मग्न दिखाई पड़ते हैं, जिसमें वंशीवादन की क्रिया में संलग्न होने की अवस्था में उनकी त्रिभंगी मुद्रा लोक-मानस को आनन्दित करती है।

इस रूपमें सारा ब्रज कृष्ण और राधा तथा गोपियोंके सामूहिक आमोद-प्रमोद, खेलकूद, और विलासमें आकण्ठ मग्न होकर रस-ग्रहण करता दिखाई पड़ता है। इस रूप में जिस कृष्ण-कथा का लोक-जीवन में विकास हुआ, वह लोक-संस्कृति की ही देन है। "कृष्ण कथा का स्वरूप भी लोक-वार्ता ने प्रस्तुत किया है। कृष्ण, नारायण, वासुदेव, गोपाल आदि एक ही व्यक्तित्व नहीं, कई व्यक्तियों के सम्मिलित रूप हैं।...यह सम्मिलित रूप लोकमानस का ही प्रदान किया हुआ है।"[1]

सूरदास जी के परम आराध्य कृष्ण का जन्म, लालन-पालन तथा विकास ब्रज के सामान्य जन-जीवन में हुआ था। अतः उनके सभी मित्र एवं उनके संपर्क में आनेवाले अन्य प्राणी, साधारण ग्वाले तथा सामान्य

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र —पृष्ठ ५१

प्राणी के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके बीच में कृष्ण अत्यन्त तन्मय होकर उन्मुक्त विहार करते हैं, खेलते-कूदते हैं तथा विभिन्न लीलाएँ करते हैं। अपने मित्रों की सामाजिक स्थिति से ऊपर उठकर उच्चता की भावना से कृष्ण ने कभी उनके साथ व्यवहार नहीं किया और न उन्हें कभी अत्यन्त साधारण हीन-जन माना। उन्होंने उन साधारण गोप-गोपियों से तादात्म्य स्थापित कर लिया था—आत्मा परमात्मा में लीन हो गई थी। यही कारण है कि उनकी जितनी भी लीलाएँ, जितने भी क्रियाकलाप हुए, उनमें हमें सामान्यता के दर्शन होते हैं। सूरदास जी ने अपने चरित्रनायक में अनेक अभिनव सामाजिक तत्वों की भी उद्भावना की, जिसके कारण श्रीकृष्ण सामान्य लोक-जीवनके अपरिहार्य अंग बन गये। "कृष्ण तो मूलतः लोक-वार्ता की देन हैं और उनके विस्तृत वृत्त में अनेक शुद्ध लोक-वार्ताएँ हैं। किन्तु सूर ने महाभारत अथवा भागवत से ही कृष्ण-वृत्त को नहीं लिया, उन्होंने कई ऐसी बातें उसमें सम्मिलित की हैं, जो नई हैं। ये नई बातें लोक-मेधा से उन्हें प्राप्त हुई थीं।"[१]

कृष्ण-कथा में लोक-जीवन के सामान्य सांस्कृतिक तत्वों ने—जन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों, दधिकाँदौ, दीपावली, अन्नकूट, गोबर्द्धन पूजा, फाग (होली) आदि पर्व-उत्सवों तथा रासादिक मनोरंजन के उपादानों का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ जोड़कर लोक-जीवन और कृष्ण-कथा के सम्बन्धको अन्योन्य बना दिया है। श्री कृष्ण-जन्माष्टमी के अवसर पर दिखाई पड़नेवाले लोक-जीवन के उल्लास के क्षणों में भी कृष्ण-कथा अपना मौलिक स्वरूप दिखा जाती है। गोवर्द्धन पूजा दीपावली के अवसर पर होनेवाला एक महत्वपूर्ण उत्सव है और उसके द्वारा कृष्ण-कथा के साथ मानव जीवन का निकटतम सम्बन्ध घटित होता है। वंशीवादन क्रिया में लोक-जीवन कृष्ण की मुरली की ही प्रतीति करता

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ६८

है। संक्षेप में कृष्ण-कथा और लोकजीवन का सम्बन्ध अटूट है और युग-युगान्तर तक अटूट ही बना रहेगा, क्योंकि उसे लोक-जीवन की सांस्कृतिक पीठिका का संबल प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त हमारे देश में प्रचलित अनेक लोकगीतों में कृष्ण-कथा समाविष्ट है। कजली, होली (फाग), रसिया आदि के द्वारा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का गान आज भी लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। विभिन्न पर्व-उत्सव एवं त्यौहारों के अवसरों पर लोक-जीवन में विशेष रूप से महिलाओं द्वारा जो भित्ति-चित्र बनाने की प्रथा है, उसमें भी कृष्ण कथा को अभिव्यक्ति मिलती है। साथ ही जीवन से निकट सम्बन्ध रखने वाली कलाएँ ---चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य आदि में भी कृष्ण का व्यक्तित्व अभिनिविष्ट है। काव्य-कला का कृष्ण-कथा से संबंध तो सर्व-विदित ही है। भक्तिकाल और रीतिकाल का काव्य तो कृष्ण-कथा से ही बना है।

पुष्टि-मार्ग में सांस्कृतिक पर्वोत्सवों का महत्व

महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में परब्रह्म का रसात्मक स्वरूप मान्य है। उनका यह मत था कि भगवान् कृष्ण ही रसात्मक ब्रह्म हैं और वही पुष्टिमार्ग के परम आराध्य देव हैं। रसात्मक कृष्ण चार व्यूहों में ब्रज में प्रकट हुए थे---वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण। यही चार व्यूह श्रीकृष्ण द्वारा मोक्ष, वंशवृद्धि, धर्मोपदेश और संहार में प्रयुक्त होते हैं। श्रीकृष्ण की समस्त लीलाएँ रसात्मक हैं। उनका धर्ममय स्वरूप भाव-रूप है। यह भाव ब्रज और भक्त के हृदय में ही होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ब्रज में और भक्तों के हृदय में निवास करते हैं। जहाँ भाव नहीं है, वहाँ वे नहीं बसते। वे भक्त की भावना के अनुसार प्रकट होते हैं और उसकी मनोकामना पूर्ण करते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण का स्वरूप और लीलाएँ नित्य हैं, शाश्वत हैं। वेद की ऋचाओं को भगवान् ने संयोग-सुख प्रदान करने का जो आश्वासन दिया था, उसी की पूर्ति के लिए उन्होंने ब्रज में

अवतार धारण किया और गोपियों के रूप में ऋचाओं के साथ अनेक संयोग-पूर्ण उन्मुक्त आनन्दमयी लीलाएँ कीं।[१] श्रीकृष्ण लोकपुरुष थे, लीलापुरुषोत्तम थे और लोक-जीवन में ग्राह्य पर्व और उत्सवों के अवसर पर भी उन्होंने आनन्दमयी लीलाएँ करके लोकरंजन किया।

रास हरि-लीला का प्रमुख अंग है। यह 'रास' शब्द 'रस' से बना है। इसीलिए रासलीला की भक्ति सरस भक्ति कहलाती है। यह रास उत्सव तथा नृत्य के रूप में, नौटंकी तथा स्वाँग के रूप में आज भी ब्रज-संस्कृति का अंग बना हुआ है। वास्तव में पुष्टिमार्ग पर्व और उत्सव जैसे सांस्कृतिक तत्वों की पीठिका पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के कुल में श्री कल्याणराय के पुत्र महाप्रभु हरिराय ने 'शिक्षापत्र' (संस्कृत) में जो विचार प्रकट किये थे, उसका उनके अनुज श्री गोपेश्वर ने ब्रजभाषा में इस प्रकार अनुवाद किया है—

> "जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीला भाव करके पुष्टिमारग की रीति सों मन लगाइ कै करै तथा नित लीला, खण्डिता, मंगलभोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थापन, सैन पर्यन्त, पीछे रासलीला मानादिक जलथल विहार इत्यादि की भावना करिये।"[२]

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि पुष्टिमार्ग के नियमों के अनुसार श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबद्ध करके जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा, रास लीला आदि का उत्सव मनाना श्रेयस्कर है। इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि पुष्टिमार्ग में सांस्कृतिक पर्वोत्सवों का बहुत महत्व है। ये सब भगवान् की लीलाओं के ही अंग हैं। इन पर्वोत्सवों का सांस्कृतिक महत्व

---

१. गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋचौ वै गोपकन्यकाः।
देवकन्याश्च राजेन्द्र तपोयुक्ताः मुमुक्षवः॥
(पद्मपुराण—पाताल खंड—अध्याय ७३, श्लोक ३२)

२. सूरदास और भगवद्भक्ति—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ ९६

तब और बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार जिन मन्दिरों में सेवा-पद्धतियाँ विकसित हुईं, उनमें अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड तथा विधि-विधानों का भी विकास हुआ। अष्टयाम सेवा विधि में जहाँ श्रीकृष्ण के व्यक्ति-पक्ष की प्रधानता है, वहीं पर्वोत्सव सेवा विधि में उनका सामाजिक पक्ष भी प्रगट होता दिखाई पड़ता है। इन सेवाओं के आयोजन के समय श्रीनाथ जी का शृंगार अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और कलात्मक ढंग से होता है, उनका वेश-विन्यास तथा आरती भी इसी सुरुचि की द्योतक है। मन्दिरों को अनेक प्रकार से सजाने में भी यही कला-पक्ष अभिव्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त सेवा के नाम पर अनेक प्रकार के उत्सव तथा आमोद-प्रमोद की भी व्यवस्था होती है। श्रीकृष्ण के भोग के लिए अनेक प्रकार के पकवानों की व्यवस्था होने के कारण पाककला को विकसित होने का भी अवसर पुष्टिमार्ग ने प्रदान किया। इन पकवानों की विस्तृत सूची पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों के पदों में देखने को मिलती है। सूरदास जी के अनेक पदों में भी यह सूची स्थान पा गई है। उनके एक पद में तो समस्त संभव पकवानों के नाम आ गए हैं।[1] वेशविन्यास, गृह-प्रसाधन तथा संगीत और काव्य को भी पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ, जिससे इन कलाओं का निरन्तर विकास होता रहा। संगीत की दृष्टि से आरती तथा अन्य अवसरों के पदों में विभिन्न राग-रागिनियों की उद्भावना भी हुई। उदाहरण के लिए मंगला आरती के समय वीणा और सितार पर भैरव, विभास और रामकली रागों में पद गाए जाते रहे। शृंगार के अवसर पर गाए जाने वाले पदों में बिलावल राग की प्रधानता रहती थी। राजभोग के समय जो पद गाए जाते थे, उनमें सारंग राग प्रधान होता था। इसी प्रकार उत्थापन के समय के पदों में सोरठ, भोग के पदों में गौड़ी और पूर्वी, यमन और विहाग आदि राग प्रधान होते थे। व्रत तथा

---

१. देखिए पद 'भोजन भयो भावते मोहन'—सूरसागर—पूर्वार्द्ध (संस्करण २०१५) पद १८३१

पर्वोत्सवों के समय गाने के लिए जो काव्य-सृजन होता था, उसमें भी संगीत तथा राग-रागिनियों का वैविध्य रहता था। वर्षोत्सव, वसन्तोत्सव, होली रासादिक में नृत्य को भी स्थान प्राप्त होने के कारण नृत्यकला को भी विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त हिन्दू मुसलमान सभी पुष्टिमार्ग में सम्मिलित हुए, जिससे कृष्ण-भक्ति को पर्याप्त व्यापकता प्राप्त हुई।

अष्टयाम सेवा-विधि

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में हरि-स्वरूप-सेवा का जो विधान किया था, उसमें श्रीकृष्ण की नित्य तथा नैमित्तिक लीलाओं को प्रधानता देते हुए उनकी आठ प्रहरों की विविध लीलाओं का गायन और तदनुकूल सेवा-विधि-का प्रबन्ध किया गया था। इस कीर्त्तन-सेवा-विधि को आगे चलकर महाप्रभु के पुत्र गो० विट्ठलनाथ ने सम्यक् स्वरूप प्रदान किया। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य और संयोग की प्रधानता थी। यह सेवा-विधि आठ भागों में विभाजित है, जिसे क्रमशः मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, आरती और शयन की संज्ञा दी गई थी। इन विभिन्न सेवाओं के आठ समय निश्चित किए गए हैं और इसीलिए इसे 'अष्टयाम-सेवा' का अभिधान दिया गया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में अब भी इन आठों समय की सेवाओं को झाँकियों के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। ऐकान्तिक भगवदाश्रय-भाव ही इस अष्टयाम सेवा-विधि की मूल विशेषता है। इसके अतिरिक्त अन्य कृष्ण भक्ति के संप्रदायों—गौड़ीय वैष्णव, राधा-वल्लभीय, हरिदासी, निंबार्क आदि में भी अष्टयाम सेवा प्रकारान्तर से प्रचलित है।

ब्रज की स्त्रियाँ भगवान् कृष्ण के बाल-रूप के प्रति अपने मातृत्व के गुण के कारण वात्सल्य भावना से प्रेरित होकर उनकी प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक, जागरण से लेकर शयन तक के विभिन्न रूपों की सेवा करती रहीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी जब ब्रज में आए तो वे नारी-समाज द्वारा गृहीत बाल-कृष्ण की इस सेवा-पद्धति से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने

भी भक्ति-भावन भगवान् कृष्ण की सेवा की आठ पद्धतियों का प्रवर्तन किया।

अष्टयाम सेवा-विधि का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—मंगला

यह सेवा प्रातःकाल ५ बजे से ७ बजे तक होती है, जिसमें गुरु-स्मरण तथा वन्दना आदि के पश्चात् श्रीकृष्ण को जगाना, कलेवा कराना (मंगल भोग), आरती आदि क्रियाएँ संपन्न होती हैं। इसमें यशोदा की वात्सल्य भावना का अनुसरण होता है और कृष्ण के वस्त्र तथा अन्य आवश्यक सामग्रियाँ ऋतु के अनुकूल होती हैं। इस अवसर पर परमानन्ददास जी अनुराग, खण्डिता भाव, जागरण तथा दधि-मंथन के पद गाते थे।

२—श्रृंगार

यह सेवा प्रातः ७ बजे से ८ बजे तक होती है, जिसमें श्रीकृष्ण को उष्ण जल से स्नान करा कर, तेल-फुलेल लगाकर सुरुचिपूर्ण वस्त्राभरणों से सुसज्जित किया जाता है और तब श्रीकृष्ण का श्रृंगार-भोग होता है। नन्ददास जी इस अवसर पर बाल्य-सौन्दर्य, वेश-भूषा, बाल-क्रीड़ा के पद गाया करते थे।

३—ग्वाल

यह सेवा प्रातः ९ बजे से १० बजे तक होती है, जिसमें ग्वाल-भावना से घैया (दुग्ध-फेन सा पदार्थ) अरोगाई (खिलाना) जाती है। 'ग्वाल की घैया की तवकढ़ी अरोगाय के डबरा धर के सद्यः फेन समर्पिए।' इस अवसर पर गोविन्दस्वामी सख्य भाव के पद, कृष्ण के खेल-चौगान, चकडोरी आदि गोचारण, गो-दोहन, माखन-चोरी, पालना, घैया आरोगन के पद गाते थे।

४—राजभोग

यह सेवा १० बजे से १२ बजे तक होती थी, जिसमें शीत काल में घर के भीतर नन्द आदि के साथ भोजन, धूप निकल आने पर गो-चारण के लिए यशोदा द्वारा भेजा जाना, वन का कलेवा (छाक) बाद में सखियों द्वारा भेजना, इसके बाद श्रीकृष्ण का राजभोग, आरती और फिर 'अनोसर' (शयन) क्रियाएँ संपन्न होती हैं। इस अवसर पर अष्टछाप के सभी कवि (कुंभनदास मुख्य रूप से) छाक के पद गाते थे।

५—उत्थापन

यह सेवा सायंकाल ३।। बजे से ४।। बजे तक होती थी, जिसमें छः घड़ी दिन शेष रह जाने पर श्रीकृष्ण को जगाया जाता है। यह उत्थापन दर्शन है। इसमें सखियाँ कुंज-भवन के दरवाजे के सामने खड़ी हो कर श्रीकृष्ण को गोचारण के लिए प्रस्थान करने हेतु अनुनयपूर्वक जगाती हैं। इस अवसर पर सूरदास जी गो-टेरन तथा वन की लीलाओं के पद गाते थे।

६—भोग

सायंकाल ५ बजे के लगभग यह सेवा होती है। सखियों के अनुनय पर श्रीकृष्ण जागते हैं और वन में जाकर गोवर्द्धन पर कन्द-मूल-फल आरोगते (खाते) हैं। सभी सखा-सखी सामूहिक रूप से दर्शन करते हैं। इस अवसर पर अष्टछाप के सभी कवि (चतुर्भुजदास मुख्य रूप से) कृष्ण-रूप, गोपी-दशा, मुरली, रूप-माधुरी, गाय, गोप आदि प्रसंगों के पद गाते थे।

७—संध्या आरती

यह सेवा लगभग साढ़े छः बजे सायंकाल होती है। श्रीकृष्ण वन से गायों को लेकर वापस घर आते हैं। यशोदा का हृदय वात्सल्य-भावना से ओतप्रोत होता है। वे श्रीकृष्ण की आरती करती हैं। इस अवसर पर छीतस्वामी श्रीकृष्ण के गाय तथा गोपों सहित वन से वापस लौटने,

गो-दोहन, घैया, वात्सल्य-भाव से यशोदा के बुलाने आदि प्रसंगों पर पद गाते थे।

८—शयन

यह सेवा रात्रि के ७ बजे से ८ बजे तक होती है। श्रीकृष्ण जी सायंकाल का भोजन (ब्यालू), (ब्यास-शयन-भोग) करते हैं, फिर आरती की जाती है, यशोदा दुग्ध-धवल शय्या पर श्रीकृष्ण को सुला देती हैं। उन्हें निद्रित जान कर वे एक सखी को उनके पास छोड़ कर लौट जाती हैं। तब सखियाँ दर्शन करने आती हैं और श्रीकृष्ण को राधा के शयन-कक्ष में चलने के लिए प्रेरित करती हैं। श्रीकृष्ण जी उठकर राधा के शयन-कक्ष में मन्द-मन्द गति से चले जाते हैं। इस अवसर पर कृष्णदास जी अनुराग, गोपी भाव से निकुंज-लीला तथा संयोग-शृंगार के पद गाते थे।

यही महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित दैनिक सेवा-पद्धति है, जिसे 'अष्टयाम सेवा' कहा जाता है। इस सेवा-विधि की मूल विशेषता यह है कि प्रत्येक 'याम' में सेवा में प्रवृत्त भक्त का मानस माता यशोदा के हृदय में स्फुरित वात्सल्य भाव से निरन्तर संवलित रहता है।

सूरदास जी के समय से ले कर आज तक भी पुष्टि-संप्रदाय के मन्दिरों में अष्टयाम-सेवा का यह क्रम निरन्तर चला आ रहा है। अष्टयाम-सेवा के इन समस्त प्रकारों पर सूरदास जी ने पद-रचना की है। यद्यपि सूरसागर तथा सूर-सारावली में कतिपय सेवाओं के ही पद उपलब्ध हैं, तथापि सूर-निर्णय के विद्वान् लेखकों ने आठों 'याम' की सेवा से सम्बन्धित सूरदास जी के पदों को उद्धृत किया है[1] जिनकी प्रामाणिकता के विषय में चाहे विद्वान् एकमत न हों, परन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि ब्रज प्रदेश में पुष्टि-संप्रदाय की प्राचीन और अर्वाचीन गतिविधियों का उक्त

---

१. देखिए सूर निर्णय (सर्वश्री परीख और मीतल)—पृष्ठ २२० से २२६ तक।

विद्वानों ने गम्भीर अध्ययन और शोध किया है तथा सूरदास जी से संबंधित अद्यावधि चली आती हुई अनेक भ्रान्तियों का निराकरण सुदृढ़ तर्कों के आधार पर किया है। अतः यह संभावना हो सकती है कि 'सूर-निर्णय' में उद्धृत अष्टयाम-सेवा सम्बन्धी पद हमारे सूरदास जी के ही हों।

अष्टयाम-सेवा अपने समस्त विधि-विधानों तथा माहात्म्य के साथ 'सूर-सारावली' के निम्नलिखित पद में अभिव्यक्त हुई है—

भजो गोपाल भूलि जिन जाउ। मानुष जन्म कौ यही है लाउ।

× × ×

सेवा कौ फल सेवा पावै। सूरदास प्रभु हिरदै गावै[1]।

सूरदास जी का उपर्युक्त विस्तृत पद जहाँ एक ओर पुष्टि संप्रदाय की अष्टयाम सेवा का स्वरूप स्पष्ट करने में समर्थ है, वहीं इस सेवा के प्रति सूरदास जी की आन्तरिक निष्ठा और आस्था-भावना को भी अभिव्यक्त करने में सक्षम है।

वर्षोत्सव पद्धति

जिस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने श्रीकृष्ण की नित्य नैमित्तिक सेवा-पद्धति का विधान किया था, उसी प्रकार अपने पुष्टिमार्ग में वर्षोत्सव सेवा पद्धति की भी व्यवस्था की थी। वर्षोत्सव पद्धति के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की नित्य और अवतारी लीलाओं के वर्ष भर के उत्सव-पर्व तथा षट् ऋतुओं के भी उत्सव-पर्वादिक विशेष अवसरों पर की जाने वाली सेवाएँ आती हैं। इन उत्सवों से युक्त संसार ही ईश्वर की सृष्टि है और यही सत्य है। इस आधार पर पुष्टिमार्ग में लोक-पर्वोत्सवों को भी सेवा-विधि में समाहित किया गया है। श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर डोल तक की लीलाएँ, षट्ऋतुओं

---

१. सूर-सारावली (संपादक—श्री प्रभुदयाल मीतल)—पृष्ठ ८९-९०

के उत्सव, लौकिक तथा वैदिक पर्व और विविध जयन्तियों का समावेश इन वर्षोत्सवों में किया गया है। इस पद्धति को प्रचलित करने के पीछे महाप्रभु वल्लभाचार्य की यह भावना प्रधान थी कि संसार में जो पर्व, उत्सव और जयन्तियाँ होती हैं, उनमें मनुष्य भगवान् की लीलाओं का अनुभव करने लगे, ताकि गृहस्थी के झंझटों में फँसे रह कर भी वह उससे मुक्त हो सके। महाप्रभु श्री गोपेश्वर जी के अनुसार हरिराय जी का कथन इस प्रकार है—

> "जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीला भाव कर कैं पुष्टिमारग की रीति सों मन लगाइ कैं करैं। तथा नित्त लीला, खंडिता, मंगलभोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थापन, सैन पर्यन्त, पीछे रासलीला, मानादिक जल थल विहार इत्यादि की भावना करिये।"[1]

श्रीनाथ जी के मन्दिर में नैमित्तिक आचारों में षट्ऋतुओं के उत्सव, पर्व, रक्षाबन्धनादि, अवतारों की जयन्तियाँ, हिंडोला, फाग, वसन्त, मकर-संक्रान्ति आदि मनाए जाते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के समय में इनका रूप संक्षिप्त था, परन्तु बाद में उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने उन्हें पर्याप्त विस्तार प्रदान किया। डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में—"इस नित्य क्रिया के साथ नैमित्तिक आचार भी चलते थे। मंदिर में वसन्तोत्सव मनाया जाता था, फाग खेला जाता था। वृन्दावन, गोकुल और मथुरा के मन्दिरों में श्रावण मास के हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ तो अतीव प्रख्यात हैं। आश्विन के दिनों में रास लीला मनाई जाती थी। इस प्रकार कृष्ण भक्तों का जीवन रंग-रहस्य और विनोद-प्रमोद में व्यतीत हो जाता था। आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज तक किसी भी उपासना मार्ग में नहीं देखा गया।"[2]

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ १३६

२. —वही—पृष्ठ १३९

वर्षोत्सव पद्धति का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. नित्य तथा अवतारी लीलाओं के उत्सव

संवत्सर, गनगौर, अक्षय तृतीया, रथयात्रा, पवित्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, साँझी, नवरात्रि, रास, अन्नकूट, गोपाष्टमी, व्रतचर्या।

२. षट्ऋतुओं के उत्सव

वसन्त ऋतु का उत्सव डोल, ग्रीष्म ऋतु का उत्सव फूलमण्डली, वर्षा ऋतु का उत्सव हिंडोरा, शरद ऋतु का उत्सव रास (द्वितीय दिन का), हेमन्त ऋतु का उत्सव देव-प्रबोधिनी का जागरण, शिशिर ऋतु का उत्सव होली।

३. लोक-त्यौहार

रक्षाबन्धन (ब्राह्मणों का), दशहरा (क्षत्रियों का), दीपावली (वैश्यों का), होली (शूद्रों का) इत्यादि।

४. वैदिक पर्व

मकर-संक्रान्ति, ज्येष्ठाभिषेक आदि।

५. अन्य अवतारों की जयन्तियाँ

राम जयन्ती (रामनवमी), नृसिंह जयन्ती, वामन जयन्ती।

इन उत्सवों में आसक्ति रूप स्वकीया स्त्री भावना वाली भक्ति तथा व्यसन रूप परकीया भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। त्यौहार और वैदिक पर्वों में लोक-भावना और वेद की ब्रह्म भावना का आधार लिया गया है। लोक-भावना वाले त्यौहारों का समावेश बाल-भावना में तथा ब्रह्म भावना वाले पर्वों का समावेश माहात्म्य ज्ञान से संबंधित स्वकीया स्त्री भावना वाली भक्ति में हो जाता है।[1]

---

१. सूर-निर्णय—सर्वश्री परीख और मीतल—पृष्ठ २२७

सूरदास जी ने हरि लीला के पदों में इसी नित्य नैमित्तिक आचार-पद्धति और वर्षोत्सव पद्धति का अनुसरण किया है। यही कारण है कि सूर-सागर तथा सूर-सारावली में अधिकांशतः ऐसे पद समाहित हैं, जो या तो श्रीकृष्ण की अष्टयाम सेवा-भावना से प्रेरित हैं अथवा वर्षोत्सव सेवा भावना से। इस प्रकार वर्षोत्सव सेवा के अन्तर्गत आने वाले अधिकांश पर्व, उत्सव तथा जयन्तियों का वर्णन सूर-साहित्य में उपलब्ध होता है, परन्तु हम यहाँ स्थानाभाव के कारण प्रसंगवशात् कतिपय उदाहरण देकर ही सन्तोष करेंगे:—

फूल डोल

गोकुलनाथ बिराजत डोल।
संग लिए बृषभानु-नन्दिनी पहिरे नील निचोल।[1]

होली

सूर-सागर तथा सूर-सारावली में होली के अनेक पद हैं। सूर-सागर के दशम स्कन्ध में वसन्त लीला के अन्तर्गत होली की पूर्ण छटा देखने को मिलती है तथा उसमें ब्रज-संस्कृति में होली के स्वरूप की अभिव्यक्ति भी अपनी समग्रता में उभरती हुई दिखाई पड़ती है। जैसे—

हरि संग खेलति हैं सब फाग।
इहिं मिस करति प्रगट गोपी उर-अन्तर कौ अनुराग।[2]

सूर-सारावली का आरम्भ तो होली के खेल के साथ ही होता है और उसमें समस्त सृष्टि-क्रम होली के खेल के ही रूप में दिखलाया गया है।[3]

---

१. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध—(सं० २०१२)—पद सं० ३५३७

२. वही—पद सं० ३४७८

३. खेलत यहि विधि हरि होरी, हो होरी, हो वेद विदित यह बात। टेक।—सूर-सारावली—पृष्ठ १

व्रतचर्या

ब्रज बनिता रबि कौं कर जोरें।
सीत भीत नहिं करत छहौं ऋतु त्रिविध काल जमुना जल खोरें।[1]

जन्मोत्सव

नित प्रति मंगल रहत महर कें नित प्रति बजत बधाई।
नित प्रति मंगल कलस धरावत, नित प्रति बेद पढ़ाई।[2]

जन्मोत्सव का उपर्युक्त उद्धरण सूर-सारावली के नित्य लीला प्रसंग में मिलता है। इसी प्रकार सूरसागर में भी इस उत्सव का सविस्तार वर्णन हुआ है, जिसे हम अगले अध्याय में देखेंगे।

सूर-सारावली में सूरदास जी ने वर्षोत्सव का क्रमबद्ध वर्णन किया है और वर्षोत्सव का यह क्रम पुष्टि-संप्रदाय के मन्दिरों में अद्यावधि प्रचलित है।

ऊपर हमने वर्षोत्सव पद्धति का विवेचन करते हुए यहाँ-वहाँ से कतिपय संकेत मात्र प्रस्तुत किये हैं, जिसका कारण यह है कि हमारे प्रबन्ध का अगला अध्याय सूर-साहित्य में ऐसे ही तत्वों का अनुसंधान करने से संबंधित है। अतः उन बातों को पुनरावृत्ति-दोष से बचने के उद्देश्य से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

---

१. सूर-सागर— पूर्वार्द्ध (सं० २०१५) पद सं० १४००
२. सूर-सारावली (श्री प्रभुदयाल मीतल)—पद सं० ८७०

षष्ठ अध्याय

सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति के विविध रूप

(क) संस्कार

मानव-जीवन के मानसिक संकल्पों और विचारों को विकासोन्मुख करने की दृष्टि से संस्कारों का विशेष महत्व है। मानव-जीवन को पुष्ट करने में सहायक प्रक्रियाओं को संस्कार कहा जा सकता है। जीवन के विकास-क्रम के साथ इन संस्कारों के अनेक प्रकार होते हैं। ये संस्कार बालक के माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु-पर्यन्त संचरणशील रहते हैं और व्यक्ति की उन्नति, समृद्धि, कल्याण एवं मानसिक परिष्करण की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। विभिन्न गृह्य सूत्रों तथा स्मृतियों में संस्कारों की संख्याएँ भिन्न भिन्न हैं। गौतम धर्म सूत्र में तो इनकी संख्या चालीस तक पहुँच गई है, परन्तु आधुनिक संस्कार-विधियों में षोडश संस्कार स्वीकृत हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म (मुंडन), कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अंत्येष्टि—ये आधुनिक षोडश संस्कार हैं,[1] परन्तु इनमें से प्रारम्भ के तीन (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन) तथा वानप्रस्थ और संन्यास अब संस्कार के रूप में प्रायः अपना अस्तित्व खो चुके हैं और 'गौना' सुदीर्घ काल से इन संस्कारों की सूची में सम्मिलित हो गया है।[2] इस प्रकार प्रायः बारह संस्कार ही हिन्दू-संस्कृति में अद्यतन रूप में विद्यमान हैं।

---

१. भारतीय संस्कृति—श्री शिवदत्त ज्ञानी—पृष्ठ ९५-९६

२. "भारतीय धर्मशास्त्रियों ने षोडश संस्कारों का विधान किया है।

—क्रमशः

सूरदास जी यद्यपि मूलतः भक्त कवि थे, परन्तु ब्रज-प्रदेश ही उनकी भक्ति-साधना का क्षेत्र होने के कारण ब्रज-संस्कृति के अनेक तत्वों का भी समावेश स्वभावतः उनके काव्य में हो गया है। लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का लीला-गान ही उनका चरम लक्ष्य था। अतः उन्होंने उनके जन्म से लेकर विवाह तक के कतिपय मुख्य संस्कारों का तथा सूरसागर के अन्य चरित-नायकों के प्रसंग में अंत्येष्टि जैसे संस्कारों का भी वर्णन किया है। उन्होंने मुख्य रूप से पुत्र-जन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन, उपनयन (वेदारम्भ), विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कारों का ही वर्णन किया है। यहाँ हम सूर-साहित्य में अभिव्यक्त संस्कारों के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जातकर्म (पुत्र-जन्म) संस्कार

दम्पति की चरम कामना पुत्र-प्राप्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। कोई भी पिता पुत्र उत्पन्न करके ही पितृ-ऋण से उऋण समझा जाता है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' का सिद्धान्त मानव-जीवन में अनादि काल से संचरित होता आ रहा है। पुत्र का मुख देखने की साध प्रत्येक मानव में बलवती रहती है। यह साध पूर्ण होने पर जातकर्म संस्कार एवं तत्सम्बधी (संस्कार विषयक) विधि-विधान एवं उत्सव संपन्न होते हैं। इस संस्कार के अवसर पर ब्रज में आचार विषयक अनुष्ठानों का लम्बा अनुक्रम है, जो सोहर गाने से आरम्भ होकर, चरु अथवा मिट्टी के घड़े में जच्चा के उपयोग के लिए पानी

गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक कोई न कोई संस्कार होता ही रहता है। यद्यपि षोडश प्रकार के संस्कार बतलाए गए हैं, तथापि पुत्र-जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गौना और मृत्यु प्रधान संस्कार माने जाते हैं।"

—डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय—हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास —षोडश भाग—प्रस्तावना—पृष्ठ ५८

औटाया जाना, नए घड़े पर गोबर से स्वस्तिक तथा चक्र का चिह्न बनाना, चरुए पर चित्रकारी करना, उसमें औषधियाँ डालकर जल औटाना, कौरों पर साँतिए रखना आदि रूपों में संपन्न होता है। नृत्य, वाद्य, दान, भोज तथा अन्य प्रादेशिक प्रक्रियाओं का समावेश इस उत्सव को अधिक प्राणवान् बना देता है।

इस संस्कार के अवसर पर लोक-जीवन में दिखाई पड़ने वाले विशेष प्रकार के उल्लास को सूरदास जी ने अपने अनेक पदों में साकार स्वरूप प्रदान किया है। यों तो उन्होंने राम और कृष्ण दोनों के जन्म-संस्कारों का वर्णन किया है, परन्तु कृष्ण के जन्म-संस्कार का वर्णन करने में सूरदास जी में जो तन्मयता दिखाई पड़ती है, वह राम के जन्म-वर्णन में नहीं। राम-जन्मोत्सव को उन्होंने केवल तीन पदों में चलता कर दिया है,[1] परन्तु कृष्ण-जन्मोत्सव तथा तत्सम्बन्धी संस्कार, आचार-व्यवहार, सोहर-गान तथा अन्य परंपरागत रीति-रिवाजों को सविस्तार रस ले-लेकर चित्रित किया है।[2]

यशोदा की नींद खुली तो पुत्र का मुख देखकर वे परम पुलकित हो उठीं। अत्यन्त हर्षित होकर उन्होंने नन्द को बुलवा भेजा। नन्द ने आकर पुत्र का मुख देखा—इससे उन्हें जितना सुख हुआ, उसके परिमाण की सूरदास जी भी कल्पना नहीं कर सके।[3] पुत्र-जन्म देवताओं की प्रसन्नता और पूर्व सुकृत्यों का फल माना जाता है। यशोदा भी पहले नन्द को बुलवाने को व्यग्र हैं,

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५) पद सं० ४६० से ४६२

२. वही—पद सं० ६२२ से ६५८

३. "जागी महरि, पुत्र मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर मैं न समाइ।
गद्गद् कण्ठ बोलि नहिं आवै, हरषवन्त ह्वै नन्द बुलाइ।
आवहु कन्त, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाइ।
दौरि नन्द गए, सुत मुख देख्यौ, सो सुख मो ै बरनि न जाइ।
—सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद सं० ६३१

क्योंकि कोई पूर्व-तपस्या फलीभूत हुई है, जो प्रौढ़ावस्था में पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है[१]।

नालछेदन

नाल-छेदन के लिए आई हुई दाई बिना यशोदा के गले का मणि-जटित हार लिए नाल छेदने को तैयार नहीं है—

> **जसुदा नार न छेदन दैहौं।**
> **मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं।**[२]

परन्तु हार प्राप्त कर लेने पर भी अभी वह झगड़ ही रही है। यशोदा को क्रोध आ जाता है, पर कितना मधुर क्रोध है वह, जिसमें तामसी वृत्ति का नितान्त अभाव है। वे कहती हैं कि एक तू ही अनोखी दाई है? सोने का हार देने पर भी नहीं मानती। जल्दी से बालक की नाल छेद दे, उसमें हवा समाती जा रही है। सैकड़ों संयम और तीर्थ-व्रत करने पर यह संपत्ति मुझे मिली है। दाई नाल छेदकर बिदाई (नेग) माँगती है, उसे घर जाना है, कल साँझ की ही आई हुई है। अन्त में नन्द के द्वारा उसे स्वर्णाभूषण और रत्नहार देकर, नाल छेदाकर बिदा किया गया।[३]

सहज सिंगार करके स्त्रियाँ बधावा लेकर आईं। स्वर्ण-थाल में मंगल-सामग्री उनके हाथों में सुशोभित है। मंगल-गान होने लगा। ग्वाले भी डफ, झाँझ, मृदंग बजाते हुए आ गए। समूह-नृत्य होने लगा, हल्दी-दही का छिड़काव हुआ—उल्लास जैसे साकार हो उठा हो। आभूषण लुटाए जा रहे हैं। कोई "दधि-गोरोचन-दूब सब कैं सीस धरैं।" नन्द ने स्नान करके हाथ में कुश लेकर नान्दीमुख श्राद्ध करके पितरों को पूजकर संतुष्ट किया, चन्दन घिसकर ब्राह्मणों को तिलक किया, वस्त्राभूषण "द्विज-गुरुजन को

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—(सं० २०१५) —पद ६३२
२. वही—पद ६३३
३. वही—पद ६३४ से ६३६

पहिराइ, सब कैं पाइँ परैं।" अनेक ब्राह्मणों को 'खुर ताँबैं, रूपैं पीठि, सोनैं सींग मढ़ी' हुई अगणित गायें देकर उनकी 'असीस' प्राप्त की, इष्ट मित्र एवं बन्धु-बान्धवों को कस्तूरी, चन्दन तथा कपूर मिलाकर तिलक किया, गले में मणियों की मालायें पहनाईं, विचित्र वस्त्र दिये और इस प्रकार सब को दान-मान-परिधान देकर पूर्णकाम कर दिया। बन्दी, मागध और सूत— सब को नन्द ने 'अजाचक' कर दिया। ग्राम-बधुओं को चुनी हुई सुरंग साड़ियाँ दीं। सभी स्त्रियाँ 'असीस' देती हुई अपने-अपने घरों को गईं। नगर के प्रत्येक घर में भेरी, मृदंग, पट्ट-निशान बजने लगे। द्वार पर बन्दनवार और स्वर्ण-कलश सजा कर रखे गये।[1]

सुहागिनी सुन्दरियाँ तथा कुमारियाँ एक दूसरे के पति या प्रियतम का नाम ले-लेकर 'गारी' गा रही हैं। प्रत्येक घर में आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा है। घोष की कुमारियाँ आँगन को चन्दन से लीपकर, चौक बनाकर उसमें आरती सजाते हुए कामना करती हैं कि "एसौ आनंद जौ नित होइ"। द्वार पर सतिए (स्वस्तिक) रखे गये[2]—

"सथिया देति स्यामा सात सींक बनाइ।"

गोपी-ग्वाल प्रमुदित होकर लीलाएँ करने लगे तथा ब्रज-बालाएँ उन्हें हल्दी, अक्षत, दूब और दही का तिलक लगाने लगीं।[3] ढाढ़ी-ढाढ़िन हुरके बजाकर गाते तथा सिर झुकाकर आशिष देते हैं। उन्हें भी मनवांछित दान दिया गया।[4]

सूर-सारावली में भी सूर-सागर की ही भाँति जातकर्म-संस्कार तथा

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद ६४२
२. ब्रज में चारपाई के कौरों (पायों) पर गोबर के सतिए रखने की प्रथा आज भी प्रचलित है। —लेखक।
३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद ६४४
४. वही—पद ६४९

जन्म के अन्य उत्सवों और रीति-रिवाजों का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। पुत्र-जन्म के अवसर पर नन्द का अत्यन्त आनन्दित होना, ब्राह्मण को बुलाकर वेद-ध्वनि कराना तथा स्वस्ति-वाचन कराना[1] आदि बातों की ओर सूरदास जी ने संकेत किया है। जातकर्म संस्कार का वर्णन देखिए—

जात-कर्म करि, पूजि पितर-सुर, पूजन विप्र करायौ।
लख धेनु दई तेहि औसर, बहुतहिं दान दिवायौ॥[2]

सूर-सारावली में उपर्युक्त संस्कार तथा उत्सव के वर्णनों में सूर-सागर के अनेक भावों की पुनरावृत्ति-सी ही हुई है,[3] जिनमें पूर्ववर्णित विधि-विधानों तथा रीति-रिवाजों का भी समावेश किया गया है, अतएव पुनरावृत्ति से बचने के लिए हम इस प्रसंग का संकेत मात्र कर देना पर्याप्त समझते हैं। इन सरस वर्णनों में जहाँ एक ओर आभिजात्य संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट झाँकता दिखाई पड़ता है, वहीं लोक-संस्कृति की सजीवता भी विद्यमान है।

छठी

शिशु के जन्म के छठवें दिन सूतिका-गृह की पवित्रता तथा स्नान की दृष्टि से किया जाने वाला उत्सव तथा आचार 'छठी' कहा जाता है। इस उत्सव का आयोजन विशेषतः स्त्रियों द्वारा ही होता है। ब्रज में भी इसे 'छठी' ही कहते हैं। "इस दिन जच्चा-बच्चा स्नान करते हैं, समस्त घर लीप-पोतकर साफ किया जाता है। अब और लोग भी जच्चा-बच्चा के पास आ-जा सकते हैं। इससे पूर्व जच्चा के पास जाने से छूत लगती है और अपवित्रता होती है। इसी दिन संध्या को तीर साधने का संस्कार होता है। चौक पर बच्चे के साथ माँ बैठती है तो अन्य मंगल आचारों के साथ देवर

---

१. सूर-सारावली—पद ३९१
२. वही—पद ३९२
३. वही—पद ३८९ से ४१४ तक

को बुलाया जाता है। वह तीर साधता है। यह तीर सींक का बना होता है।"[1]

सूरदास जी ने इस छठी आचार का भी वर्णन किया है। छठी का आचार 'सोहर' (सोहिलो) लोकगीत के गायन से आरम्भ होता है। सूरदास जी के इस पद में 'सोहर' का लोकगीतात्मक स्वरूप तो साकार रूप में अभिव्यक्त हुआ ही है, साथ ही छठी के अवसर पर किए जाने वाले समस्त विधि-विधानों का भी सजीव चित्रांकन हुआ है—

गौरि गनेस्वर बीनऊँ (हो) देवी सारद तोहि।
गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो) मन-आखर दै मोहि॥

बधावे में हर्षोल्लास अभिव्यक्त हो रहा है, घर-बाहर मागध और सूत 'जाचक' बनकर खड़े हैं। पास-पड़ोस तथा नगर के स्त्री-पुरुष हर्षित हैं। भेरी तथा अन्य वाद्य 'गहगहे' बज रहे हैं, मालिन तोरण बाँध रही है, आँगन में केले के पत्ते रोपे जा रहे हैं। चतुर सोनार 'ढोलना' गढ़कर लाया है। दधिकाँदों का उत्सव होता है—

करहु ललन की आरती (री) अरु दधिकाँदौ सूत।

नाइन महावर लेकर आती है, दाई को लाख टका झुमका और 'सारी' नेग के रूप में दी जाती है। विश्वकर्मा (बढ़ई) शिशु के लिए अगर-चन्दन का पालना और डोलना ले आता है, कोरे कपड़े निकाले जाते हैं, जाति-पाँति की पहिरावनी करके छत्तीसों पवन को सन्तुष्ट किया जाता है। 'काजर-रोरी' शिशु को लगाकर 'छठी' का 'चार' किया जाता है—

काजर-रोरी आनहू (मिलि) करौ छठी कौ चार।
ऐपन की सी पूतरी (सब) सखियन कियौ सिंगार॥[2]

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ १०९
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद ६५८

सूरदास जी के छठी वर्णन के इस पद में लोक-संस्कृति अपनी पूरी सजीवता के साथ उभरी है। इसमें जहाँ एक ओर ब्रज-संस्कृति बोलती दिखाई पड़ती है, वहीं 'सोहर' नामक लोकगीत भी अपना रूप सँवारता जान पड़ता है। इसी पद में सूरदास जी ने गर्भस्थ संतान में तद्गुण की उद्भावना के लिए माता द्वारा आठ मास तक चंदन तथा नवें मास में कपूर जैसे विशिष्ट पदार्थों के सेवन किए जाने का भी उल्लेख किया है, जो ब्रज में अद्यावधि प्रचलित उस लोकगीत की भावनाओं को स्पर्श करता है, जिसमें गर्भाधान से लेकर नौ महीने तक गर्भिणी में होने वाले मानसिक परिवर्तनों तथा क्रियाओं का वर्णन हुआ है तथा साथ ही पुंसवन संस्कार का एक पक्ष भी मुखर हुआ है।[1]

नामकरण (दष्ठौन) संस्कार

शिशु के जन्म के दसवें या बारहवें दिन उसका नाम रखने के लिए जो संस्कार किया जाता है, उसे 'नामकरण' संस्कार कहते हैं। बच्चा सूतिका-गृह से दसवें या बारहवें दिन जच्चा के साथ बाहर निकलता है। पूजन होता है। पुरोहित ग्रह-नक्षत्र शोध कर शिशु का नाम रखता है। इसको 'बरही' भी कहते हैं। अब निष्क्रमण (निकासन) संस्कार का अन्तर्भाव प्रायः 'नामकरण' संस्कार में ही हो गया है। इसी दिन शिशु को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भी किया जाता है। शिशु को प्रसूतिका-गृह से बाहर के वातावरण में लाकर उसके पृथक् व्यक्तित्व और अस्तित्व की स्थापना करने की दृष्टि से भी इस संस्कार का विशेष महत्व है। इस संस्कार के समय शिशु के माता-पिता गाँठ जोड़कर चौक पर बैठते हैं। इसे 'तगा बाँधना' भी कहते हैं। इसी दिन जच्चा के मैके से वस्त्राभूषण, मिष्ठान्न आदि की भेंट भी आती है, जिसे 'पछ' या 'छोछक' कहते हैं।

---

१. देखिए 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन'—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ १०९-१०

सूरदास जी ने जिस पद में श्रीकृष्ण के 'नामकरण' के रूप में इस संस्कार का वर्णन किया है, उसके अनुसार गर्ग ऋषि नन्द के घर आते हैं। नन्द उन्हें अर्घ्य तथा आसन देकर उनका चरणोदक लेते हैं। गर्ग ऋषि भविष्यवाणी करते हैं कि इनको साधारण बालक मत समझना, कंस का वध यही करेंगे। इन्होंने देवताओं का उद्धार करने तथा पृथ्वी का भार उतारने के लिए मानव-शरीर धारण किया है।[1] मैं तुम्हारे कुल का प्राचीन ज्योतिषी हूँ और लग्न शोध कर ज्योतिष के अनुसार गणना करके पुत्र का भविष्य बताना चाहता हूँ। गर्ग ऋषि ज्योतिष के अनुसार जन्म-काल की गणना करके कृष्ण के सारे भावी लक्षण नन्द को सुनाते हुए कहते हैं—

आदि सनातन पर ह्म प्रभु घट घट अन्तरजामी।
सो तुम्हरे अवतरे आनि क सूरदास कै स्वामी।[2]

यशोदा को ऐसा पुत्र-रत्न उत्पन्न करने के लिए बधाई दी जाती है। 'बिप्र-सुजन-चारण-बन्दीजन' सभी नन्द के घर आते हैं। सब लोग हर्षित होकर दूब-हल्दी दही अपने सिर पर बँधाते हैं। समस्त ब्रजवासी गर्ग ऋषि द्वारा बताए हुए कृष्ण के गुणों को सुन-सुनकर आनन्दित होते हैं।[3]

सूर-सारावली में भी 'नामकरण' संस्कार का संक्षेप में वर्णन हुआ है। राम के नामकरण के अवसर पर सूरदास जी कहते हैं—

गुरु वसिष्ठ नारद मुनि ज्ञानी, जन्म पत्रिका कीनीं।
रामचन्द्र विख्यात नाम यह, सुर मुनि की सुधि लीनीं।[4]

---

१. "बालक करि नकौं जनि जानौ कंस बधन एई करिहैं।"—सूर-सागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५) पद ७०३
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद ७०४
३. —वही—पद ७०५
४. सूर-सारावली—पद १६२

तथा कृष्ण के 'नामकरण' के प्रसंग में उन्होंने आनन्दोल्लास का भी संकेत किया है—

नामकरन ब्रजराज महर घर अति आनन्दित आयौ।[1]

सूरसागर की ही भाँति सूर-सारावली में भी श्रीकृष्ण को नारायण के समान, भक्त-हितकारी तथा नन्द के अनेक काज सँवारने वाला कहा गया है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी ने लोक-जीवन में व्यवहृत लोक-संस्कृति के एक अंग-विशेष का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से जोड़कर उसे और अधिक पावन बना दिया है।

अन्नप्राशन संस्कार

शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाने के संस्कार को 'अन्नप्राशन' संस्कार कहते हैं। 'प्राशन' का अर्थ है 'खिलाना'. 'भोजन'। 'पसनी' इसका लोक-प्रचलित अभिधान है। साधारणतया शिशु के पाँच मास के हो जाने के पश्चात्, किन्तु आठवें मास के भीतर ही यह संस्कार संपन्न होता है। प्रारम्भ में शिशु को अत्यन्त पौष्टिक और सुपाच्य पदार्थों—घृत, शहद, दही-भात आदि का नाममात्र को सेवन कराया जाता है। शनैः शनैः मात्रा में वृद्धि की जाती है। अन्नप्राशन के समय विप्र तथा गुरुजन शिशु को समृद्धिशाली होने का आशीर्वाद देते हैं। इस संस्कार में भी शुभ मुहूर्त का विशेष ध्यान रखा जाता है। अन्नप्राशन संस्कार संपन्न होने के उपरान्त ब्राह्मण-भोजन तथा दान की भी व्यवस्था की जाती है। नृत्य और गान इस संस्कार के अवसर पर हार्दिक उल्लास की अभिव्यक्ति करते हैं।

---

१. सूर सारावली—पद ४३०

२. वही—पद ४३१-३२

सूरसागर में कृष्ण के छः मास से कुछ कम आयु के होने पर इस संस्कार के संपन्न किए जाने का वर्णन मिलता है। कृष्ण को अन्नप्राशन के योग्य जानकर नन्द ने पुलकित होकर विप्र को बुला भेजा। शुभ मुहूर्त निश्चित हुआ और अच्छा दिन जानकर यशोदा ने सखियों को बुलाकर मंगल-गान कराया, जिसमें नन्द का नाम ले-लेकर यशोदा को गालियाँ देने वाले गीत भी गाए गये, ब्रज के घर-घर में आनन्द की बाढ़ आ गई। ब्रज-नारियाँ कृष्ण को गोद में ले-लेकर झकझोरने तथा प्यार करने लगीं।[1]

आज कृष्ण अन्नप्राशन करेंगे, इसलिए पट्टीदारी (सगोत्र) की स्त्रियाँ आकर षट्रस व्यंजन, अनेक प्रकार के मिष्ठान्न और पकवान बनाने में व्यस्त हैं। नन्द ने जाकर सजातियों को निमन्त्रण दिया। यशोदा ने कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहनाए। अन्नप्राशन का शुभ-मुहूर्त आया जानकर नन्द कृष्ण को गोद में लेकर बैठे, सजातियों को भी पास में बैठा लिया। स्वर्ण-थाल में घृत-शहद मिश्रित खीर रखी गई। जब नन्द समस्त व्यंजनों का कृष्ण के अधर से स्पर्श कराने लगे तो स्त्रियों ने 'पसनी' के अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीत गाना आरम्भ किया। अन्नप्राशन हो जाने पर नन्द ने कृष्ण का मुँह पोंछकर उन्हें यशोदा के पास पहुँचा दिया। तदनन्तर नन्द और समस्त आमन्त्रित गोपों ने यथा-रुचि भोजन किया—

आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।
मनि कंचन के थार भराए, भाँति भाँति के बासन।

× × ×

जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह कौं पट-भूषन पहिराइ।

× × ×

षट्रस के परकार जहाँ लगि, लै-लै अधर छुवावत।

---

1. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—(सं० २०१५) पद ७०६

महर गोप सबही मिलि बैठे पनवारे परसाए।
भोजन करत अधिक रुचि उपजी, जो जाकें मन भाए।[1] इत्यादि।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि सूरदास जी ने अन्नप्राशन जैसे संस्कार के समय किए जाने वाले समस्त विधि-विधानों का सजगतापूर्वक संकेत किया है, जिसके फलस्वरूप उक्त पूरा पद ब्रज में गृहीत अन्नप्राशन के विधि-विधानों का प्रतिनिधि तो बन ही गया है, साथ ही वह अन्य प्रदेशों में भी इसी रूप में संपन्न होता दिखाई पड़ता है।

वर्षगाँठ

प्रत्येक वर्ष बालक के जन्म-दिन के अवसर पर किए जाने वाले संस्कार को 'वर्षगाँठ' की संज्ञा दी गई है। बालक के जन्म के दिन शुभ घड़ी में चौक पूरकर बालक को बैठाया जाता है। विप्र द्वारा नवग्रहादि का पूजन तथा हवन कराया जाता है। कहीं कहीं इस अवसर पर सत्यनारायण की कथा सुनने की भी प्रथा है। रेशम की एक डोर में प्रत्येक वर्षगाँठ के दिन एक नई गाँठ लगा दी जाया करती है, जो बालक की आयु का प्रतीक होती है। माता-पिता द्वारा बालक को भेंट दी जाती है। तदनन्तर आगंतुक उसे भेंट-उपहार आदि देते हैं। दान-दक्षिणा तथा ब्राह्मण भोजन और नृत्य-गान इस संस्कार की अन्य विशेषताएँ हैं। इस संस्कार में स्त्रियों की प्रधानता होती है। अधिकांश सांस्कारिक विधि-विधान उन्हीं के द्वारा संपन्न किए जाते हैं। स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले मंगल-गीत इस अवसर पर आनन्दोल्लास का वातावरण निर्मित कर देते हैं।

सूरदास जी ने श्रीकृष्ण के पूरे एक वर्ष के हो जाने पर प्रथम वर्षगाँठ संस्कार का वर्णन किया है, जिसमें डोरे में गाँठ लगाने की सामान्य प्रथा का संकेत करना भी वे नहीं भूले हैं। वर्षगाँठ प्रसंग के अन्तर्गत सूरसागर में

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५)—पद ७०७

तीन पद उपलब्ध हैं, जिनमें ब्रज-लोक-जीवन में इस अवसर पर दिखाई देने वाला उल्लास साकार होकर उतरता दिखाई पड़ता है। जैसे—

अरी, मेरे लालन की आजु बरष-गाँठि, सबै
सखिनि कौं बुलाइ मंगल-गान करावौ।
चन्दन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ,
उमँगि अंगनि आनन्द सौं तूर बजावौ।

आँगन चन्दन से लीपकर मोतियों से चौक पूरा गया। तूर्यनाद हुआ। विप्र को बुलाकर शुभ घड़ी निश्चित कराई गई, 'बागे-चीरे' बनाए गए, कृष्ण को स्नान कराकर नूतन वस्त्राभूषणों से सज्जित करके अक्षत और दूर्वादल (दूब) बाँधकर गाँठ लगवाई गई। पँचरंगी साड़ियाँ मँगाकर बधूटियों को पहनाई गईं। अब वे सब उमँग कर नाचने लगीं—

सूरस्याम छबि निहारति, तन-मन जुवति-जन वारति,
अतिहीं सुख धारति, बरष-गाँठि जुरावौ।[1]

इस पद में "नंदरानी ग्वारनि बुलाइ, इहै रीति कहि सुनाइ" शब्दों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सूरदास जी के इस वर्णन में ब्रज में वर्षगाँठ के अवसर पर इन्हीं रीति-रिवाजों का अनुसरण किया जाता रहा है।

एक अन्य पद में सूरदास जी ने इस अवसर पर नारी-समुदाय के हार्दिक उल्लास का चित्र-सा खींच दिया है, साथ ही वर्षगाँठ की रीतियों का भी स्पष्ट निदर्शन करा दिया है—

कंचन-मनि-जटित थार रोचन, दधि, फूल-डार मिलिबे की तरसनि।
प्रभु बरष-गाँठि जोरति, वा छबि पर तृन तोरति सूर अरस परसनि।[2]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (सं० २०१५) पद ७१३

२. —वही—पद ७१४

इन तीनों पदों में[1] राजन्य संस्कृति तथा लोक-संस्कृति की समन्वित माधुरी के तो दर्शन होते ही हैं, साथ ही इस अवसर पर होने वाले आचार-व्यवहार एवं गाँठ बाँधने की सामान्य प्रथा तक का समाहार दिखाई पड़ता है।

कर्णवेध संस्कार

बालक के तीन, पाँच अथवा सात वर्ष के हो जाने पर कर्णाभरण पहनने के लिए उसका कान छेदा जाता है। इस प्रक्रिया को 'कर्णवेध' अथवा 'कनछेदन' संस्कार की संज्ञा दी गई है। आजकल प्रायः चूड़ाकर्म (मुंडन) संस्कार के साथ ही यह संस्कार भी संपन्न होता है। यह संस्कार प्रायः किसी तीर्थ अथवा देवस्थान में किया जाता है। बालक के दोनों कान सोने अथवा पीतल (यथा-स्थिति) की शलाका से छेदकर उनमें सोने अथवा पीतल की बालियाँ पहना दी जाती हैं। इस संस्कार में बालक को कष्ट होता है, अतः उसको फुसलाने तथा उसकी चेतना को भिन्न दिशा में केन्द्रित करने की दृष्टि से उसे मिष्ठान्न अथवा पकवान खिलाया जाता है और उसी बीच सुनार द्वारा उसके कान छेद दिए जाते हैं। इस संस्कार का न केवल आभूषण पहिनने की दृष्टि से, अपितु रोगादि की रोक तथा उनसे रक्षा की दृष्टि से भी विशेष महत्व है।[2] इस संस्कार के संपन्न होने के पश्चात् दान-दक्षिणा देने तथा ब्राह्मण-भोजन कराने की भी प्रथा है।

सूरदास जी ने कृष्ण के प्रसंग में इस संस्कार का भी सविस्तार वर्णन किया है। कृष्ण के हाथ में 'सोहारी' (पूड़ी) और गुड़ की भेली पकड़ा दी गई है। यशोदा के हृदय में धुकधुकी हो रही है:—

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (संस्क० २०१५)—पद ७१२, १३ और १४

२. ऐसी सामान्य मान्यता है कि इस क्रिया द्वारा अंडकोष-जनित जैसे रोगों का निरोध हो जाता है।—लेखक

कान्ह कुँवर को कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
विधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की।

× × ×

कंचन के द्वै दुर मँगाइ लिए, कहौं कहा छेदनि आतुर की।
लोचन भरि भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियो तुरत नौआ को घुरकी।

इस प्रकार 'नौआ' ने सींक से कानों के पास 'रोचना' का चिह्न बनाकर सोने की दो शलाकाओं से शीघ्रतापूर्वक कृष्ण के कान छेदकर बालियाँ पहिना दीं। कृष्ण रोने लगे तो माता ने नौआ (नाई) को घुड़की दी। नन्द तथा ब्रज-बालाएँ सब अति आनन्दित हुईं।[1] नन्द ने मणि-मुक्ताएँ निछावर कीं। ऐसा उल्लासपूर्ण वातावरण बन गया था, मानो सुख का समुद्र ही उमड़ कर लहरा रहा हो।[2]

इस प्रसंग में 'मणि-मुक्ताओं को निछावर' में राजन्य-संस्कृति तथा 'हाथ सोहारी भेली गुर की' में लोक-संस्कृति सरस रूप में अभिव्यक्त हुई है।

उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार

बालक का शारीरिक तथा मानसिक विकास हो जाने के पश्चात् उसे गुरु के पास ले जाकर विद्यार्थी बनाने की प्रक्रिया को 'उपनयन' संस्कार कहते हैं। यह अत्यन्त पवित्र[3] हिन्दू-संस्कारों में परिगणित होता है तथा किसी शुभ मुहूर्त्त में ही संपन्न होता है। प्राचीन काल में ब्राह्मण का उप-

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध (संस्क० २०१५)——पद ७९८
२. —वही—पद ७९९
३. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।

नयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में होता था। इसी प्रकार ब्राह्मण का उपनयन वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य का शरद् ऋतु में होता था। शूद्रों का उपनयन संस्कार प्राचीन काल से ही वर्जित रहा है। बालक में विद्याध्ययन की क्षमता आ जाने पर उसके पिता अथवा अन्य गुरुजनों द्वारा घर पर ही उसका 'उपनयन' संस्कार करके यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनाकर उसे विद्याध्ययन के लिए गुरु के पास ले जाया जाता था। गुरु गायत्री मन्त्र[1] द्वारा उसे दीक्षित करता था। बालक गुरु के पास रहकर उसकी निष्ठापूर्वक सेवा करते हुए विद्याध्ययन करता था तथा अध्ययन समाप्त होने पर गुरु-दक्षिणा देकर घर वापस आता था। गुरु के सामने उसे तीन प्रतिज्ञाएँ (व्रत) करनी पड़ती थीं, यथा (१) ब्रह्मचारी रहना तथा केवल रात्रि में शयन करना, गुरु-आज्ञा-पालन तथा वेदाध्ययन, (२) नित्य समिधा लाकर हवन करना तथा (३) भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करना। इन व्रतों का बंधन स्वीकार करने के कारण इसे 'व्रतबन्ध' संस्कार भी कहते हैं। आजकल 'वेदारम्भ' संस्कार भी इसी 'उपनयन' संस्कार के साथ ही संपन्न हो जाता है। इसमें भी विद्यार्थी को गायत्री मन्त्र, उसका अर्थ तथा माहात्म्य समझाकर उसके विचारों को विकसित करने की भावना प्रधान है।

यज्ञोपवीत संस्कार होने के एक दिन पूर्व 'बरुआ' (जिसका उपनयन होने वाला है) को अभ्यास के लिये कच्चे सूत का धागा पहिना दिया जाता है। इसे 'गोबर-जनेऊ' की संज्ञा दी जाती है। इस संस्कार के संपन्न हो जाने के उपरान्त उसे गुरुकुल में पढ़ने जाने के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती है, जिसे 'भीख माँगना' कहते हैं। इस समय बरुआ को 'कौपीन' पहननी पड़ती है तथा हाथ में पलाश का दण्ड धारण करना पड़ता है। गुरुकुल

---

१. ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

से पढ़कर वापस आने पर उसका 'समावर्त्तन' संस्कार किया जाता है। आजकल इन तीनों संस्कारों को एक साथ ही संपन्न कर दिया जाता है। इन संस्कारों में भी ब्राह्मण-भोजन, नृत्य-गान तथा उत्सव की प्रथा है।

श्रीकृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार ब्रज में नहीं हो सका था, ऐसी मान्यता है। अतः सूरदास जी ने भी यह संस्कार मथुरा में ही हुआ बताया है, जिसमें वसुदेव पिता तथा देवकी माता के रूप में आती हैं। कृष्ण जब मथुरा बसुदेव-देवकी के पास गए, तब उनका यज्ञ संस्कार कुल-व्यवहार के रूप में किया गया——

बसुद्यौ कुल-व्यौहार बिचारि।
हरि-हलधर कौं दियौ जनेऊ, करि षट्रस ज्यौनारि।
जाके स्वास-उसाँस लेत मैं प्रगट भए श्रुति चार।
तिन गायत्री सुनी गर्ग सौं प्रभु गति अगम अपार।[1]

इसके पश्चात् ब्राह्मणों को अनेक गाएँ तथा वस्त्राभूषण दान-रूप में दिये गए, स्त्रियों ने मंगल-गीत गाए तथा माता देवकी ने निछावरें कीं। सभी देवता 'टीका' ले आए। ढोल-निशान तथा शंखनाद से समस्त वातावरण अनुगुंजित हो उठा——

लोक लोक को टीकौ आयौ मुदित सकल नर-नारी।
सिव सुरेस सेष औरौ बहु, चतुरानन कर थारी।
हर कर पाटबंध, न्यौछावरि करत रतन पटसारी।[2]

सूर-सारावली में भी उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार का वर्णन हुआ है——

---

१. सूरसागर——उत्तरार्द्ध (सं० २०१२)——पद ३७११
२. ——वही——पद ३७१२

उपनयन

गर्ग बुलाय वेद-विधि कीन्हीं, जज्ञ-उपवीत धरायौ।

वेदारंभ

विद्या पढ़न काज गु -गृह दोउ, पुरी अवंति पठायौ।[१]

इसके अतिरिक्त सूर-सारावली में मुनि द्वारा कृष्ण को राजनीति की शिक्षा देने, कृष्ण को गुरु-सेवा तथा उनके द्वारा गुरु-दक्षिणा चुकाने तक का भी उल्लेख हुआ है।[२] इस प्रकार इन वर्णनों के माध्यम से सूरदास जी ने लोक-संस्कृति के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष को अपने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

विवाह (पाणिग्रहण) संस्कार

संतानोत्पत्ति की महद्भावना से प्रेरित और संयमन, नियमन तथा सदाचार की स्थापना के उद्देश्य से पुरुष (वर) तथा कन्या (वधू) को पाणिग्रहण द्वारा प्रणय-सूत्र में आबद्ध करने वाले संस्कार को विवाह (पाणिग्रहण) संस्कार की संज्ञा दी गई है। मनुस्मृति में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापात्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच—आठ प्रकार के विवाह बताए गए हैं। मानव-जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार होने के कारण इस अवसर पर आनन्दोल्लास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यह संस्कार प्रायः कन्या के घर पर होता है। विवाह के कई दिनों पूर्व से ही वर तथा कन्या के घर अनेक प्रकार के मांगलिक आचार होते हैं। विवाह के लिए शुभ मुहूर्त्त निश्चित किया जाता है। इस अवसर पर अनेक प्रकार के विधि-विधान, अनुक्रम, अनुष्ठान, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज तथा लोक-विश्वास संचरणशील होते दिखाई पड़ते हैं।

---

१. सूर सारावली—पद सं०५३७

२. वही—पद सं० ५४२

सूरदास जी ने सूरसागर में अनेक विवाहों का संक्षेप में अथवा विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। चतुर्थ स्कन्ध में पार्वती[१] के, नवम स्कन्ध में हलधर[२] तथा राम,[३] दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण,[४] रुक्मिणी,[५] जाम्बवन्ती,[६] सत्यभामा,[७] पंच पटरानी[८] (कालिंदी, बिन्द्रा, सत्या, भद्रा, लछमना), प्रद्युम्न,[९] अनिरुद्ध,[१०] सांब,[११] सुभद्रा[१२] आदि के विवाहों का वर्णन हुआ है, जिनमें से श्रीकृष्ण-विवाह के वर्णन में ही सूरदास जी की वृत्ति विशेष रूप से रमी है। श्रीकृष्ण के विवाहों में भी विशेषतः राधा और रुक्मिणी के प्रसंग में जितनी तन्मयता सूरदास जी में देखने को मिलती है, उतनी उनके अन्य विवाहों में नहीं। राम- विवाह तथा कुछ अन्य विवाहों के प्रसंग में उन्होंने लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों को अभिव्यक्त किया है तथा कंकण-मोचन, गारी, गौना (विदा), दहेज, आनन्दोत्सव आदि रीति-रिवाजों का भी उल्लेख किया है।

वास्तव में संस्कारों के वर्णन में ब्रज-लोक-संस्कृति के साकार-चित्रण में जन्म के पश्चात् विवाह में ही सूरदास जी की विशेष रुचि जान पड़ती है। यद्यपि उन्होंने राधा और कृष्ण के गांधर्व विवाह का ही वर्णन किया

---

१. सूर-सागर (पूर्वार्द्ध) (संस्क० २०१५) पद ४०१
२. वही—पद ४४८
३. वही—पद ४६९-७१
४. वही—पद १६८९-१७०३
५. सूरसागर (उत्तरार्द्ध) (संस्क० २०१२) पद ४८०६
६. वही—पद ४८०८
७. वही—पद ४८०८
८. वही—पद ४८१०
९. वही—पद ४८१४
१०. वही—पद ४८१५
११. वही—पद ४८२७
१२. वही—पद ४९२१-२२

है, तथापि उसमें लोक-प्रचलित विवाह सम्बन्धी समस्त साधारण तथा महत्वपूर्ण विधि-विधान, आचार-व्यवहार एवं रीति-रिवाजों का समाहार वे सफलतापूर्वक कर सके हैं।

श्रीकृष्ण और राधा का प्रेम-सम्बन्ध तो पहले ही से जुड़ चुका था। राधा किसी न किसी बहाने कृष्ण से मिलने के लिए उनके घर भी आने लगीं। यशोदा के मन में भी राधा के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। एक दिन उन्होंने राधा को रोककर कहा—"आउ करौं तेरी चोटी।"[१] उन्होंने राधा की माँग 'पार' कर, वेणी सँवार कर उनके मस्तक पर बिन्दी लगा दी, अपने आँचल से उनका मुँह पोंछकर, नई फरिया पहिनाकर, बताशे, मेवा, तिल और चँवरी से राधा की गोद भर दी।[२] घर वापस जाने पर माता ने प्रश्न किया—तुम्हारे मस्तक में तिलक किसने किया, बाल गूँथकर माँग किसने निकाली? राधा ने बताया कि मैं नन्द के घर खेल रही थी, यशोदा ने मुझे बुलाकर मेरा, तुम्हारा तथा बाबा का नाम पूछा और फिर बाबा को 'गारी' दी। नई साड़ी फाड़कर फरिया पहिनाई तथा तिल, चँवरी और बताशे गोद में भर दिए और मेरे मुँह की ओर देखकर फिर अपने पुत्र का मुँह देखकर सूर्य के सामने आँचल पसार कर कुछ मन ही मन कहा। राधा की माता कीरति ने वृषभानु से सब बातें बताईं। इस घटना का अभिप्राय समझकर दम्पति परम प्रसन्न हुए—

बूझति जननि कहाँ हुती प्यारी।
किन तेरे भाल तिलक रचि कीनौं किहिं कच गूँथि माँग सिर पारी॥

× × ×

यह सुनिकै वृषभानु मुदित चित हँसि हँसि बूझत बात दुलारी।
सूर सुनत रस सिन्धु बढ़्यौ अति, दंपति एकै बात बिचारी।[३]

---

१. सूरसागर (पूर्वार्द्ध) (संस्क० २०१५) पद १३२१
२. वही—पद १३२२
३. वही (पूर्वार्द्ध) पद १३२६

विवाह की पृष्ठभूमि बन जाने के पश्चात् राधा-कृष्ण का गांधर्व विवाह संपन्न होता है। ब्रज-कुमारियों ने अगाध विश्वास लेकर शिव, गौरी और सूर्य को पूजा से प्रसन्न करके कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना की है। अब गुरु (पुरोहित) द्वारा राशि शोधकर शरद् पूर्णिमा की तिथि निश्चित की गई। शारदीय राका में रास का आयोजन हुआ। अग्नि की साक्षी में भाँवरें पड़ीं। दो हृदयों की जुड़ी गाँठ को छुड़ाने वाली सास या ननद वहाँ कोई नहीं थीं।[१] इधर राधा को उबटन लगाकर, खौर से सिंगार करके 'चौरी' (वेदी) के निकट लाकर बैठाया गया। कृष्ण भी मौर (सेहरा) मस्तक पर धारण करके आ गए—पीताम्बर और दुपट्टे से सज्जित, कपोलों पर कुंडल शोभित है। मुरली की ध्वनि द्वारा आमन्त्रित गोपियों ने आकर अनेक प्रकार के मंगल-गीत गाए। ताजे फूलों से मण्डप छाया गया, बेदी पर रची गई, राधा-कृष्ण मण्डप में आकर बैठ गए। उधर कोयलें और इधर ब्रजनारियाँ (कण्ठ का सादृश्य विधान अवलोकनीय है) आनन्दमग्न होकर मंगल-गान करने लगीं। दोनों वर-बधू) पक्षों से आई हुई स्त्रियाँ 'गारी' गाने लगीं और तब—

मिलि मन दै सुख आसन बैसे। चितवनि वारि किये सब तैसे।
ता परि पानि ग्रहण विधि कीन्हीं। तब मण्डप भ्रमि भाँवरि दीन्हीं।।

कामदेव के सैनिक पुष्प-द्रुमों ने बराती बनने का सौभाग्य पाया, देवताओं ने बन्दीजनों का कर्त्तव्य-निर्वाह किया, इन्द्र ने बाजे बजाये, देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा हुई और इस प्रकार—

सुनि सूरदासहि भयौ आनंद, पूजी मन की साधिका।
श्रीलाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका।[२]

---

१. सूरसागर (पूर्वार्द्ध) (संस्क० २०१५)—पद १६८९
२. —वही—पद १६९०

इसके पश्चात् सूरदास जी ने लोक-जीवन में बहु-प्रचलित प्रथा कंकण-मोचन-चार का वर्णन किया है। चतुर ब्रजनारियों ने रच-रचकर, पच-पचकर, गूँथकर कंकण बनाया है। कृष्ण को उसे छुड़ाना है, शर्त्त तो बहुत कड़ी है ही, प्रतिष्ठा का प्रश्न भी समुपस्थित है—

बड़े होहु तौ छोरि लेहु जौ, सकल घोष के राइ।
कै कर जोरि करौ बिनती, कै छुवौ राधिका पाइ।
× × ×
छोरहु बेगि कि आनहु अपनी जसुमति माइ बुलाइ।

अन्ततः कृष्ण ने कंकण-मोचन कर दिया। अब राधा की बारी है। ब्रज-सुंदरियों ने फिर से कसकर गाँठ लगा दी और कहा—"तुम छोरौ सुकुमारि।" लेकिन—

पचि हारी कैसेंहु नहिं छूटत, बँधी प्रेम की डोरि।
देखि सखी यह रीति दुहुनि की, मुदित हँसीं मुख मोरि।[1]

अब राधा को भी 'गारी' दी गई—

दुलहिनि छोरि दुलह कौ कंकन, बोलि बबा वृषभान।

इस प्रकार रास-लीला के मध्य राधा-कृष्ण का विवाह हो गया। सूरदास जी बलैया लेते हुए आशीस देते हैं—"सदा रहै यह अविचल जोरी।" साथ ही वे इस बात की भी सूचना दे देते हैं कि बरसाने में संपन्न हुए इस विवाह में ब्रज के समस्त रीति-रिवाजों का पालन किया गया—"ब्रज की सब रीति भई, बरसाने व्याह।"[2]

पुर-बालाएँ कन्या के घर दूल्हा देखने के लिए आती हैं, लोक-जीवन की इस सर्वसामान्य प्रथा का उल्लेख करना भी सूरदास जी नहीं भूले हैं।

---

१. सूरसागर (पूर्वार्द्ध) पद १६९१
२. —वही—पद १६९२

प्रत्येक स्त्री कृष्ण को दूल्हा वेश में देखने के लिए आतुर है। कोई मालिन, कोई तँबोलिन, कोई चोलिन, कोई सुनारिन, कोई दर्जिन अथवा गंधिन आदि बनकर दूल्हा कृष्ण को देखने का बहाना निकालना चाहती हैं—

फूल गूँथि माला लै, मालिनि ह्वै जाउँ।
नन्दनँदन प्यारे कौं बीरा करि लेउँ।
चोलिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।
बृन्दाबन-चंद कौं मैं, भूषन गढ़ि लेउँ।
ह्वै सुनारि जाउँ निरखि, नैननि सुख देउँ।
अपने गोपाल के मैं बागे रचि लेउँ।
दरजिनि ह्वै जाउँ निरखि, नैननि सुख देउँ।[1]

विवाह के अवसर पर राधा की विशिष्ट वेश-भूषा का भी वर्णन कवि ने किया है।[2] चन्दन से बने रथ पर राधा के साथ कृष्ण बैठे हैं, जिन्हें देखकर ब्रज-युवतियाँ अत्यन्त आनन्दित हो रही हैं। साँवला शरीर, मुकुट, बन-माला, कुंडल धारण किए हुए तथा कटि-प्रदेश में पीताम्बर पहिने हुए, दुपट्टा (उपरैना) उनकी सुन्दरता को और भी बढ़ा रहा है; ताल-पखावज, झालर बजाते हुए नटिनी लयात्मकता के साथ उल्लासपूर्वक नाचती तथा दोनों (राधा-कृष्ण) के 'गुन' गाती हैं।[3] विवाहोपरान्त संयोगावस्था का भी सूरदास जी ने सुन्दर वर्णन किया है। राधा जी कृष्ण का यश उन्हीं को दोहा-छन्द, ध्रुपद में गाकर सुनाती हैं, नृत्य करके उन्हें रिझाती हैं।[4] प्रथम समागम के अवसर पर वधू में दिखाई पड़ने वाली स्वाभाविक लज्जा भी 'सूर की दृष्टि' से बचकर नहीं जा सकी है—'निरखि नैन लजाति हरि

---

१. सूरसागर (पूर्वार्द्ध)—पद १६९३
२. —वही—पद १६९४
३. —वही—पद १६९५
४. —वही—पद १६९७

के'।[1] इस प्रकार राधा ने महा-सर्वज्ञ श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लिया और तब—

प्यारी स्याम लई उर लाइ।
उरज उर सों परस कौं सुख, बरनि का पै जाइ॥
× ×
देति चुंबन, लेति सुख कौं, मानि पूरन भाग।[2]

सूर-सारावली में राम-सीता-विवाह का वर्णन करते हुए सूरदास जी ने राजन्य संस्कृति का भी सुन्दर निदर्शन कराया है। जनक का पुरोहित भेजकर दशरथ को बुलाना, दशरथ का विपुल धन तथा बरात और हाथी-घोड़ा आदि लेकर जनकपुर जाना, वशिष्ठ द्वारा शुभ मुहूर्त्त निश्चित करना और तब—

वेद सास्त्र मथ करी व्याह विधि सोइ कीन्हीं नृपराय।
राम-लखन अरु भरत-सत्रुहन, चारौं दिये बिहाय।[3]

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में होम, हवन, द्विज-पूजा, गणेश, सूर्य, इन्द्र, शिव आदि की पूजा, जनक द्वारा विप्रों को दान देना, उत्सव, दहेज, गारी आदि लोक-संस्कृति के तत्वों की अभिव्यक्ति सूरदास जी ने सूर-सारावली में की है।[4] साथ ही उन्होंने श्रीकृष्ण के अन्य अनेक विवाहों का वर्णन भी लोक-संस्कृति की छाया में ही किया है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर-साहित्य में विवाह के अवसर पर होने वाले समस्त विधि-विधान एवं रीति-रिवाजों—सगाई, निमन्त्रण,

---

१. सूर सागर (पूर्वार्द्ध) संस्क० २०१५—पद १६९८
२. वही—पद १६९९
३. सूर-सारावली—पद सं० २२९ से २३५ तक
४. —वही—पद २२९ से २३५ तक
५. —वही—पद ६३९ से ६५८ तक

मंडप बनाना, बेदी (चौरी), हल्दी तेल चढ़ाना, वर का मौर धारण करना, कंकण-मोचन, देवी पूजन, गौना, मधुपर्क, विवाह, गठबंधन, भाँवर, जुआ, गारी, दान, दहेज आदि समस्त लोक-संस्कृति के तत्व उभर कर सामने आते दिखायी पड़ते हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार

मृत्यु के उपरान्त किए जाने वाले अन्तिम संस्कार को 'अंत्येष्टि संस्कार' की संज्ञा दी गई है। अधिकांश गृह्य सूत्रों में अंत्येष्टि को संस्कारों में परिगणित नहीं किया गया है, क्योंकि शुभ-संस्कारों के साथ इस अशुभ संस्कार का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं समझा गया। दूसरे, संस्कार मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं, जब कि अंत्येष्टि मानव की जीवन-लीला समाप्त होने के बाद की प्रक्रिया है, जो मानव-व्यक्तित्व अथवा जीवन के परिष्करण में किसी प्रकार सहायक नहीं होती; परन्तु आश्वलायन, पाराशर और बोधायन गृह्य सूत्रों में इसका समावेश संस्कारों में किया गया है। यह संस्कार प्राचीन काल से ही मानव-संस्कृति का एक विशिष्ट अंग बना हुआ है। शव को नदी या जलाशय के किनारे ले जाकर, स्नान कराकर चिता पर रख दिया जाता है और प्रदक्षिणा करके अग्नि लगा दी जाती है। शव का अधिकांश भाग जल जाने पर उसकी कपाल-क्रिया की जाती है। मृत्यु के पश्चात् के तेरह दिन 'सूतक' माना जाता है। इस अवधि में अनेक विधि-विधान एवं भोजों का आयोजन होता है। तेरह दिन तक उचित रीति से इस संस्कार के संपन्न होने पर मृतात्मा को स्वर्ग-लाभ होता है, ऐसी सामान्य मान्यता है।

सूरदास जी ने इस संस्कार का वर्णन दशरथ-मरण के प्रसंग में किया है तथा अन्यत्र भी उनके विनय के कतिपय पदों में इस संस्कार से सम्बन्धित बातों का उल्लेख हुआ है। दशरथ-मरण के प्रसंग में वशिष्ठ मुनि भरत से कहते हैं—

"राजा को परलोक सँवारौ, जुग जुग यह चलि आयौ।"

और तब—

चंदन अगर सुगंध और घृत, बिधि करि चिता बनायौ।
चले बिमान संग गुरु-पुरजन, तापर नृप पौढ़ायौ।
भस्म अन्त तिल-अंजलि दीन्हीं, देव बिमान चढ़ायौ।

इसके पश्चात् दस दिन तक जल से भरा घड़ा (घण्ट) बाँधा गया, दीप-दान किया गया। ग्यारहवें दिन विप्र बुलाकर भोजन कराया गया, दान दिया गया और इस प्रकार अंत्येष्टि संस्कार की समस्त प्रक्रियाएँ संपन्न की गईं—

जानि एकादस बिप्र बुलाए, भोजन बहुत करायौ।
दीन्हौ दान बहुत नाना बिधि, हिं बिधि कर्म पुजायौ।[1]

इसके अतिरिक्त अंत्येष्टि के अवसर पर सिर के बाल मुँड़ाने की प्रथा की ओर संकेत करना भी सूरदास जी नहीं भूले हैं—

मुंडित केस-सीस बिह्वल दोउ, उमँगि कण्ठ लपटाने।[2]

दाह-संस्कार के अवसर पर होने वाली कपाल-क्रिया की ओर भी सूरदास जी ने संकेत किया है, जहाँ वे कहते हैं कि—

जिन पुत्रनहिं बहुत प्रतिपाल्यौ देवी देव मनैहैं।
तेई लै खोपरी बाँस दै सीस फोरि बिखरैहैं।[3]

सूर-सारावली में भी दशरथ के ही प्रसंग में राम द्वारा अंत्येष्टि संस्कार किए जाने का संक्षेप में वर्णन हुआ है—

---

१. सूरसागर (पूर्वार्द्ध) पद ४९४
२. —वही—पद ४९६
३. —वही—पद ८६

वेद-क्रम करि रघुपति सब बिधि मरजादा अनुसार।
बहुत भाँति सब बिधि समुझाए भरत करी मनुहार।[1]

इसके अतिरिक्त सूरदास जी ने मृत्यु के पश्चात् मृतक की आत्मा की शांति के लिए किए जानेवाले अनेक विधि-विधान एवं प्रथाओं—पिंडदान देने,[2] पितरों का श्राद्ध-तर्पण करने, ब्राह्मणों को भोजन और दक्षिणा देने[3] आदि बातों का भी संकेत किया है।

इन संक्षिप्त वर्णनों के माध्यम से भी सूरदास जी दाह-क्रिया (अंत्येष्टि) के सम्बन्ध में ब्रज में प्रचलित तद्युगीन विधि-विधानों तथा रीति-रिवाजों का निदर्शन कराने में सफल हुए हैं और इस प्रकार अंत्येष्टि-क्रिया के रूप में लोक-संस्कृति का एक पक्ष उनके काव्य में अभिव्यक्त हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर-साहित्य में लोक-जीवन में गृहीत जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रायः समस्त संस्कारों का सुरुचिपूर्ण वर्णन हुआ है और इन वर्णनों में लोक-संस्कृति की सजीव झाँकी देखने को मिल जाती है।

(ख) पर्वोत्सव

पुष्टि-मार्ग में वर्षोत्सव सेवा विधि की भी व्यवस्था की गई थी। इस सेवा-पद्धति में पूरे वर्ष के उत्सव तथा ऋतुओं के अनुसार भी उत्सवों की योजना की जाती थी। इस असार-संसार की सत्यता इन समस्त उत्सवों को लेकर ही है, इसी धारणा से पुष्टि-मार्ग में इन विविध उत्सवों, पर्वों तथा त्योहारों का समावेश किया गया है। वर्ष भर में छः ऋतुएं होती हैं और इन छहों ऋतुओं के निमित्त पृथक् पृथक् उत्सव हैं। ग्रीष्म ऋतु में

---

१. सूर-सारावली—पद २५१
२. —वही—पद ५६२
३. —वही—पद ६७३

फूलमण्डली[१] (बँगला), वर्षा में हिंडोरा, शरद में रास, हेमन्त में देव-प्रबोधिनी का जागरण, शिशिर में होली तथा वसन्त ऋतु में डोल के उत्सवों की प्रथा पुष्टि मार्ग में प्रचलित थी।

सूरदास जी ने पुष्टि-मार्ग की इस सांस्कृतिक भावना के अनुसरण में इन विभिन्न पर्वोत्सवों पर पद-रचना की है, जिनमें लोक-जीवन के उन्मुक्त उल्लास तथा आमोद-प्रमोद की भावना का भी प्रतिनिधित्व हुआ है। यहाँ छः ऋतुओं के आधार पर मनाए जाने वाले पर्वोत्सवों को सूर-साहित्य में खोजने का प्रयास किया जायगा।

१. फूल मण्डली (ग्रीष्म)

इस उत्सव में साज-सज्जा तथा शृंगार-प्रसाधन में फूलों की ही प्रधानता होती है। इसमें राधा-कृष्ण और अन्य सखियाँ सोत्साह भाग लेती दिखाई जाती हैं। इस उत्सव में सूरदास की राधा और कृष्ण को फूलों से निर्मित महल में फूलों की सेज पर केलि-विलास करते देखा जा सकता है—

फूलनि के महल, फूलनि सेज, फूले कुंज बिहारी, फूली राधा प्यारी।
फूले वै दंपति नवल मगन फूले फूले करैं केलि न्यारीयै न्यारी।
फूली लता बेलि, विविध सुमन फूले, फूले आनन दोऊ हैं सुखकारी।
सूरदास प्रभु प्यारी पर टारत हरषि, फूले फूल चंपक बेल निवारी।[२]

२. हिंडोरा (वर्षा)

सूरदास जी ने हिंडोरा उत्सव का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। अनेक

---

१. बिहारी जी के मंदिर में इस फूल-बँगला का उल्लास असाधारण महत्व का होता है। इस अवसर पर वृन्दावन का जन-समुदाय इस मंदिर में फूलबँगला का उत्सव देखने को उमड़ पड़ता है।—लेखक

२. सूर-सागर (उत्तरार्द्ध) (सं०२०१२)—पद ३०७४

पदों में राधा और कृष्ण को सज-धज कर गोप-गोपियों के सहित हिंडोरा झूलते हुए दिखाया गया है। गोपांगनाएँ गोपाल-कृष्ण से कहती हैं कि ग्रीष्म बीत चुकी, अब सरस वर्षा ऋतु आ गई है। 'हिंडोरना' 'गढ़नहार' को बुलाकर हिंडोला बनवा लो—

अब गढ़नहार हिंडोरना को ताहि लेहु बुलाइ।
हम रमकि हिंडोरैं चढ़ैं, अरु तुमहिं देहु झुलाइ।

× × ×

झूलत झुलावत, कण्ठ लावत, बढ़ी आनंद बेलि।
कबहुँक रहसत, मचकि लै-लै एक-एक सहेलि।
झकझोरि झमकति, डरति प्यारी, पिया अंकम मेलि।[1]

जिस हिण्डोरे पर राधा-कृष्ण झूल रहे हैं, उसकी शोभा भी अनुपमेय है। सोने के दो खम्भे गड़े हुए हैं जो रत्नों से जटित हैं, हिण्डोरे की पटुली के बीच-बीच में विद्रुम (मूँगा), हीरा व लाल गुँथे हुए हैं और—

सुन्दर डाँड़ि चुनी बहु लायौ, कोटिक मदन लजावनौ।
म व मयारि पिरोजा लटकत, सुन्दर सुढर ढरावनौ।
मोतिनि झालरि झुमका राजत, बिच नीलम बहु भावनौ।
चरंग पाट कनक मिलि डोरी, अतिही सुघर बनावनौ।

हिण्डोरा उत्सव में भाग लेने वाली ब्रजनारियाँ जिस साज-सज्जा तथा शृंगार-प्रसाधन से युक्त होती थीं, इसे भी सूरदास जी ने कदाचित् अपनी खुली आँखों से देखा हो, तभी तो वे उसे पूरी स्वाभाविकता के साथ अपने काव्य में अभिव्यक्त कर सके हैं—

---

१. सूरसागर (उत्तरार्द्ध)—(संस्क० २०१२)—पद ३४४८

पहिरे चीर सुरँग सारी, चुहचुह चूनरि बहु रंगनौ।
नील लहँगा लाल चोली कसि, केसरि अंग सुरँगनौ।
नवसत साजि सिंगार नागरी, मनिमय भूषन मंगनौ।[१]

इस प्रकार राधा-कृष्ण का हिण्डोरा झूलना देखकर सुर-बालाएं भी ब्रज-बधू न हो पाने की विवशता पर ग्लानि प्रकट करती हैं—

(हिंडोरैं) हरि संग झूलहिं घोष-कुमारि।
ब्रज-बधू बिधि क्यों न कीन्हीं, कहति सब सुर-नारि[२]।

३. रास (शरद)

शारदीय निशा में रोम-रोम को सुख देने वाला शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन बह रहा है। ऐसे मनोरम वातावरण में यमुना-तट पर रुचिपूर्ण मण्डली बनाकर राधा और कृष्ण 'रास' का उत्सव मनाने में विभोर हैं।[३] रास का आकर्षण उसके विशिष्ट प्रकार के नृत्य को लेकर होता है। सूरदास जी ने रासलीला में नृत्य के अनेक चित्र खींचे हैं, जिनमें से एक चित्र निम्नांकित है—

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुण्डल गण्ड-मण्डल, चपल नैननि सैन।
स्याम की छबि देखि नागरि, रही कटक जोहि।
सूर-प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन करि पोहि[४]।

---

१. सूरसागर (उत्तरार्द्ध) (सं० २०१२) पद ३४५०
२. —वही—पद ३४५९
३. —वही (पूर्वार्द्ध) पद १७५६
४. —वही पद १७६६

रास लीला समाप्त होने पर श्रमित गोप-गोपियों के साथ कृष्ण यमुना में 'जल-विहार' करके सब के श्रम का परिहार करते भी दिखाए गए हैं।[1] इस प्रसंग के वर्णन में सूरदास जी की वृत्ति विशेष रूप से रमी है और अत्यन्त तन्मयता की स्थिति में सृजित रास तथा जल-विहार के पद लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त करने में समर्थ बन गए हैं।

ब्रज-संस्कृति में रास को आज भी सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। नाटक का रूप-विशेष ग्रहण कर लेने के कारण नौटंकी तथा स्वाँग आदि में भी रास-नृत्य एवं रास-लीला लोक-जीवन के आह्लाद की नियामिका है। सूरदास जी के समय में रासलीला का जो व्यापक स्वरूप था, उसे उन्होंने अपने सरस पदों में साकार कर दिया है, जिनमें कृष्ण का लोक-रंजनकारी व्यक्तित्व, लोक-मानस का आनन्दोल्लास, प्रकृति का वैभव, राजन्य संस्कृति तथा लोक-संस्कृति सभी का समन्वित स्वरूप सजीव रूप में उपस्थित हो गया है।

४. देव-प्रबोधिनी (हेमन्त)

दीपावली के पश्चात् एकादशी के दिन देव-प्रबोधिनी का उत्सव मनाया जाता है। सूरदास जी ने स्पष्ट रूप से देव-प्रबोधिनी का तो नहीं, किन्तु एकादशी व्रत के अवसर पर स्नान तथा उत्सव आदि का सम्यक् वर्णन किया है।[2] नन्द एकादशी आने पर निराहार और निर्जल रहकर विधिवत् व्रत करते हैं, रात्रि-जागरण करते हैं और एक दण्ड रात्रि रह जाने पर यमुना-स्नान करने जाते हैं। इसका विस्तृत विवेचन आगे व्रत के प्रसंग में होगा। 'सूर-निर्णय' के विद्वान् लेखकों ने देव-प्रबोधिनी के अन्तर्गत व्याह के जागरण से सम्बन्धित एक विस्तृत पद उद्धृत किया है—

---

१. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—(संस्क० २०१५) पद १७७४

२. —वही—पद १६०२

अहो मेरी प्रान पियारी। भोर ही खेलन कहाँ सिधारी।[1]

५. होली (शिशिर)

षट्ऋतुओं के उत्सव-क्रम में होली का उत्सव शिशिर ऋतु में होता है। सूरदास जी ने होली का सर्वांगीण वर्णन सूरसागर में अनेक पदों[2] में किया है। इस प्रसंग पर राष्ट्रीय त्यौहारों के अन्तर्गत विचार होगा। अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सूरदास जी ने विस्तृत होली-वर्णन में जनजीवन के आनन्दोल्लासपूर्ण पक्ष को अपने साहित्य में अत्यधिक तन्मयता के साथ अभिव्यक्त किया है।

६. डोल (वसन्त)

हिंडोरा, रास, होली आदि की भाँति सूरदास जी के समय में 'डोल' का उत्सव भी बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता था और पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत उसके विस्तृत और व्यापक स्वरूप की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अतः डोल के उत्सव पर भी पद-रचना करते समय सूरदास की वृत्ति अधिक सजग और तन्मय रही है।

सूरदास जी ने अनेक पदों में हिंडोरा की ही भाँति डोल के उत्सव में भी राधा-कृष्ण को अन्य गोप-गोपियों के साथ झूला (डोल) झूलते हुए दिखाया है। यहाँ हम सूरदास जी का केवल एक पद उदाहरण रूप में प्रस्तुत करेंगे, जो अपने आप में डोल उत्सव की समग्र अभिव्यक्ति कर सकने में समर्थ है :—

गोकुलनाथ बिराजत डोल।
संग लिए वृषभानु-नन्दिनी, पहिरे नील निचोल।
कंचन खचित लाल मनि मोती, हीरा जटित अमोल।
झुलवहि जूथ मिलै ब्रज-सुन्दरि, हरषित करति कलोल।

---

१. सूर-निर्णय—श्री परीख और श्री मीतल—पृष्ठ २३७
२. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४६७ से ३५३५ तक

खेलति, हँसति परस्पर गावति, बोलति मीठे बोल।
सूरदास-स्वामी, पिय-प्यारी, झूलत हैं झकझोल।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टिमार्ग में स्वीकृत इन छः ऋतु-उत्सवों का सरसतापूर्ण वर्णन करके जहाँ सूरदास जी ने पुष्टिमार्ग की सांस्कृतिक भावना के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है, वहीं ब्रज-लोक-जीवन में सामान्य रूप से ग्राह्य सांस्कृतिक तत्वों को भी उभारने में सफलता प्राप्त की है और उनके इन ऋतूत्सवों के पद ब्रज की लोक-संस्कृति के प्रतिनिधि बन गए हैं।

लीलावतार उत्सव

पौराणिक आख्यानों से गृहीत महापुरुषों की जयन्तियों ने लोक-जीवन में प्राचीन काल से ही अपना स्थान बना रखा है। इनकी अवतारी लीलाओं से लौक-जीवन को तथा लोक-संस्कृति को समृद्ध एवं विकसित होने में पर्याप्त सहयोग मिला है। रामनवमी, नृसिंह जयन्ती, वामन जयन्ती, रथ-यात्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, गोपाष्टमी, पवित्रा और अक्षय-तृतीया ये नौ मुख्य उत्सव इस वर्ग में आते हैं।[2]

१. रामनवमी

रामनवमी का सम्बन्ध राम के चैत्र शुक्ल ९ को जन्म लेने से है। इस सम्बन्ध में सूरदास का निम्नलिखित पद उल्लेखनीय है—

अयोध्या बाजति आजु बधाई।

× × ×

भौमवार, नौमी तिथि नीकी, चौदह भुवन बड़ाई।[3]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—(संस्क० २०१२) पद ३५३७
२. देखिए अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन —डॉ० माया-रानी टंडन—पृष्ठ २७२
३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ४६१

२. नृसिंह जयन्ती

नृसिंह चतुर्दशी का उत्सव नृसिंह जयन्ती के रूप में मनाया जाता है। इस जयन्ती के ऊपर सूरदास जी ने सूरसागर के सप्तम स्कन्ध में विस्तृत वर्णन किया है, जैसे—

नरहरि, नरहरि, सुमिरन करौ। नरहरि पद नित हिरदय धरौ।[1]

सूर-सारावली में भी विस्तार के साथ इस जयन्ती का वर्णन हुआ है।[2]

३. वामन जयन्ती

वामन जयन्ती के विषय में सूरदास ने सूरसागर तथा सूरसारावली में वर्णन किया है। दोनों ग्रन्थों से उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(क) द्वारे ठाढ़े हैं द्विज बावन।

× × ×

तीनि पैंड़ बसुधा हौं चाहौं, परनकुटी कौं छावन।[3]

(ख) भादौं श्रवण द्वादसी सुभ दिन, धर्‌यौ विप्र हरि रूप।[4]

४. रथ यात्रा

सूरदास जी के समय से ही रथयात्रा को उत्सव का रूप प्राप्त हो गया था। इस विषय का भी उन्होंने कई पदों में वर्णन किया है, जिन्हें 'सूर-निर्णय' के विद्वान् लेखकों ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। एक उद्धरण इस प्रकार है—

देखो माई रथ बैठे हरि आजु।

× × ×

आषाढ़ सुदी दुतिया नक्षत्र पुष्य अचल नन्द सुत राज।[5]

---

१. सूरसागर—(पूर्वार्द्ध)—पद ४२१
२. सूर-सारावली—पद १०१ से १३५
३. सूर-सागर—(पूर्वार्द्ध)—पद ४४०
४. सूर-सारावली—पद ३२९-३४६
५. देखिए 'सूर-निर्णय'—पृष्ठ २२९

५. कृष्ण जन्माष्टमी

जन्माष्टमी का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के जन्म-दिन (भाद्र कृष्ण ८) से है। इस उत्सव ने सुदीर्घ काल से राष्ट्रीय पर्व का स्वरूप प्राप्त कर लिया है। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही पुष्टिमार्गीय भक्तों के परमाराध्य थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस पवित्र उत्सव का वर्णन सूरदास जी व्यापकता के साथ करते। उन्होंने अनेक पदों में इस उत्सव का वर्णन किया है, जिनमें से पर्याप्त उदाहरण जन्म-संस्कार के अन्तर्गत दिए जा चुके हैं। यहाँ एक अन्य उद्धरण दिया जाता है—

भादौं की अध-राति अँध्यारी।
द्वार कपाट कोट भट रोके, दस दिसि कन्त कंस भय भारी।[1]

सूर-सारावली में भी जन्माष्टमी का वर्णन हुआ है—

आठैं बुद्ध रोहनी आई संख चक्र बपु धारौ।[2]

६. राधाष्टमी

इस उत्सव का वर्णन सूर-साहित्य में नहीं मिलता, परंतु 'सूर-निर्णय' के लेखक-द्वय ने इस विषय का सूर का एक पद उद्धृत किया है—

आजु वृषभान कैं आनन्द।[3]

७. गोपाष्टमी

यह उत्सव श्रीकृष्ण के प्रथम गोचारण दिवस का प्रतीक है। सूरदास जी का इस प्रसंग में निम्नलिखित पद विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कृष्ण गोचारण के लिए जाने की अनुमति माता से तथा माता के माध्यम से नन्द से चाहते हैं—

---

१. सूर-सागर—(पूर्वार्द्ध)—पद ६२९
२. सूर-सारावली—पद ३६५ ७०
३. देखिए 'सूर-निर्णय'—पृष्ठ २३०

फिर भी सूर-निर्णय के विद्वान् लेखकों ने रक्षाबंधन पर सूरदास कृत एक पद अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है—

रक्षाबन्धन

राखी बँधावत मगन भए।
दछिना बहुत द्विजन को दीनीं, गोप हँकार लए।[1]

दीपावली

दीपावली आदिम युग की पहली फसल तैयार होने के उल्लास रूप में मनाया जाने वाला उत्सव है। धन लक्ष्मी का प्रतीक है। अतः इस उत्सव को लक्ष्मीपूजन का स्वरूप प्राप्त हुआ। राम के वन से अयोध्या आने पर मनाए गए उत्सव से भी इस त्यौहार का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इस त्यौहार के दिन धूमधाम से लक्ष्मी का पूजन किया जाता है, दीपमालाएँ सजाई जाती हैं, वैश्य अपना बही खाता नया करते हैं तथा स्वस्तिक बनाकर 'शुभ लाभ' की कामना प्रकट की जाती है।

सूरदास के समय में ब्रज में दीपावली का त्यौहार सोत्साह मनाया जाता रहा होगा, इस बात का संकेत उनके निम्नलिखित पद से मिलता है—

आजु दीपति दिव्य दीपमालिका।
मनहुँ कोटि रवि चन्द्र कोटि छबि मिटि जो गई निसि कालिका।
गोकुल सकल विचित्र मणि मण्डित सोभित झाक झब झालिका।
गज मोतिन के चौक पुराए, बिच-बिच लाल प्रबालिका।
बर श्रृंगार बिरचि राधा जू चलीं सकल ब्रज-बालिका।
झलमल दीप समीप सौंज भरि लै कर कंचन थालिका।[2]

---

१. देखिए सूर-निर्णय—श्री परीख और श्री मीतल—पृष्ठ २४०
२. सूरसागर—(पूर्वार्द्ध)—पद १४२७

इसी प्रकार दीपमालिका के दिन 'पाँचक' होने का भी उल्लेख सूरदास ने किया है—

दीपमालिका के दिन पाँचक गोपिनि कहौ बुलाई।[1]

इस एक पद में ही दीपावली का जैसा भव्य स्वरूप सूरदास जी ने अंकित किया है, वह आभिजात्य तथा लोक-संस्कृति के समन्वित चित्र की भाँति प्रभावक है। आज यह त्यौहार श्रेष्ठि-वर्ग के हास-विलास और केलि-कल्लोल का उपकरण-सा बनता जा रहा है, परन्तु कृत्रिमता से परे सामान्य लोक-जीवन में तो यह आज भी जन-मानस को आन्दोलित करता दिखाई पड़ता है।

होली

चैत्र-वैशाख में कटने वाली फसल में गेहूँ नामक अन्न को मनुष्य ने सर्वश्रेष्ठ समझा। कार्तिक-अगहन में बाजरे की फसल कटती है और चैत्र-वैशाख में गेहूँ की। बाजरा और गेहूँ का तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण हुआ तो गेहूँ अन्य सभी अन्नों का सिरताज प्रमाणित हुआ। ऐसी सर्व-श्रेष्ठ फसल के स्वागत में जो त्यौहार-उत्सव आरंभ हुआ, वह आज भी 'होली' के नाम के सारे देश में प्रचलित है। यह फसल राष्ट्रीय महापर्व का उद्भव लेकर आई और सब फसलों में श्रेष्ठ होने के कारण 'नए वर्ष' का आरंभ भी यहीं से माना जाने लगा। पुराणों में हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद के साथ भी इसका सम्बन्ध जोड़ा गया और इस प्रकार की जनश्रुति भी चल पड़ी है कि इसी दिन होलिका प्रह्लाद को लेकर अग्नि में प्रविष्ट हुई थी, परन्तु प्रह्लाद के स्थान पर होलिका ही जलकर भस्म हो गई और प्रह्लाद बच गए। इस प्रकार यह त्यौहार पाप पर पुण्य की विजय का प्रतीक भी बन गया है।

होली सूरदास का अत्यन्त प्रिय त्यौहार प्रतीत होता है, क्योंकि इस

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—(सं० २०१५)—पद १४३०

त्यौहार के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पद सविस्तार लिखे हैं, जिनमें होली के अवसर पर दिखाई पड़ने वाला जन-मानसोल्लास साकार होकर उतरा है।[१] उन्होंने होली के त्यौहार का आरंभ वसन्त-पञ्चमी के दिन से माना है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "सूर-काल में स्त्री-पुरुष सभी बड़ी स्वच्छन्दतापूर्वक फाग खेलते थे। दोनों ही एक दूसरे पर रंग, गुलाल, अबीर, चन्दन, चोवा, अरगजा इत्यादि डालते थे। समाज के समस्त बंधन इस अवसर पर ढीले हो जाते थे। ढोल, मृदंग, झाँझ, ढप, झालर आदि अनेक वाद्य-यन्त्र लोगों को उत्साहित करने के लिए निरन्तर बजाये जाते थे।"[२]

सूरसागर के अनेक पदों में पर्याप्त विस्तार से होली का विधिवत् वर्णन हुआ है और प्रत्येक पद होली के त्यौहार पर रंग खेलने का चित्र-सा प्रस्तुत कर देता है। स्थानाभाव-वश यहाँ कुछ ही उद्धरण देकर संतोष करना पड़ेगा—

गारी होरी देत दिवावत। ब्रज में फिरत गोप-गन गावत।
दूध दही के माते डोलैं। काहे न हो हो हो हो बोलैं।
बगलनि मैं दाबैं पिचकारी। बाँधत फेटैं पाग सँवारी।
कि गए बाटनि नारे पैंड़ें। नव केसरि के माट उलैंड़े।
छज्जनि ते छटति पिचकारी। रँगि गई बाखरि महल अटारी।[३]

तथा—

खेलत स्याम ग्वालनि संग।
एक गावत, एक नाचत, इक करत बहु रंग।

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—(सं० २०१२)—पद सं० ३४६७ से ३५३४ तक।

२. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा—परिशिष्ट २—पृष्ठ २३

३. सूरसागर—(उत्तरार्द्ध)—(सं० २०१२)—पद ३५२०

बीन मुरज उपंग मुरली, झाँझ झालरि ताल।
पढ़त होरी गेलि गारी, निरखि कै ब्रज-बाल।
कनक कलसनि होरि केसरि, कर लिये ब्रज नारि।
जबहिं आवत देखि तरुनी, भजत दै किलकारि।[1]

इसी प्रकार—

स्याम सँग खेलन चली स्यामा, सब सखियनि कौं जोरि।
चंदन अगर कुमकुमा केसरि, बहु कंचन घट घोरि।
खेलत मोहन रंग भरे हो, संग बाल ब्रज-बासि।[2]

होली वर्णन में सूरदास जी ने ऐसे रोचक प्रसंगों की अवतारणा की है कि उनके पूरे पदों का उद्धृत करना आवश्यक सा प्रतीत होता है, परन्तु प्रबन्ध का कलेवर देखते हुए इस लोभ का संवरण ही उचित जान पड़ता है। फिर भी एक अत्यन्त सरस प्रसंग को छूने का प्रयास किए बिना संतोष नहीं होगा। सूरदास जी ने सूरसागर के अनेक पदों में उस लट्ठ-मार होली का भी वर्णन किया है, जो ब्रज की निजी विशेषता है तथा जो आज भी ब्रज-लोक-जीवन में होली के अवसर पर संचरित होती देखी जाती है। नन्दगाँव और बरसाने की इस विशिष्ट होली का वर्णन कितना मनोरंजक है, इसका परिचय निम्नलिखित पद से ही हो जायगा—

खेलत फागु कुँवर गिरिधारी।
अग्रज, अनुज, सुबाहु, श्रीदामा, ग्वाल बाल सब सखाऽनुसारी।
इत नागरि निकसीं घर घर तें, दै आगैं वृषभानु-दुलारी।
मारति बाँस लिये उन्नत कर, भाजत गोप त्रियनि सौं हारी।

---

१. सूरसागर—(उत्तरार्द्ध)—(संस्क० २०१२)—पद ३४९४
२. —वही—पद ३५२५

एक गोप इक गोपी कर गहि, मिलि गए हलधर सों भुज चारी।
मिटि गई लाज सम्हार न कुचपट, बहुत सुगंध लियो सिर ढारी।[1]

सूर-सारावली का प्रथम पृष्ठ तो होली के साथ ही आरम्भ होता है, जिसमें सूर-सारावली के समस्त पदों के साथ—

"खेलत यहि बिधि हरि होरी, हो होरी, हो वेद बिदित यह बात।"[2]

टेक गाए जाने की व्यवस्था है और इस प्रकार होली के खेल के रूप में ब्रह्म का नित्य विहार, सृष्टि-विस्तार, देवासुर-संग्राम, चौबीस अवतार आदि का वर्णन हुआ है और यत्र-तत्र फगुवा चुकाने का भी समावेश होता गया है, जिससे यह सदा स्मरण रहा आता है कि यह सब होली का वर्णन हो रहा है। इसके अतिरिक्त दैनिक क्रम से, कृष्ण पक्ष प्रतिपदा से शुक्ल पक्ष पूर्णिमा तक, होलिकोत्सव का वर्णन पर्याप्त विस्तारपूर्वक हुआ है।[3] एक उद्धरण ही यहाँ पर्याप्त होगा—

हो हो करत, पलास कुसुम रंग वर्षत है जो अपार।[4]

होली के इन विस्तृत वर्णनों में जहाँ एक ओर सूरदास ने राजन्य संस्कृति को उभारा है, वहीं दूसरी ओर लोक-संस्कृति के सजीव स्वरूप को भी मुखर बना दिया है। वही स्वच्छन्दता, वही उल्लास और वही उन्मुक्त-हृदयता इन पदों में भी अभिव्यक्त हुई है, जो ब्रज-लोक-जीवन में होली के अवसर पर आज भी देखने को मिला करती है। ये समस्त विस्तृत वर्णन इस तथ्य के भी उद्‌घाटक हैं कि सूरदास जी के समय में ब्रज में होली का त्यौहार अत्यन्त तन्मयता और उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया जाता था। सूरदास जी का होली वर्णन इतना सरस तथा आकर्षक बन

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३५११
२. सूर-सारावली—पृष्ठ १
३. सूर-सारावली—पद १०५१-१०८७
४. सूर-सारावली—पद १०६१

पड़ा है कि उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक कवियों ने होली वर्णन के लिए लेखनी उठाने पर भी न केवल भाषा, अपितु भाव की दृष्टि से भी उनका प्रभाव ग्रहण किया है।

(घ) तीर्थ

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत तीर्थों का बड़ा महत्व है। हिन्दू धर्म मनुष्य को विविध तीर्थों की यात्रा करने तथा वहाँ स्नान करके अपने पापों का निरन्तर प्रक्षालन करते रहने की प्रेरणा देता है। हिन्दू जनता वैदिक काल से ही धार्मिकता-प्रधान भावना वाली रही है और उसने परंपरागत रूप से तीर्थ, व्रत, पूजा, उपवास आदि के प्रति धार्मिक आस्था को अपने अन्तस् में निरन्तर विकसित किया है। भारत में काशी, प्रयाग, अयोध्या, हरिद्वार, चित्रकूट, रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी, वैद्यनाथधाम, मथुरा, वृन्दावन इत्यादि अनेक तीर्थ-स्थान हैं, जहाँ समय समय पर देश के कोने-कोने से जनता पैदल अथवा गाड़ियों से चलकर पहुँचती रही है और वहाँ व्रत, पूजा, स्नान आदि धार्मिक कृत्य संपन्न करके अपने शारीरिक और मानसिक कल्मषों का प्रक्षालन करती रही है। मध्यकाल में ब्रज-प्रदेश भारत का सांस्कृतिक केन्द्र होने के कारण उसके गोकुल, द्वारिका, मथुरा, वृन्दाबन, कुरुक्षेत्र, ब्रज आदि स्थानों को तीर्थों का महत्व प्राप्त हो चुका था। महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनमें से कुछ स्थानों को विशिष्ट तीर्थ का महत्व प्रदान किया, जिससे उन स्थानों के प्रति धर्म-भीरु जनता विशेष रूप से आकर्षित हुई।

सूरदास जी के समय में भी ब्रज-लोक-जीवन में तीर्थों के प्रति यह आस्था पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी, जिसका परिचय उनके अनेक पदों से मिलता है। उन्होंने श्रीकृष्ण के मुँह से कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर स्नान का माहात्म्य इस प्रकार कहलवाया है—

बड़ौ परब रवि-ग्रहन कहा कहौं तासु बड़ाई।
चलौ सकल कुरुखेत, तहाँ मिलि न्हैये जाई।[1]

सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण के कुरुक्षेत्र में आकर स्नान करने का वर्णन सूरदास जी ने ऋषि-स्तुति प्रसंग में किया है—

सूरज-ग्रहन पर्व हरि जान। कुरुक्षेत्र में आए न्हान।[2]

इसी प्रकार एक अन्य पद में सूरदास जी ने तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है, जिसमें काशी, बनारस, केदार और हिवार को विशेष महत्त्वपूर्ण बताया है--

गोबिन्द भजन करौ इहिं बार।
संकर पारबती उपदेसत, तारक मन्त्र लिख्यौ स्रुति द्वार।
अस्वमेध जज्ञहु जो कीजै, गया बनारस अरु केदार।
राम-नाम सरि तऊ न पूजै, जौ तनु गारौ जाइ हिवार।
सहसबार जौ बेनी परसौ, चन्द्रायन कीजै सौ बार।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, जम के दूत खरे हैं द्वार।[3]

सूत के नैमिषारण्य में आकर ऋषियों के दर्शन करने की बात का भी उल्लेख सूरदास जी ने किया है—

सो पुनि नीमषार मैं आयौ। तहाँ ऋषिन कौ दरसन पायौ।[4]

अयोध्या के सम्बन्ध में तो सूरदास जी ने श्रीरामचन्द्र जी से यहाँ तक कहलवा दिया है कि--

---

१. सूरसागर—(उत्तरार्द्ध)—पद ४८९३
२. —वही—पद ४९१६
३. —वही (पूर्वार्द्ध)—पद ३४६
४. —वही—पद २२८

अपनी प्रकृति लिये बोलत हौं, सुरपुर में न रहाउँ।
सूरदास जौं बिधि न सँकोचै, तौ बैकुण्ठ न जाउँ।[1]

सूरदास जी कृष्ण के बाल तथा किशोर रूपों के उपासक थे और इन्हीं रूपों की लीला-भूमियों के प्रति उनमें तथा अन्य पुष्टिमार्गीय कवियों में विशेष श्रद्धा, अनुराग तथा आस्था-भावना थी, जिसके फलस्वरूप मथुरा और द्वारिका जैसे प्रमुख तीर्थस्थानों के वर्णन के प्रति उनमें वह जागरूकता नहीं दिखाई देती, जो ब्रज, गोकुल और वृन्दाबन के प्रति। ब्रज के सम्बन्ध में तो सूरदास जी की धारणा अत्यन्त उच्च कोटि की थी। वे तो यहाँ तक कह जाते हैं कि वहाँ जो सुख है, वैसा संसार में अन्यत्र कहीं नहीं है, क्योंकि—

कहाँ सुखद ब्रज कौ सो संसार।
कहाँ सुखद बंसीबट जमुना, यह मन सदा बिचार।[2]

वृन्दावन यद्यपि ब्रज के अन्तर्गत ही है, तथापि उसका अपना पृथक् महत्व है। इसलिए ब्रज के समान वृन्दावन का-सा सुख भी सूरदास जी को अन्यत्र नहीं दिखाई देता—

जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाए।

× × ×

बंसीबट, वृन्दाबन, जमुना तजि बैकुण्ठ न जाएँ।[3]

सूर-सारावली में भी सूरदास जी ने अनेक स्थानों पर वृन्दावन का

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६०९
२. वही—उत्तरार्द्ध—पद ४०३४
३. वही—पद ३४९

वर्णन किया है। एक स्थान पर तो उन्होंने राधा और कृष्ण के नित्य-प्रति वृन्दावन में विहार करने की बात भी कही है—

बृन्दाबन-गोबर्धन कुंजन, जमुना पुलिन सुदेस।
नित प्रति करत बिहार मधुर रस, स्यामा-स्याम सुबेस।[1]

इसी प्रकार एक पद में उन्होंने वृन्दावन को कृष्ण का धाम बताकर उसकी तीर्थता प्रमाणित की है—

वृन्दाबन निज धाम परम रुचि, बरनन कियौ बढ़ाय।[2]

भारतीय लोक-मानस में तीर्थाटन के प्रति तो आस्था है ही, परन्तु तीर्थाटन से लौटकर, ब्रह्मभोज, कथा तथा दान-पुण्य करने की भी प्रथा पुरातन काल से चली आ रही है, जिसके पीछे तीर्थाटन की सफलता की कामना निहित है।

लोक संस्कृति के इस विशिष्ट सांस्कृतिक पक्ष का उद्घाटन भी सूर-साहित्य में हुआ है। सूर-सारावली में सूरदास जी ने बलदेव को एक वर्ष में 'अठसठ' (६८) तीर्थों में जाकर स्नान द्वारा शरीर शुद्ध करने तथा तीर्थ-यात्रा से वापस आने पर अनेक विप्रों को प्रचुर दान देने का उल्लेख किया है।[3] इसी प्रसंग में उन्होंने उन कतिपय तीर्थों का भी संकेत किया है, जहाँ बलदेव जी यात्रा तथा स्नान करने गये थे—

सुभ कुरुक्षेत्र, अयोध्या-मिथिला, प्राग त्रिवेनी न्हाए।
पुन सतरुद्र और चंद्रभागा, गंगा व्यास न्हवाए।[4]

---

१. सूर-सारावली—पद १०१०
२. —वही—पद ९९७
३. —वही—पद ८३५-३७
४. —वही—पद ८२८

निमषारन आए बलजू जब, सकल बिप्र सिर नायौ।
करी अवज्ञा कथा कहत दुज, अपने लोक पठायौ।[1]

इसी प्रकार सारावली में 'प्रगट ब्रह्म नित बसत द्वारका'[2] कहकर उन्होंने द्वारिका के माहात्म्य का प्रतिपादन भी किया है।

मोक्ष-प्राप्ति की कामना भारतीय संस्कृति का विशेष गुण है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष--मनुष्य के ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। सूरदास जी ने भी कबीर की ही भाँति मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से वाराणसी (काशी) में 'करवत' लेने की बात कही है और एक स्थान पर तो वे वाराणसी को मुक्ति-क्षेत्र भी निरूपित करते हैं--

सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै।
× × ×
बन बारानसि मुक्ति क्षेत्र है, चलि तोकौं दिखराऊँ।[3]

इन वर्णनों से इस बात की सूचना निश्चित रूप से मिलती है कि ब्रज-संस्कृति में, सूरदास जी के समय में, इन विभिन्न तीर्थों में समय-समय पर जाकर स्नानादिक धार्मिक कृत्यों द्वारा आध्यात्मिक संस्कार करने की प्रवृत्ति समाविष्ट थी और ब्रज की जनता अपनी लोक-संस्कृति के अनुसरण में इन तीर्थों को विशिष्ट महत्व देती थी। इस प्रकार लोक-संस्कृति के इस विशिष्ट पक्ष को भी सूर-साहित्य में पर्याप्त मात्रा में अभिव्यक्ति मिली है।

(ङ) व्रत

शारीरिक तथा मानसिक परिष्करण की दृष्टि से भारतीय जन-जीवन

---

१. सूर--सारावली--पद ८२९
२. --वही--पद ८३८
३. --सूरसागर (पूर्वार्द्ध)--संस्क० २१५--पद ३४०

में व्रतों का विशेष महत्व रहा है। आज भी अनेक धार्मिक कृत्यों के साथ व्रत की भावना जुड़ी हुई है, जो स्वास्थ्य-रक्षा तथा मोक्ष-प्राप्ति की समन्वित भावनाओं द्वारा परिचालित होती है। इस प्रकार विभिन्न व्रत भी हमारी संस्कृति के अंग बन गए हैं। पूरे वर्ष भर में अनेक प्रकार के व्रतों की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त मासिक तिथियों में भइया दूज, हरतालिका, अक्षय-तृतीया, करवा, बहुला और गणेश चतुर्थी, वसन्त-पंचमी, हलषष्ठी, संतान तथा नवरात्र की सप्तमी, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी, गंगा-दशहरा, निर्जला एकादशी, देवप्रबोधिनी, भीमसेनी, डोल ग्यारस, श्रावण द्वादशी, प्रदोष, शिवरात्रि, अनन्त चतुर्दशी तथा प्रत्येक मास की पूर्णिमा (सत्यनारायण की कथा) आदि अनेक प्रकार के व्रत उत्तरी भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित हैं, जिनको न केवल स्त्रियाँ, अपितु पुरुष भी व्रत, स्नान और उपवास आदि विविध रूपों में मनाते हैं।

यों तो सूरदास जी के समय में भी ब्रज में अनेक प्रकार के व्रत प्रचलित थे, परन्तु उनमें से चन्द्रायण और एकादशी व्रत का ही उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है।

चन्द्रायण

चन्द्रायण के सम्बन्ध में सूरदास 'भगवन्त भजन' के संदर्भ में कहा है—

सहस बार जौ बेनी परसौ, चन्द्रायन कीजै सौ बार।[1]

एकादशी

सूरसागर के नवम स्कन्ध में राजा अम्बरीष की कथा के प्रसंग में सूरदास ने एकादशी के व्रत का विस्तारपूर्वक वर्णन करके उसके विविध विधि-विधानों की ओर भी संकेत किया है। निराहार एकादशी व्रत के पूर्व की भूमिका भी उन्होंने व्रत के रूप में प्रस्तुत की है—

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—(संस्क० २०१५)—पद ३४६

नौमी नेम भली बिधि करै। दसमी कौ संजम बिस्तरै।
एकादसी करै निरहार। द्वादसि पोषै लै आहार।
पतिव्रता ता नृप की नारी। अह-निसि नृप की आज्ञाकारी॥[1]

इस प्रकार निराहार एकादशी व्रत रहकर द्वादशी को आहार द्वारा पारण करने वाले नृप की स्त्री पतिव्रता होती है, इस ओर भी सूरदास ने संकेत किया है।

सूरदास ने नन्द द्वारा भी एकादशी व्रत किए जाने का विस्तृत वर्णन किया है। एकादशी व्रत आने पर नन्द विधिवत् व्रत करते हैं, वे निराहार और निर्जल रहकर सारे दिन नारायण का ध्यान करते हैं, रात्रि में जागरण करते हैं, देव-मंदिर को पाटंबर से छाकर उसे चारों ओर से फूलों की माला पहनाते हैं तथा देव मंदिर को चन्दन से लिपा कर, चौक देकर 'बैठकी' बनाते हैं—

देव महल चंदनहिं लिपायौ। चौक देइ बैठकी बनायौ।
सालिग्राम तहाँ बैठायौ। धूप दीप नैवेद्य चढ़ायौ।
आरति करि तब माथ नवायौ। ध्यान सहित मन बुद्धि उपायौ।
आदर सहित करी नन्द पूजा। तुम तजि और न जानौं दूजा।[2]

इस प्रकार सारी रात्रि जागरण करके एक दण्ड द्वादशी रह जाने पर नन्द पारण-विधि की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे यशोदा को पारण का प्रबन्ध करने का निदेश देकर यमुना-स्नान के लिए जाते हैं—

यह कहि नन्द गए जमुना तट। लै धोती झारी बिधि-कर्मट।
झारी भरि जमुना जल लीन्हौं। बाहिर जाइ देह-कृत कीन्हौं।
लै माटी कर-चरन पखारी। उत्तम बिधि सौं करी मुखारी।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ४४९
२. —वही—पद १०६२

इस प्रकार पवित्र होकर जैसे ही 'अंचवत लै पैठे नन्द पानी', वरुण ने उन्हें पकड़ लिया। बाद में कृष्ण ने जाकर नन्द को वरुण से छुड़ाया। वापस आने पर सब लोग पूछने लगे कि यह दुर्घटना कैसे हो गई ? इस पर नन्द कहते हैं—

एकादसी कालिह मैं कीन्हौं। निसि-जागरन-नेम यह लीन्हौं।
तीनि पहर निसि जागि बाई। तब लीन्हौं मैं महरि बुलाई।

इत्यादि।

सूर-सारावली में केवल एक स्थान पर इस व्रत का उल्लेख हुआ है।[1] सूरदास ने व्रतों के साथ ब्रज में प्रचलित षोडशोपचार पूजन-विधि का भी संकेत सूरसागर के उक्त पद में किया है।

सूरदास जी के समय में जन-जीवन में संचरित श्रद्धा-भावना के आधार पर व्रत, उपवास आदि की जो प्रवृत्ति व्याप्त थी और ऐसे अवसरों पर पूजा-विधि का जिस प्रकार विधिवत् पालन होता था, उसी का संकेत उन्होंने उपर्युक्त एकादशी के माहात्म्य-गायन के प्रसंग में किया है, जिसके द्वारा हमें तद्युगीन व्रत एवं पूजा-विधि की भी सम्यक् जानकारी हो जाती है।

(च) दान

एकादशी माहात्म्य के प्रतिपादन के पश्चात् सूरदास जी ने लोक-संस्कृति के एक और महत्वपूर्ण तत्व को अपने काव्य में उभारा है और वह तत्व है दान का। मानव की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह सिर पर आया हुआ संकट टल जाने पर दान-पुण्य की प्रवृत्ति अपनाता है। यह प्रवृत्ति आज भी लोक-जीवन में परिव्याप्त दिखाई पड़ती है। वरुण से बचकर वापस लौटने पर यशोदा नन्द से कहती हैं कि मेरे मना करते हुए भी तुम रात को जमुना-तट पर गए और अकेले जल में प्रवेश किया। इस

---

१. देखिए सूर-सारावली—पद ६७२

संकट से मुक्ति मिली है, यह पिछले पुण्यों का ही फल है। अतः इस समय ब्राह्मणों को कुछ दान दो, बधावे बजवाओ और आमंत्रितों को मिठाई और पान दो—

नन्दहिं कहति जसोदा रानी।
मोहिं बरजत निसि गए जमुन तट, पैठे इकले पानी।
अब तो कुसल परी पुन्यनि तैं, द्विजनि करौ कछु दान।
बोलि लेहु बाजने बजावैं, देहु मिठाई पान।[१]

सूर-साहित्य में दान का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। सूरसागर में ऐसे स्थल पर्याप्त मात्रा में हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख अनेक संस्कारों तथा तीर्थ और व्रत के प्रसंगों में हो चुका है। सूर-सारावली में भी संक्षेप में अनेक स्थानों पर दान का उल्लेख हुआ है, जिनमें से केवल एक उद्धरण ही यहाँ पर्याप्त होगा—

कहुँ मिलि जाय करत बिप्रन संग अति आनन्द मुरार।
नाना दान देत हय-गज-भुअ, ऐसे परम उदार।[२]

अनेक संस्कारों के अवसर पर 'गोदान' की महत्ता भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भी स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति के मरते समय उसके हाथ में गाय की पूँछ पकड़ाकर गोदान कराया जाता है तथा अंत्येष्टि के संस्कारों में भी गोदान की व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार तीर्थ-यात्रा से लौटने पर भी गोदान करने की प्रथा लोक-जीवन में प्रसृत है।

सूरदास जी ने 'गोदान' की इस प्रथा के प्रति लोक-जीवन की आस्था देखी थी। अतः स्थान-स्थान पर उन्होंने भी गोदान किये जाने का उल्लेख

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६०३
२. सूर-सारावली—पद ६६७

किया है। पिछले पृष्ठों में नन्द द्वारा गोदान किये जाने का उल्लेख संस्कारों के अन्तर्गत हो चुका है। यहाँ सूर-सारावली से एक उद्धरण देकर यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि सूरदास जी ने लोक-जीवन की इस महत्वपूर्ण आस्था-भावना को अपने काव्य में स्पर्श किया है—

कहुँ गोदान करत कहुँ देखे, कहुँ कछु सुनत पुरान[१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान की वैदिक काल से चली आती हुई परम्परा और उसके नाना रूप भी सूरदास की दृष्टि से ओझल नहीं होने पाए हैं और उनको उन्होंने अपने साहित्य में अभिव्यक्त करके लोक-संस्कृति के एक महत्वपूर्ण तत्व को उभार दिया है।

(छ) पूजा

देवताओं की कल्पना सिन्धु–सभ्यता की देन है। प्रकृति की मातृ-देवी के रूप में पूजा सिंधु-सभ्यता के लोगों ने ही की थी, जो आज भी मातृ-पूजन अथवा माता की पूजा के नाम से लोक-जीवन में प्रचलित है। कालान्तर में शक्ति-पूजा को शक्ति-धर्म ने और व्यापक रूप प्रदान किया। वैदिक काल में अनेक देवताओं की पूजा का विकास हुआ। ऋग्वेद में द्यौः, वरुण, सूर्य, विष्णु, अश्विन, उषा, चन्द्र, रात्रि, इन्द्र, वायु, जल, रुद्र, मरुत, अग्नि सोम, नदियाँ, पृथ्वी, गंधर्व, अप्सराएँ, वन, वृक्ष और पौधों के अधिष्ठाता देव, कृषि, गोचर और पर्वतों के अधिष्ठाता देव, गृह-देवता, नक्षत्र, यज्ञ के उपादान और पशु, सरस्वती, वाग्देवियाँ तथा मृत-पितर आदि को देवताओं की श्रेणी में मानकर पूजा करने का उल्लेख हुआ है।[२]

इससे यह स्पष्ट हुआ कि भारत में बहुदेवोपासना की वृत्ति अत्यन्त पुरातन है, परन्तु इन विविध देवी-देवताओं में से विष्णु, सूर्य, इन्द्र, शिव, देवी

---

१. सूर सारावली—पद ६६८

२. देखिए 'भारत की प्राचीन संस्कृति'—डॉ० रामजी उपाध्याय—पृष्ठ १७३-७५

और गणेश की उपासना-पूजा का विशेष रूप से प्रचलन जन-जीवन में रहा है। सूरदास के युग में भी ब्रज में इन देवताओं के प्रति आस्था-भावना व्याप्त थी तथा जन-जीवन में इनकी उपासना की जाती थी—ऐसा उनके पदों से ज्ञात होता है।

सूर्य

सूर्य के प्रति नारी समाज में विशेष आस्था सूरदास के पदों में दिखाई पड़ती है। एक पद में सूरदास की यशोदा राधिका को बुलाकर पूछती हैं कि तुम्हारा गाँव कौन सा है, तुम्हें ब्रज में कहीं नहीं देखा था, तुमने बड़ा अच्छा किया जो कल मेरे भूले हुए कृष्ण को पकड़कर घर ले आई। राधा की सुन्दरता का जादू कोमल मातृ-हृदय पर चल गया और उसे वधू-रूप में पाने की कामना भी तत्काल बलवती हो उठी—

नैन बिसाल बदन अति सुन्दर, देखत नीकी छोटी।
सूर महरि सबिता सों बिनवति, भली स्याम की जोटी।[1]

यशोदा ने सूर्य से यह कामना मन ही मन नहीं प्रकट की थी, अपितु अंचल पसार कर पूर्ण आस्था-भावना में तन्मय होकर की थी, इसका प्रमाण राधा के मुँह से ही सुनने योग्य है। माता द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'कहाँ हुती प्यारी', वे यशोदा के घर जाने और यशोदा द्वारा उनका शृंगार किए जाने की सारी बातें विस्तार से बताते हुए कहती हैं—

तिल चाँवरी गोद करि दीनी, फरिया दई फारि नव सारी।
मो तन चितै, चितै ढोटा-तन, कछु सविता सौं गोद पसारी।[2]

दूसरी ओर समस्त गोपियाँ हैं, जो कृष्ण को 'भरतार' के रूप में प्राप्त करने की इच्छुक हैं। वे 'गेह-नेह बिसारि कर' शिव और सूर्य से एक साथ

---

१. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—पद १३२०
२. —वही —पद १३२६

विनय, स्तुति, तथा ध्यानादिक क्रियाओं द्वारा कठोर तपस्या करके अपनी कामना व्यक्त करती हैं—

सिव सौं विनय करति कुमारि।
जोरि कर मुख करति अस्तुति, बड़े प्रभु त्रिपुरारि।

× × ×

बिनय अंचल छोरि रवि सौं, करति हैं सब बाम।
हमहिं होहु दयाल दिनमनि, तुम बिदित संसार।
काम अति तनु दहत दीजै, सूर हरि भरतार।[1]

गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में पाने की यह कामना शिव और सूर्य से एक साथ निवेदित की है, यह ऊपर कहा जा चुका है। यह कामना पूर्ण होने पर अर्थात् कृष्ण को 'भरतार' रूप में प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे उक्त दोनों देवताओं के प्रति विविध विधि-विधानों द्वारा अपनी कृतज्ञता भी एक साथ ही ज्ञापित करती हैं—

सिव-संकर हमकौं फल दीन्हौ।

× × ×

विनय करति सबिता, तुम सरि को, पय अंजलि कर जोरी।
सूर स्याम पति तुम तैं पायौ, यह कहि घरहिं बहोरी।[2]

सूर-सारावली में भी सूरदास जी ने शिव और सूर्य की एक साथ पूजा किए जाने का उल्लेख किया है:—

कहूँ अरघ देत सूरज कौं, कहुँ पूजत त्रिपुरार।[3]

शिव की पूजा ब्रजनारियों ने बिना सूर्य को सम्मिलित किए हुए भी की है, जिसमें सूरदास ने उनके द्वारा 'नेम-धर्म' से 'क्रिया जुत' रहने, मनौतियाँ

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १३८५
२. —वही—पद १४१६
३. सूर-सारावली—पद ६७८

करने, 'कमल-पुहुप मालूर पत्र-फल नाना सुमन' द्वारा मन-क्रम-वचन से महादेव की पूजा करके गिरिधर नन्दकुमार को पति रूप में पाने की कामना किए जाने का विधिवत् वर्णन किया है :—

गौरी-पति पूजति ब्रजनारि।

× × ×

महादेव पूजति मन बच करि सूर स्याम की आस।[1]

पार्वती

पार्वती (गौरी) की पूजा अनेक विश्वासों के आधार पर होती है, परन्तु कुमारियाँ गौरी की पूजा विशेष रूप से मनवांछित पति पाने की भावना से करती हैं। गो० तुलसीदास जी ने भी सीता जी को गौरी की पूजा करने, राम को पति रूप में पाने की कामना करने तथा गौरी द्वारा 'असीस' दिए जाने के प्रसंग का वर्णन किया है।[2] सूरदास ने रुक्मिणी द्वारा कृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए गौरी की पूजा कराई है। रुक्मिणी धूप-दीप पूजा-सामग्री लेकर सखियों के साथ देवी के मन्दिर में आती हैं, अनेक योद्धा रक्षा के लिए नियुक्त हैं, पक्षी तक मन्दिर में नहीं जा सकते। ऐसे नीरव वातावरण में रुक्मिणी ने गौरी की पूजा करके अपनी कामना प्रकट की है—

कुँवरि पूजि गौरी बिनती करी, बर देउ जादवराई।
मैं पूजा कीन्हीं इहिं कारन, गौरी सुनि मुसकाई।
पाइ प्रसाद अंबिका मंदिर, रुकमिनि बाहर आई।[3]

सूरदास ने सूर-सारावली में भी रुक्मिणी द्वारा गौरी-पूजा करने तथा गौरी के वरदान देने का वर्णन किया है और उक्त प्रसंग में कृष्ण को 'कमला-

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १३८४

२. यहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हर्षित अलीं।
'तुलसी' भवानिहिं पूजि पुनि-पुनि मुदित मन मंदिर चलीं॥

३. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४७९९

'पति' तथा रुक्मिणी को 'कमला' का अभिधान दिया है। उदाहरणार्थ--

पूजन करन चली देवी कौ, सखी वृन्द सब संग।
पूजा करि बोली यह कमला, लोक-लाज कृत भंग।[१]

× × ×

कृष्णचन्द्र के चरन-कमल में सदा रहौ अनुराग।
ये ही पति नित होंहि हमारे, जो पूरन मम भाग।[२]
तब उन कह्यौ कृष्ण तुम्हरे पति ह्वैहैं अचल सुहाग।
चली महा बर पाइ रुकमिनी, अति पूरन अनुराग।[३]

दुर्गा

सूरदास जी ने सूर-सारावली में दुर्गा-पूजा का भी उल्लेख किया है। श्रीकृष्ण जाम्बवन्ती को व्याहकर स्यमन्तक मणि सहित द्वारिका वापस आए।[४] तब आश्विन सुदि ९ को घर-घर दुर्गा की पूजा की गई--

आस्वनि सुदि नौमी कौ सुभ दिन, हरि आये निज धाम।
तौलौं घर-घर प्रति, दुर्गा कौ पूजन कियौ सब गाम।[५]

इसी प्रकार श्रीकृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन के प्रसंग में कृष्ण को दुर्गा-पूजा करते हुए भी दिखाया गया है--

कहुँ एक दुर्गा देवि जानि कै, जोरि बिप्र निज धाम।
करत होम बहु भाँति वेद-धुनि, सब विधि पूरन काम।[६]

---

१. सूर-सारावली--पद ६३०
२. --वही--पद ६३२
३. --वही--पद ६३३
४. --वही--पद ६५०
५. --वही--पद ६५१
६. --वही--पद ६७९

गणेश

सूरदास जी ने सूरसागर तथा सारावली में भी गणेश-पूजा का वर्णन किया है—सूरसागर में श्रीकृष्ण के जन्म के अवसर पर सोहर गाए जाते समय और सारावली में श्रीकृष्ण के गार्हस्थ्य-जीवन का वर्णन करते हुए। सूरसागर से उद्धरण लीजिए--

गौरि गनेस्वर बीनऊँ (हो) देबी सारद तोहिं।[१]

सारावली में भी गणेश का स्मरण किया गया है—

प्रथम पुत्र कौ व्याह जानि कै, पूजति कहूँ गनेस।[२]

इन्द्र

सूरदास के समय में ब्रज में इन्द्र भी पूज्य देवताओं में परिगणित होते थे, जिसका ज्ञान उनके अनेक पदों में हुए इन्द्र-पूजा के वर्णन से होता है। यशोदा नन्द को इन्द्र की पूजा करने की प्रेरणा देते हुए कहती हैं—

नन्द महरि सों कहति जसोदा, सुरपति की पूजा बिसराई।[३]

आगे यशोदा ब्रज में अपनी वर्तमान स्थिति, कीर्ति, प्रतिष्ठा, दूध-दही-माखन की संपन्नता, अन्न-धन तथा नवों निधि की उपलब्धि, कृष्ण-बलराम जैसे पुत्ररत्नों की संप्राप्ति आदि का श्रेय इन्द्र की कृपा को देते हुए कहती हैं कि 'दिन आए अब करहु चँड़ाई।'[४] यशोदा अपनी सभी सखियों को बुलाकर कहती हैं कि 'सुरपति की पूजा तुम सबहिन बिसराई।'[५] सभी गोकुल-नारियाँ यशोदा के इस कथन से चौंक पड़ीं और कहने लगीं कि भले तुमने

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६५८
२. सूरसारावली—पद ६८०
३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४२९
४. —वही—पद १४२९
५. —वही—पद १४३०

याद दिलाई। अन्त में वे सब यशोदा की इन्द्र-पूजा में सहायता करने का आश्वासन देती हैं—

सूर हँसति ब्रज-नारि महरि सौं, ऐहैं साँच पतीजौ।[1]

यशोदा द्वारा इसी प्रकार स्मरण दिलाने पर नन्द भी इस भारी भूल से भयभीत हो उठते हैं और कहते हैं:—

छमा कीजौ मोहिं हौं प्रभु तुम्हिं गयौ भुलाइ।[2]

नन्द ने समस्त गोपों को बुलवाकर पूजा का आयोजन किया। यशोदा कृष्ण के डर से पूजा के लिए तैयार की गई भोजन-सामग्री बचा-बचाकर रखती हैं—

देखे रहौ न छुवै कन्हैया, कह जानै वह देव काज पर।
और नहीं कुल-देव हमारे, कै गोधन कै ए सुरपति बर।[3]

पूजा हो रही है, द्वार पर बधाइयाँ बज रही हैं। कृष्ण जी आकर पूछने लगे कि किसकी पूजा हो रही है? इस वर्णन में सूरदास जी ने इन्द्रपूजा के विधि विधानों के समावेश के साथ मंगल-गान का भी संकेत कर दिया है तथा इन्द्र को नन्द के कुल का देवता भी बताया है—

बाजति नन्द अवास बधाई।
थापैं देति घरनि के द्वारैं, गावति मंगल नारि बधाई।[4]

इन्द्र और गोवर्द्धन की पूजा में सूरदास की वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक रमी है। अन्य पूजा-प्रसंगों का प्रायः संक्षेप में ही उन्होंने वर्णन किया है।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४३१
२. —वही—पद १४३२
३. —वही—पद १४३५
४. —वही—पद १४३६

इससे जान पड़ता है कि इन्द्र और गोवर्द्धन की पूजा को सूर के युग में ब्रज में विशेष महत्व प्राप्त था।

गोवर्द्धन पूजा (अन्नकूटोत्सव)

ब्रज मण्डल में गोबर्द्धन-पूजा का जो स्वरूप है, उसका निदर्शन सूरदास जी ने अनेक प्रसंगों में कराया है, जिनमें ब्रज-जीवन का उल्लास भी मुखर हुआ है। कृष्ण को इन्द्र की पूजा अच्छी नहीं लगी। नन्द के कुलदेवता इन्द्र और गोवर्द्धन थे। कृष्ण ने गोवर्द्धन पूजा पर विशेष बल दिया और इन्द्र की पूजा बन्द करने का स्वर ऊँचा उठाया। इन्द्र-पूजा की ही भाँति गोवर्द्धन की इस पूजा-योजना तथा उसके संपन्न किए जाने में सूरदास जी ने अत्यधिक अभिरुचि ली है और एक ही स्थल पर कुल ३२ पदों में उसका वर्णन किया है।[1] प्रारम्भ में कृष्ण इन्द्र की पूजा बन्द करने और गोवर्द्धन की पूजा आरम्भ करने का प्रचार करते हैं। उदाहरणार्थ—

मेरो कह्यौ सत्य करि जानौ।
जो चाहौ ब्रज की कुसलाई तौ गोबर्द्धन मानौ।
दूध-दही तुम कितनौ लैहौ, गोसुत बढ़ैं अनेक।
कहा पूजि सुरपति सों पायौ, छाँड़ि देहु यह टेक।[2]

कृष्ण का प्रयत्न सफल होता है,[3] ब्रज भर में कोलाहल छा जाता है, गोप-समाज में उमंग व्याप्त है, सब एक-दूसरे के गले मिलते हैं, हजारों छकड़ों में भोजन-सामग्री लद रही है, पूजा की सामग्रियाँ भी अनेक हैं।[4] इस नव्य-पूजा के आयोजन में सारा ब्रज व्यस्त दिखाई पड़ रहा है। धूम-

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४३७-६८
२. —वही—पद १४३९
३. —वही—पद १४४३
४. —वही—पद १४४४

धाम के साथ सब लोग गोबर्द्धन की पूजा के लिए चल पड़े। मार्ग अवरुद्ध हो गया है।[१] ग्वालों के साथ ही ब्रज-नारियाँ भी गोवर्द्धन पर सज-धज कर जा रही हैं, जिनमें चन्द्रावली, ललिता और राधिका भी हैं।[२] सारा ब्रज प्रातः काल ही गोवर्द्धन-पर्वत पर पहुँच गया। नन्द गोवर्द्धन पूजा की तैयारी करने लगे —

बिप्र बुलाइ लिए नँदराइ।
प्रथमारम्भ यज्ञ कौ कीन्हा, उठे बेद-धुनि गाइ।
गोबर्द्धन सिर तिलक चढ़ायौ, मेटि इन्द्र ठकुराइ।
अन्नकूट ऐसौ रचि राख्यौ, गिरि की उपमा पाइ।
भाँति भाँति व्यंजन परसाए, कापैं बरन्यौं जाइ[३]।

भोजन परसे जाने के बाद कृष्ण ने नन्द बाबा को बुला कर गिरिराज को मनाने के लिए कहा।[४] सभी गोप गिरिराज से विनय करने लगे। उन्होंने कलश में दूध भर-भर कर गिरि-शिखर पर ढाला, वस्त्राभूषण चढ़ाए, प्रेम-पूर्वक थाल रच कर नेत्र मूँदकर भोग समर्पित किया। सब लोगों ने देखा कि सहस्त्र-भुजाओं से युक्त गिरिराज साकार उपस्थित होकर अपने हाथों से ले-ले कर भोजन कर रहे हैं।[५]

इस प्रकार कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन-पूजा के श्रीगणेश किए जाने के रूप में सूरदास ने अलौकिकता का विधान किया है। गोवर्द्धन पूजा के रूप में उत्पन्न की गई वैचारिक क्रांति आज भी ब्रज के लोक-जीवन में अपनी सजीवता में विद्यमान दिखाई पड़ती है। गोवर्द्धन-पूजा के वर्तमान संशोधित एवं परि-

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४४६
. —वही—पद १४४७
३. —वही—पद १४५०
४. —वही—पद १४५३
५. —वही—पद १४५४

वर्द्धित स्वरूप में लोक-जीवन का प्राचीन पौराणिक विश्वास लोक-संस्कृति को आज भी सप्राणता प्रदान कर रहा है। गोवर्द्धन-पूजा का जैसा वर्णन अष्टछापी कवियों ने किया है, लगभग उसी रीति से 'अन्नकूटोत्सव' आज भी ब्रज में तथा अन्यत्र भी मनाया जाता है। अन्तर यह है कि गोवर्द्धन के स्थान पर कहीं तो उसकी गोबर की प्रतिमा बनाकर पूजा की जाती है और कहीं श्रीकृष्ण या ठाकुरजी अथवा देवता की। जितने प्रकार के व्यंजन, पकवान, मिठाई, फल, मेवा आदि इस 'अन्नकूट' के दिन जुटाए जाते हैं, संभवतः उतने किसी भी दूसरे त्यौहार में नहीं होते। खरीफ की फसल, कटने के दिन होने के कारण 'अन्नकूटोत्सव' यत्र-तत्र एकत्र अन्न-राशि का प्रतीक भी माना जा सकता है।[1]

यक्ष पूजा

शूरसेन जनपद की सांस्कृतिक दृष्टि सदा से ही समन्वय-प्रधान रही है और वहाँ वसुदेव-पुत्र भगवान् कृष्ण को महाविष्णु का अवतार मान कर उनकी उपासना की जाती रही है। साथ ही अन्य अनेक देवी-देवताओं की उपासना भी परंपरानुगत रूप में होती रही है। यक्ष पूजा, नागपूजा और मातृका देवी की पूजा तो शूरसेन (ब्रज) जनपद की प्राचीन परंपरा रही ही है, परन्तु इन्द्र पूजा, गोवर्द्धन पूजा और यमुना पूजा के रूप में इस जनपद की क्रमशः इन्द्रमह, गिरिमह और नदीमह नामक प्राचीनतम पूजाओं का क्रम अद्यावधि संचरित होता आ रहा है। इससे इस जनपद की धार्मिक समन्वय-दृष्टि का परिज्ञान सहज ही हो जाता है।

मथुरा के जन-जीवन में बहुत प्राचीन काल से यक्षों और यक्षिणियों की पूजा की प्रथा प्रचलित रही है। अनेक पुरातन अभिलेख, साहित्य-ग्रन्थ तथा मथुरा के आसपास से उपलब्ध विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित अनेक कला-

---

१. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डॉ० मायारानी टंडन—पृष्ठ ३०३

कृतियाँ भी इस कथन की पुष्टि करती हैं। यक्ष पूजा आज भी ब्रज में अपनी स्थिति बनाये हुए है। मथुरा के साथ यक्षों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। पुरातात्विक अनुसंधानों के फलस्वरूप ईस्वी पूर्व तीसरी शती से लेकर गुप्त काल के अन्त तक की अनेक यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं, जिनमें मथुरा से प्राप्त होने वाली यक्षराज कुबेर, उनकी पत्नी भद्रा या हारीती तथा अन्य अनेक यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमायें इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे जहाँ एक ओर मथुरा के साथ यक्षों के पुरातन सम्बन्ध को स्पष्ट करती हैं, वहीं ब्रज की प्राचीन संस्कृति की झलक भी दिखा जाती हैं। प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के शब्दों में "यक्ष के लिये वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' नाम मिलता है (अथर्ववेद)। यह ब्रह्म 'बरम' या 'बरमदेव' नाम से आज भी जीवित है और इसकी पूजा विभिन्न स्थानों में प्रचलित है। वीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं। इसी प्रकार यक्षी पूजा का रूप आधुनिक यक्षिणी, माता, जोगिनी, डाकिनी आदि की पूजा में देखा जा सकता है।"[१]

महाकवि सूरदास जी के समय में भी यह यक्ष-पूजा 'जाख-पूजा' के रूप में प्रचलित थी और उन्होंने यथावसर लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति के इस प्राचीन स्वरूप को भी अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। सूरदास जी का एक ऐसा पद यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय में यक्ष (जाख) की पूजा में प्रयुक्त होने वाले दही की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस प्रयोजन के लिये बिल्कुल नई और कोरी मटकी में दही जमाया जाता था। ऐसे धार्मिक कृत्य के लिए पवित्रता से जमाये गये दही को यदि श्रीकृष्ण चोरी से घर में घुस कर खा जाते थे तो गोपियों का आपे से बाहर हो उठना और माता यशोदा के पास उलाहना ले कर पहुँचना बहुत स्वाभाविक था और उसके पश्चात् माता यशोदा का क्रोधावेश में श्रीकृष्ण को रस्सी से बाँधना तथा 'साँटी'

---

१. देखिए 'ब्रज भारती'—वर्ष १३, अंक २, पृष्ठ ३८

से प्रताड़ित करना भी तो उतना ही स्वाभाविक था। परन्तु यक्ष के लिए तो यह गौरव की बात थी कि उनके लिए जमाया गया दही श्रीकृष्ण की स्वाद-वृत्ति का परितोषक बना। तभी तो ऊखल में बँध कर श्रीकृष्ण ने कुबेर (यक्ष) के दोनों पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव को शाप-मुक्त करके उनका उद्धार किया—

जसुदा तेरो मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै।।
जौ तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखि कौ जायौ।
कहा भयौ जो घर कैं ढोटा, चोरी माखन खायौ।।
कोरी मटकी दह्यौ जमायौ, जाख न पूजन पायौ।
तिहिं घर देव पितर काहे कौ, जा घर कान्हर आयौ।।
जाकौ नाम लेत भ्रम छूटै, कर्म फन्द सब काटै।
सोई इहाँ जेंवरी बाँधे, जननि साँटि लै डाँटै।।
दुखित जानि दोउ सुत कुबेर के, ऊखल आपु बँधायौ।
सूरदास प्रभु भक्त हेतहीं, देह धारि कै आयौ।।[१]

लोक-जीवन में कुल देवी और कुल-देवताओं की पूजा का भी अनुक्रम संचरणशील रहा करता है, जिसे प्राचीन यक्ष पूजा का आधुनिक रूप ही कहा जायगा। ब्रज लोक जीवन में भी इन्हें मान्यता प्राप्त है और महाकवि सूरदास जी ने अपने अनेक पदों में इनके प्रति ब्रजवासियों की आस्था-भावना अभिव्यंजित की है। इसी प्रकार वन-देवी और वन-देवता भी ब्रजवासियों के लिए संपूज्य हैं। ये सभी देवी-देवता संकट में मनुष्य की सहायता तथा रक्षा करते हैं। अतएव इनकी भी पूजा ब्रज-संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। इन सब के प्रति भी ब्रजवासियों की आस्था-भावना सूरदास जी के अनेक पदों में अभिव्यंजित हुई है। यहाँ केवल एक उदाहरण देकर इस कथन

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद सं० ९६४

की पुष्टि की जा सकती है। एक बार प्रलम्ब नामक राक्षस श्रीकृष्ण को अपनी पीठ पर चढ़ा कर आकाश में उड़ गया। सभी ग्वाल-मित्र, नन्द, यशोदा आदि इस समाचार से व्याकुल हो गये। उनकी घर और तन की सुधि भी जाती रही। परन्तु जब श्रीकृष्ण उस राक्षस का संहार कर के वापस लौटे तो सारे ब्रज में आनन्द की लहर उमड़ पड़ी। माता यशोदा ने कुल-देवता की पूजा की, बधावे बजे। नन्द ने जी-खोल कर दान दिया। पंच-शब्द (सितार, ताल, झाँझ, नगाड़ा, तुरही का सम्मिलित स्वर) की ध्वनि बजाई गई, नृत्य-गान तथा मंगलाचार हुए—

बड़े भाग्य हैं महर महरि के।
लै गयो पीठि चढ़ाइ असुर इक कहा कहौं उबरन या हरि के।।
नन्द-घरनि कुल-देव मनावति तुम्हीं रक्षक घरी पहर के।
जहँ तहँ तुमहिं सहाइ सदा हौ, जीवन हैं ये स्याम सहर के।।
हरष भए नन्द करत बधाई, दान देन कहा कहौं महर के।
पंच-सब्द धुनि बाजत, नाचत, गावत मंगल चार चहुर के।।[1]

नाग-पूजा

ऊपर कहा जा चुका है कि शूरसेन (ब्रज) जनपद में अन्य पूजाओं के साथ नाग-पूजा का भी प्रचलन प्राचीन काल से रहा है। उतने व्यापक समारोहपूर्वक तो नहीं, पर नाग-पूजा की वह पुरातन परंपरा ब्रज में अब भी विद्यमान है। नाग भारत के प्राचीनतम निवासी रहे हैं। ये अनार्य थे और सर्पों को देवता मान कर उनकी पूजा किया करते थे। नागों के सरदार तक्षक ने ही राजा परीक्षित को मार डाला था, जिसका बदला लेने के लिए परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नागयज्ञ किया था। नाग पूजा तथा शिवोपासना का मथुरा के साथ बहुत पुराना सम्बन्ध है। प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद सं० १२२५

शब्दों में "पुराणों से पता चलता है कि प्राचीन वृन्दावन के एक भाग में नाग जाति के लोगों का प्रभुत्व था। उनके प्रधान कालिय नाग को श्रीकृष्ण ने परास्त कर नागों को उस प्रदेश से बाहर निकाल दिया था। नाग लोग सर्प न हो कर मनुष्य थे। इनका विशेष चिह्न नाग का फण होता था और वे सर्पों की पूजा करते थे।"[1]

ब्रज में अनेक स्थानों पर जो नाग-प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं, वे भी किसी न किसी जलाशय के समीप ही पाई गई हैं। नाग-पूजा कृषक जन-समुदाय की धार्मिक भावना का ही मूर्त्त रूप है। नाग-पूजा से सम्बन्धित सभी त्यौहार वर्षा ऋतु में ही पड़ते हैं।

नाग-पंचमी का त्यौहार नाग-पूजा का ही एक रूप है, जो प्रायः समस्त उत्तरी भारत में मनाया जाता है। यह पूजा श्रावण शुक्ल ५ के दिन संपन्न होती है। ब्रज प्रदेश में आज भी इस पूजा को जन-आस्था प्राप्त है। प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार "नाग पंचमी के दिन ब्रज की स्त्रियाँ घरों में चौका लीप कर नागों के चित्र बनाती हैं और उनकी पूजा करती हैं। मथुरा नगर में यमुना तट पर ध्रुव घाट के समीप नाग टीला है, जहाँ नाग-पंचमी के दिन स्त्रियाँ पूजा के लिये इकट्ठी होती हैं। टीले पर वे नाग की बाँबियों की पूजा करती हैं। इस अवसर पर लोकगीतों के अतिरिक्त नागों की विविध कहानियाँ भी कही जाती हैं,जिनमें नागों की अद्भुत शक्ति का गुणगान होता है। × × × व्रज के साथ नागों का परंपरागत सम्बन्ध है और नाग-पूजा के विविध रूप अब भी व्रज में प्रचलित हैं।"[2]

महाकवि सूरदास जी ने सूरसागर के अनेक पदों में नाग लीला का तो पर्याप्त विस्तार से वर्णन किया है,[3] परन्तु नाग-पूजा अथवा नाग-पंचमी के सम्बन्ध में सूरसागर मौन-सा दिखाई देता है। ऐसा अनुमान होता है कि

---

१. मथुरा परिचय—प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी—पृष्ठ ३१

२. ब्रजभारती—वर्ष १४, अंक २, पृष्ठ ४०

३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ११३९ से १२०७

महाकवि सूरदास जी के समय में ब्रज में नाग-पूजा को गौण महत्व प्राप्त था, जिसके कारण उन्होंने नागपंचमी अथवा नाग-पूजा का वर्णन नहीं किया। यह भी हो सकता है कि सूरदास के अनुपलब्ध पदों में नाग-पूजा और नागपंचमी वाले पद भी अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहे हों।

(ज) खान-पान

सभ्यता के शैशव काल में मानव खानपान के लिए दूध, फल-फूल, मधु, वनोपज तथा माँस पर ही अवलम्बित था। अग्नि की उत्पत्ति और उपभोग ने मानव में स्वाद-भावना जागृत की। अन्न की उत्पत्ति इसमें और सहायक हुई, जिसके फलस्वरूप मानव में पक्वान्न खाने की पद्धति विकसित हुई। यह विकास निरन्तर होता रहा, जिसकी चरम परिणति हम आज विभिन्न देशों में प्रचलित खान-पान की विभिन्न विधियों में पाते हैं। षट्रस व्यंजन और उनमें छप्पन प्रकार की व्यवस्था मानव की सुविकसित स्वाद-बुद्धि का ही परिणाम है।

सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य-प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। महाप्रभु ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में भोग, राजभोग आदि रूपों में अनेक प्रकार के व्यंजनों का प्रावधान किया। उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी ने आगे चलकर अष्टयाम-सेवा-विधि के अन्तर्गत इन व्यंजनों की संख्या में और अधिक विस्तार किया। अन्नकूटोत्सव के अवसर पर श्रीनाथ जी को छप्पन प्रकार के व्यंजनों का भोग लगाया जाने लगा तथा अन्य समारोहों में भी भोजन-विधि की यह विस्तीर्णता दिखाई देने लगी। सूरदास जी श्रीनाथ जी के मन्दिर में प्रधान कीर्तनकार थे। अतः अष्टयाम-सेवा के अन्तर्गत कलेवा, राजभोग, छाक तथा भोग के अवसरों पर गाए जाने के लिए उन्होंने ऐसे अनेक पदों की रचना की, जिनमें तद्युगीन खान-पान-विधि का समावेश हो गया है, जो राजन्य संस्कृति का भी अभिव्यंजक है। कलेवा में प्रयुक्त अनेक व्यंजनों के नामों की सूची सूरदास जी ने कई पदों में गिनाई है—

उठिए स्याम कलेऊ कीजै। मनमोहन मुख निरखत जीजै।
खारिक, दाख, खोपरा, खीरा। केरा, आम, ऊखरस सीरा।
श्रीफल मधुर, चिरौंजी आनी। सफरी चिउरा, अरुन खुबानी।
घेवर-फेनी और सुहारी। खोवा सहित खाहु बलिहारी।
रचि पिराक लाडू दधि आनौ। तुमको भावत पुरी सँधानौ।
तब तमोल रचि तुमहिं खवावौं। सूरदास पनवारौं पावौं[1]।

व्यंजनों की यही नाम-परिगणन-शैली हमें जायसी के पद्मावत में भी मिलती है। सूरदास जी ने कलेवा का बहुत ही समृद्धिशाली वर्णन अगले, पद 'कमल नयन हरि करौ कलेवा'[2] में किया है, जिसमें कृष्ण को माखन रोटी, तुरन्त का जमाया दही, भाँति-भाँति के मेवा—'खारिक, दाख चिरौंजी, किसमिस, उज्ज्वल गरी, बदाम, सफरी, सेव, छुहारे, पिस्ता, तरबूजा, षट्रस के मिष्ठान्न आदि का कलेवा करते हुए दिखाया गया है।

यों तो सूरसागर में अनेक स्थलों पर खान-पान सम्बन्धी वस्तुओं का उल्लेख हुआ है,[3] परन्तु ५४ पंक्तियों के एक पद में सूरदास जी ने तद्युगीन भोजन-विधि का सम्यक् वर्णन किया है, जिसमें अनेक व्यंजनों के तैयार करने की विधि का भी समावेश हो गया है—और इस कारण उक्त पद खान-पान की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

भोजन भयौ भावते मोहन। तातोइ जेंइ जाहु गो-गोहन।
खीर, खाँड़, खीचरी, सँवारी। मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ भोग लियौ भात पसाई। मूँग ढरहरी हींग लगाई।
सद माखन तुलसी दै तायौ। घिरत सुबास कचौरा नायौ।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८२९
२. —वही—पद ८३०
३. —वही—पद सं० ८०१, ८०८, ८०९, ८१०, ८५५-५६ इत्यादि

पापर बरी अँचार परम सुचि। अदरख अरु निबुअनि ह्वै है रुचि।
सूरन करि तरि सरस तोरई। सेम सींगरी छौंकि झोरई।
भरता भँटा खटाई दीनो। भाजी भली भाँति दस कीन्हीं।

× × ×

यह ज्यौनार सुनै जो गावै। सो निज-भक्ति अभै-पद पावै।[१]

इस पद में ऐसे अनेक व्यंजनों तथा साग-सब्जियों का समावेश हुआ है, जिनमें से अधिकांश आज भी शिष्ट तथा सामान्य जन-जीवन में प्रचलित हैं और इस प्रकार यह पद खान-पान की दृष्टि से जहाँ राजन्य संस्कृति का प्रतिनिधि बन गया है, वहीं लोक-संस्कृति की भी सरस अभिव्यक्ति करने में समर्थ है, साथ ही अपनी समग्रता में यह तद्युगीन समाज की आर्थिक समृद्धि का भी परिचायक है।

सूरदास जी ने 'बियारी' (रात्रि का भोजन—ब्यालू) का भी वर्णन किया है, जिसमें सायंकालीन भोजन की सामग्रियों की सूची भी सम्मिलित हो गई है। लुचुई, लपसी, सद्य-जलेबी, घेवर, मालपुआ, मोतीचूर का लड्डू, सधर खजूरी, सँवारी, दूध, बरा, दधि बाटी, गाल-मसूरी आदि वस्तुओं का समाहार लेकर यह पद प्रस्तुत होता है।[२] इसके आगे वाले पद में भी सूरदास जी ने कृष्ण और बलराम को 'रत्नजटित कंचन की थारी' में एक साथ भोजन करते दिखाया है, जिसमें कृष्ण निद्रालस अवस्था में कौर उठाते हैं और बार-बार जमुहाई लेते हैं।[३] इसके अतिरिक्त भी सूरसागर में अनेक ऐसे पद उपलब्ध हैं जिनमें तद्युगीन खान-पान की वस्तुओं का विस्तृत वर्णन हुआ है।[४] इतना ही नहीं, अन्य पर्व-त्यौहार, उत्सव आदि के प्रसंगों में भी

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १८३१
२. —वही—पद ८४५
३. —वही—पद ८४६
४. —वही—पद १८२८-३२ तथा पद १५२६-३२

खान-पान का वर्णन हुआ है। परन्तु यहाँ हम सूर-सारावली में आए हुए वर्णनों को दिखाकर ही संतोष करेंगे।

सूर सारावली में श्रीराम चरित्र के अन्तर्गत बाल चरित्र के प्रसंग में सूरदास ने दशरथ द्वारा राम को खिलाने का वर्णन किया है। दशरथ स्वयं भी खा रहे हैं और राम के मुँह में भी छोटे छोटे कौर देते जा रहे हैं—

दार-भात-घृत, कढ़ी सलौनी अरु नाना पकवान।
आरोगत नृप चारि पुत्र मिलि, अति आनन्द निधान।१८७।
अचवन करि, पुन जल अंचवायौ, जब नृप बीरा लीनौ।
राम-लखन और भरत-सत्रुघन, सबहिन अचवन कीनौ।१८८।

श्रीकृष्ण की बाललीला के प्रसंग में सूरदास ने कृष्ण द्वारा चन्द्रमा के लिए हठ करने पर यशोदा द्वारा मधु, मेवा, पकवान, मिठाई देने तथा "औट्यौ दूध कपूर मिलायो, प्यावत कनक कटोरै' का भी वर्णन किया है।[1] विविध लीलाओं के प्रसंग में श्रीकृष्ण का ग्वाल-मण्डली एकत्र करके, 'हलधर के संग भरि काँवर छाक' लेकर गोचारण हेतु प्रस्थान करने का भी वर्णन किया गया है।[2] सूर-सारावली में भी बियारी का वर्णन संक्षेप में हुआ है।[3]

ब्रज की निकुंज लीला के प्रसंग में सूरदास जी ने पुनः भोजन का वर्णन किया है, जिसमें मिर्च खाने तथा मट्ठा (नमक-मिश्रित) पीने तक की बात कही है।[4]

खान-पान के इन वर्णनों में सूरदास जी ने ब्रज-लोक-संस्कृति तथा अभिजात-संस्कृति के समन्वित स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की है और प्रकारान्तर से पाक-विज्ञान के सम्बन्ध में उनकी बहुज्ञता भी अभिव्यक्त हो गई है।

---

१. सूर-सारावली—पद ४४२
२. —वही—पद ४७१
३. —वही—पद ५०६
४. —वही—पद सं० ९०७-९१०

(झ) वेश-भूषा

कौटुम्बिक और सामाजिक मर्यादा के परिपालनार्थ तथा शरीर की रक्षा की दृष्टि से वस्त्रों का उपयोग किया जाता है तथा अपने व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने की दृष्टि से भी शरीर के अवयवों को विविध आभूषणों से अलंकृत किया जाता है। यही वस्त्र और आभूषण वेश-भूषा के अन्तर्गत स्थान पाते हैं।

सूरदास जी ने अपने साहित्य में ब्रज में प्रचलित तद्युगीन विभिन्न वेशभूषाओं का वर्णन किया है। यह उल्लेख बालक-बालिका, स्त्री-पुरुष की विविध वेशभूषाओं के सन्दर्भ में हुआ है। सूरदास जी ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण और आराध्या राधा की बाल्यावस्था तथा युवावस्था के विविध चित्र प्रस्तुत किए हैं। अतः स्वाभाविक रूप से बालक-बालिका कृष्ण-राधा तथा उनके समवयस्क और युवा कृष्ण-राधिका तथा उनके समवयस्कों की वेशभूषाओं का वर्णन अनेक पदों में तो उन्होंने किया ही है, साथ में ब्रज के गोप-गोपियों, नन्द-यशोदा आदि की वेश-भूषा का भी वर्णनकिया है। शिशु की वेशभूषा का एक उदाहरण लीजिए—

कटि किंकिनि पग पैजनि बाजै। पंकज पानि पहुँचिया राजै।
कठुला कण्ठ बघनहा नीके। नैन सरोज मैन सरसी के।[1]

बालक वेश के अनेक प्रकारों का वर्णन सूरदास जी ने किया है, जिनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

कछनी

(१) **लकुटी, मुकुट, पीत उपरैना, लाल काछनी काँछे।**[2]
(२) **कटि कछनी, पीतांबर काँधे।**[3]

---

१. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—पद ७३५
२. —वही—पद २८२६
३. —वही—पद १२९०

झँगुली

लाल की बधाई पाऊँ लाल कौ झगा।
झौनीयैं झगुलि तामैं कंचन तगा।
माथे कै चढ़ाइ लीनौ लाल कौ बगा।[1]

× × ×

जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह कौं, पट-भूषन पहिराइ।
तन झँगुली, सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुँ कर-पाइ।[2]

कुलही

कुलही लसति सिर स्यामसुन्दर कैं बहु बिधि सुरंग बनाई।[3]

पिछौरी

कटि तट पीत पिछौरी बाँधे काक पच्छ धरे सीस।[4]

ओढ़नी

पीत उढ़निया कहाँ बिसारी।[5]

बालिकाओं की वेश-भूषा का भी सूरदास जी ने अनेक स्थानों पर वर्णन किया है। कृष्ण से प्रथम साक्षात् के अवसर पर बालिका राधा की वेशभूषा का वर्णन कितना मोहक है—

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।[6]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६५७
२. —वही—पद ७०७
३. —वही—पद ७२६
४. —वही—पद ४६४
५. —वही—पद १३११
६. —वही—पद १२९०

किशोर बालक-बालिकाओं के वेश-विन्यास का भी वर्णन सूरदास जी ने किया है। राधा सयानी हो गईं, अब 'फरिया' छोड़कर 'सारी' पहिनने लगीं। कृष्ण ने भी 'कछनी' छोड़कर 'पीताम्बर' और 'दुपट्टा' पहिनना शुरू किया। एक दिन संयोग-सुख की विभोरता में दोनों में वस्त्रों का विनिमय भी हो गया है—

(१) प्यारी की सारी आपुन लै, पीताम्बर राधा उर लाई।[१]
(२) पीतांबर काकैं घर बिसर्यौ, लाल ढिगनि की सारी आनी।[२]

ब्रज-बालाओं के चोर और कंचुकी पहिनने तथा कंचुकी में 'बन्द' लगे होने तक की सूचना सूरदास जी ने अपने अनेक पदों में दी है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) तन पहिरे नूतन चोर काजर नैन दिये।
कसि कंचुक तिलक लिलार सोभित हार हिये।[३]
(२) सूथन जँघन बाँधि नाराबँद, तिरिनी पर छबि भारी।[४]
(३) सूर सुतहिं बरजौ नंदरानी, अब तोरत चोली बँद डोरि।[५]
(४) अँगिया नील, माँड़नी राती, निरखत नैन चुराइ।[६]
(५) कोऊ चोली हार बतावति, कान्हहुँ तें ये भोरी।[७]
(६) लेकर चोर कदंब चढ़े हरि, बिनवत हैं ब्रज नारी।[८]
(७) पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अँग पँचरंग सारि।[९]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १३१०
२. —वही—पद १३१३
३. —वही—पद ६४२
४. —वही—पद १६७२
५. —वही—पद ९४५
६. —वही—पद १६७१
७. —वही—पद २०४८
८. सूर-सारावली—पद ४७६
९. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६६१

इस प्रकार के अनेक पद हैं, जिनमें सूरदास ने ब्रज-नारियों के विविध परिधानों तथा आभूषणों का भी समावेश किया है। स्थानाभाव बस करने के लिए विवश करता है।

सूरदास के समय में ब्रज के संभ्रान्त पुरुषों की वेशभूषा में धोती को भी स्थान प्राप्त था, यह उनके नन्द से सम्बन्धित पद से प्रकट होता है। उदाहरणार्थ—

यह कहि नन्द गए जमुना तट लै धोती झारी बिधि कर्मट।[1]

तथा—

जहँ तहँ ढूँढ़ि ग्वाल घर आए। धोती अरु झारी वै ल्याए।[2]

कृष्ण भी कदाचित् मथुरा आने के बाद धोती और खड़ाऊँ पहनने लगे थे। प्रमाण सूरदास की गोपियों से लीजिए—

अब सुनियत है धोती पहिरे, चढ़े खराऊँ न्हात।[3]

राम के प्रसंग में कटि-प्रदेश में पीली पिछौरी पहनने का संकेत सूरदास ने किया है। उदाहरणार्थ—

कटि तट पीत पिछौरी बाँधे काक पच्छ धरे सीस।[4]

वेश-भूषा के उपर्युक्त रूपों में राजन्य संस्कृति और लोक-संस्कृति के तत्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। इनके अतिरिक्त भी सूरदास ने अनेक स्थलों पर सिर पर धारण करने का मुकुट अथवा पाग तथा पैरों की पनही (जूता) अथवा पाँवरी का भी उल्लेख किया है, जिससे यह प्रकट होता है कि ब्रज के लोग सामान्य रूप से तथा विशिष्ट अवसरों पर इनका उपयोग करते थे।

---

१. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—पद १६०२
२. —वही—पद १६०२
३. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध (संस्क० २०१२)—पद ४४४५.
४. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ४६४

आभूषण

शरीर को अलंकृत करने की दृष्टि से आभूषणों का विशेष महत्व है। नर-नारियों में आभूषणों द्वारा अपने शरीर के विविध अंगों को सजाने की प्रवृत्ति अति पुरातन काल से ही चली आ रही है। सूरदास जी के गोप तथा गोपियाँ भी विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित दिखाई पड़ती हैं। गोप प्रायः नृत्य तथा पर्वादि के अवसर पर आभूषण पहने दिखाई पड़ते हैं, परन्तु गोपियाँ विशेष रूप से शृंगार तथा आभूषण-प्रिय जान पड़ती हैं। रास के समय का एक चित्र है—राधा नीला वस्त्र पहिने हुए हैं, नाक पर तिल और बेसर सुशोभित है, मस्तक पर कस्तूरी का तिलक लगा हुआ है, माँग मोतियों से भरी है, केशों में पुष्प गुँथे हैं। स्वर्ण-जटित खुभी (नाक का आभूषण) शोभायमान है। सिर पर कबरी (चोटी) सज रही है, 'कनक-सँकरी' और 'रतन-मुक्तामय लटकन' भी पहने हुए हैं, नेत्रों में अंजन लगा है। गले में भी अनेक प्रकार के आभूषण हैं। हृदय पर मोतियों की माला शोभा पा रही है। 'कनक-किंकिनी-नूपुर कलरव' कर रहे हैं, स्वर्ण चौकी चन्द्रमणियुक्त है।[1] दूसरी ओर कृष्ण का शृंगार भी दर्शनीय है। वे मुकुट धारण किए हुए हैं, कटि में किंकिनि तथा पाँवों में घुँघरू, हाथों में पहुँची, उँगलियों में मुद्रिका (अंगूठी) सुशोभित है।[2] यह तो हुआ राधा और कृष्ण का रास के समय का शृंगार-प्रसाधन। इनके अतिरिक्त गोपियाँ भी शृंगार-प्रसाधन में पीछे नहीं हैं। उनके अंगों पर भी "कंकन, चुरी, किंकिनी, नूपुर, पैजनि, बिछिया, सोहति" है।[3]

रास के अतिरिक्त अन्य प्रसंगों में भी सूरदास जी ने ब्रजबालाओं का अनेक प्रकार से आभूषणों से सुसज्जित होना संकेतित किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनके समय में ब्रज समृद्धि के चरम-शिखर पर रहा होगा।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६७३
२. —वही—पद १६७४
३. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १६७६

दही बेंचने जाने से पूर्व गोपियाँ अपने प्रत्येक अंग पर आभूषण धारण करती हैं, अनेक प्रकार के प्रसाधनों से अपना श्रृंगार करती हैं और तब अत्यन्त बन-ठनकर दही बेंचने निकलती हैं। वे सोलहों श्रृंगार करती हैं—

षट्-दस सहित सिंगार करति हैं अँग अँग निरखि सँवारति।[1]

इस बहु-विधि श्रृंगार से युक्त गोपियों की झाँकी निम्नलिखित पद में मिलती है—

जुवती अंग सिंगार सँवारति।
बेनी गूँथि, माँग मोतिन की, सीसफूल सिर धारति।
गोरैं भाल बिन्दु सेंदुर पर, टीका धर्‌यौ जराउ।
× × ×
सुभग स्रवन तरिवन मनि-भूषित इहिं उपमा नहिं पार।
नासा नथ मुक्ता कै भारहिं, रह्यौ अधर-तट जाइ।
दमकत दसन अरुन अधरनि तर, चिबुक डिठौना भ्राजत।
दुलरी अरु तिलरी बँद तातर, सुभग हुमेल बिराजत।
कुच कंचुकी, हार मोतिन के भुज बाजूबँद सोहत।
डारनि चुरी करनि फुँदना बने, कंज पास अलि जोहत।
छुद्रघंटिका कटि लहँगा रँग, तन तनसुख की सारी।
सूर ग्वालि दधि बेंचन निकरीं, पग नूपुर धुनि भारी।[2]

इतना बन-ठनकर गोपियाँ दही बेंचने निकलें तो मार्ग में 'मोर मुकुट पीतांबर काँछे, खोरि किए तन चन्दन'[3] कृष्ण यदि 'मुरली कर काँछनि आभूषन, मोर पखौवा सिर कौं, सूरदास काँधैं कामरिया, और लकुटिया

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद २११५
२. —वही—पद २११६
३. —वही—पद २१२०

कर कौं"[1]—इस सज्जा में उनके पास आकर दही का दान माँगने लगें और उनकी इच्छा पूर्ति न हो, उलटे 'तुम कमरी के ओढ़नहारे, पाटंबर नहिं छाजत। सूरस्याम कारे तन ऊपर, कारी कामरि भ्राजत"[2] कहकर उनका उपहास किया जाय तो फिर यदि वे गोपियों से छीना-झपटी करने और उनकी मोतियों की माला तोड़ने[3] के लिए बद्धपरिकर न हों तो और क्या करें? अब एक हार के टूटने पर गोपियाँ उनसे उलझने भी लगीं, जब कि वे नख से लेकर शिखा तक आभूषणों से लदी हैं। मोतियों की माला, जड़ाऊ टीका, कर्णफूल, नकबेसर, कंठश्री, दुलरी, तिलरी, हार, हुमेल, अँगिया, नगीनों से जड़ी चोकी, बहुँटा, कंकन, बाजूबन्द, तौकी, छुद्रघंटिका, नूपुर, जेहरि, बिछिया सभी कुछ तो उनके शरीर को विभूषित कर रहा है, इनको छिपाकर वे कहाँ ले जायँगी?[4] लगता है, कृष्ण को यह सब देखकर कुछ ईर्ष्या होने लग गई है, तभी तो गोपियाँ कहती हैं कि क्या इसमें भी तुम्हारा साझा है; हमारे आभूषण नहीं देख सकते। अरे, यही देखकर तुम चकित हो रहे हो। यह तो कुछ भी नहीं है—"जितनौ पहिरि आजु हम आई, घर है यातें दूनौं"।[5] ब्रज की युवतियों में उक्त समस्त आभूषणों के धारण करने की प्रवृत्ति देखकर ही लगता है, सूरदास जी इतना समृद्धिशाली वर्णन करने में सफल हो सके हैं।

सूर-सारावली में भी अनेक स्थलों पर आभूषणों का वर्णन हुआ है, जिनमें से पद सं० ९७६ और ९७७ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें श्रीकृष्ण अपने हाथ से राधा का श्रृंगार करते दिखाए गए हैं। सीसफूल, नकबेसर, ताटंक, कंकन, नूपुर, छुद्रघंटिका आदि आभूषणों का उल्लेख उक्त पदों में हुआ है।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद २१३२
२. —वही—पद २१३५
३. —वही—पद २१४९
४. —वही—पद २१५८
५. —वही—पद २१५९

इस प्रकार के वर्णनों में जहाँ सूरदास ने आभिजात्य-संस्कृति को मुखर होने का अवसर दिया है, वहीं उन्होंने ब्रज की आर्थिक समृद्धि का भी परिचय दिया है और प्रकारान्तर से उनकी एतद्विषयक बहुज्ञता भी प्रकट हो गई है। वास्तव में सूर-साहित्य में ऐसे अनेकानेक पद उपलब्ध हैं, जिनमें ब्रज के गोप-गोपियों के विविध वस्त्राभूषणों तथा शृंगारों का वर्णन करते हुए महाकवि ने तद्युगीन समाज की अलंकरण की सामान्य प्रवृत्ति का भी निदर्शन कराया है और **एतद्द्वारा** अपनी आंतरिक सौन्दर्य-भावना को भी मुखर बनाया है।

(ञ) आमोद-प्रमोद

संस्कृति के विकास-क्रम के साथ मनोरंजन के अनेक उपादानों का प्रचलन हुआ। प्रारंभ में नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध आदि द्वारा मनुष्य अपना मनोरंजन करता था। बाद में वह उद्यान-यात्रा, जल-क्रीड़ा, काव्यमय मनोरंजन (नाटक, कथा-कहानी, कविता-पाठ आदि) की ओर उन्मुख हुआ। शिकार, गेंद, जुआ, इन्द्रजालादिक अनेक खेल मानव-सभ्यता के बढ़ते हुए चरणों के प्रतीक बने। कालांतर में मनोरंजन के अनेक प्रकारों का उद्भव हुआ, जिनकी चरम परिणति हमें आधुनिक नागरिक सभ्यता के अन्तर्गत सिनेमा आदि रूपों में देखने को मिलती है।

मानव-जीवन के लिए आमोद-प्रमोद की सभी अवस्थाओं में अपेक्षा होती है। बाल्यावस्था में आमोद-प्रमोद के साधन बालक के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के विधायक होते हैं तथा युवावस्था में गृहस्थी की व्यस्तता और थकान के निवारक और वृद्धावस्था में जब कि समय काटना दूभर हो जाता है, ये आमोद-प्रमोद के साधन कालयापन के माध्यम भी बन जाते हैं।

सूरदास के आराध्य बालकृष्ण थे **और** उनकी बाल-लीलाओं का गायन करना ही उनका अभिप्रेत था। अतः यह आवश्यक ही था कि वे भी अपने आराध्य के साथ खेल-कूद में समान भाव से अपनी वृत्ति को रमाते। **अतएव** उनकी वृत्ति इन विविध क्रीड़ाओं में खूब रमी है—वे कृष्ण के आमोद-प्रमोद

में स्वयं भी प्रमुदित होते दिखाई पड़ते हैं। शैशवावस्था में कृष्ण के हाथ में खुनखुना (**घुनघुना**) बजता है तो उसके आनन्द में स्वयं शिव जी भी डमरू बजाकर नृत्य करने लगते हैं।[1] कृष्ण बड़े हुए तो देखा कि उनके समवयस्क '**भौंरा-चकडोरी**' खेलते हैं। अतः उनमें भी इस खेल के प्रति अनुराग जागृत हुआ और वे माता से कहने लगे—

दे मैया भौंरा चकडोरी।

× × ×

बोलि लिए सब सखा संग के, खेलत कान्ह नन्द की पौरी।
तैसेइ हरि, तैसेइ सब बालक, कर भौंरा चकरिनि की जोरी।[2]

गोपियाँ जब कृष्ण को 'कर झटकत' और 'चकडोरि हलत' देखतीं हैं तो उनका मन खिलाड़ी कृष्ण से उलझ जाता है।[3] एक दिन खेलते खेलते श्रीकृष्ण—"कटि कँछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लए भौंरा चकडोरी' **ब्रज की खोरी में निकल गए** और वहीं उसी अवस्था में अचानक राधा 'नील बसन फरिया कटि पहिरें, बेनी पीठि रुलति झकझोरी' और "नैन-विसाल भाल दिए रोरी" दिखाई पड़ गईं। भौंरा-चकडोरी के खेल ने ठगौरी लगा दी।[4] रसिक-शिरोमणि कृष्ण ने 'भोरी राधिका' को बातों-बातों में ही फुसला लिया। दोनों में मैत्री हो गई। कृष्ण ने आमन्त्रण दिया—'खेलन कबहुँ हमारे आवहु नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।' यह आमन्त्रण उन्होंने राधा को इसलिए दिया क्योंकि "सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ।" और कोई विशेष कारण इस मैत्री के पीछे नहीं है!![5]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ७८८
२. —वही— पद १२८७
३. —वही —पद १२८८
४. —वही—पद १२९०
५. —वही—पद १२९२

कृष्ण जी ने गेंद खेलना प्रारम्भ किया। वे घर या बाहर मैदान में कई सखाओं को एकत्र करके गेंद खेलते हैं और इस प्रकार अपना मनोरंजन करते हैं। गेंद का खेल उन्हें बहुत रुचता था। इसी बीच कंस ने कालीदह के कमल के फूल भेजने के लिए नन्द को आदेश दे दिया। इससे नन्द-यशोदा चिन्तातुर हैं, परन्तु बालक कृष्ण उन्हें निश्चिन्त करके गेंद खेलने चल देते हैं—

खेलन चले कुँवर कन्हाइ।
कहत घोष-निकास जैयै, तहाँ खेलैं धाइ।
गेंद खेलत बहुत बनिहै, आनौ कोऊ जाइ।[1]

उनके सखा श्रीदामा अपने घर से गेंद ले आए। आज के गेंद खेलने में कृष्ण का कोई विशेष उद्देश्य है, यह उनके सखाओं पर प्रकट नहीं है। वे सब खेल में आनन्द-विभोर हो रहे हैं—

खेलत स्याम सखा लिए संग।
इक मारत, इक रोकत गेंदहिं, क भागत करि नाना रंग।।
मार परस्पर करत आपु मैं, अति आनन्द भए मन माँहि।
खेलत ही मैं स्याम सबनि कौं, जमुना-तट कौं लीन्हें जाँहि।।
मारि भजत जो जाहि, ताहि सो मारत, लेत आपुनौ दाउ।
सूरस्याम के गुन को जानै, कहत और कछु और उपाव।।[2]

इस प्रकार खेलते-खेलते कृष्ण सभी सखाओं को यमुना-तट तक खींच ले गए, पर अन्त तक साथियों को भ्रम में ही डाले रहे। अपने जोड़ी सखा को गेंद मारकर वे जमुना की ओर ही भागते थे। उनके पीछे दौड़ने वाला उन्हें पाता ही नहीं था। खेल में 'रौंटि' अच्छी नहीं[3] होती। रौंटि करने वाले

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ११५०
२. —वही—पद ११५१
३. —वही—पद ११५२

से कौन खेले ? इसलिए सभी सखा कृष्ण से कहते हैं कि हमने तुम्हें अच्छी तरह से जान लिया है।[1] रौंटि (बेईमानी) करने का आरोप कृष्ण की लक्ष्य-सिद्धि में बाधक नहीं बन सकता। उन्होंने श्रीदामा के ऊपर गेंद फेंका। श्रीदामा ने मुड़कर अपने आप को बचा लिया। गेंद छू जाता तो उन्हें चोर बनना पड़ता। गेंद को बाधा न मिलने के कारण वह कालीदह में जा गिरा। कृष्ण तो यही चाहते ही थे, परन्तु गेंद तो श्रीदामा का था और वह कृष्ण के द्वारा कालीदह में गया, इसलिए श्रीदामा ने दौड़कर कृष्ण की कमर पकड़ ली और गेंद ला देने का हठ करने लगे। श्रीदामा ने कहा कि मुझको और सखाओं की भाँति मत समझना, तुम मुझसे ढिठाई मत करो, तुमने जान-बूझकर मेरा गेंद कालीदह में गिराया, अब उसे देते ही बनेगा। अन्य सखाओं का मनोरंजन हो रहा है। वे कहते हैं कि कृष्ण ने बड़ा अच्छा किया जो गेंद गँवा दिया।[2]

इसके आगे के चार पदों[3] में बालकों के झगड़े का सजीव चित्र उपस्थित करते हुए सूरदास जी ने दिखाया है कि बड़ी देर तक कृष्ण और श्रीदामा में कहा-सुनी होती रहती है। अन्त में कृष्ण अपनी फेंट छुड़ाकर भागकर कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। उनके साथी ताली पीटकर हँसने लगे और कहने लगे कि कृष्ण, तुम डर कर भाग गए। गेंद न पाकर श्रीदामा रोते हुए यशोदा से उलाहना देने के लिए चल पड़े। यह देखकर कृष्ण ने उन्हें पुकार कर कहा कि आकर अपनी गेंद लो और इतना कहकर वे कालीदह में कूद पड़े।

गेंद के खेल के इन वर्णनों में जहाँ एक ओर गेंद के खेल सम्बन्धी सारी बातों का समावेश सूरदास जी ने किया है, वहीं एतद्द्वारा बाल-मनोवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार ब्रज-संस्कृति के एक

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ११५२
२. —वही—पद ११५३
३. —वही—पद ११५४ से ११५७

महत्वपूर्ण अंग को उभारने के साथ ही वे सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित एतद्विषयक लोक-कथा को काव्यात्मक चमत्कार भी दे सके हैं।

छुआ-छुऔवल

छुआ छुऔवल का यह खेल भी ब्रज में प्रचलित है, जिसमें एक लड़का दूसरे के हाथ पर 'तारी' मारकर भागता है और फिर उसके पीछे दूसरा लड़का पकड़ने को दौड़ता है। सूरदास जी ने कृष्ण को भी छुआ-छुऔवल का खेल खेलते दिखाया है। एक झलक लीजिए—

हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़।
बरजै हलधर, स्याम तुम जनि चोट लागै गोड़।
उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा, धर्‌यौ स्याम हँकारि।
जानि कैं मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहिं।[1]

कृष्ण 'खिसिया' गये तो सब सखा कहने लगे कि पहले तो तुम्हीं खेलने के लिए खड़े हो गए, अब क्रोध क्यों करते हो? बीच ही में हलधर बोल उठे कि इसके माँ-बाप तो हैं नहीं. हार-जीत का भेद तो कुछ समझता नहीं, लड़कों को दोष देता है। उन्होंने कृष्ण को यह कहते हुए घर लौटा दिया कि खुद हारते हो और मित्रों से झगड़ा करते हो। कृष्ण रोते हुए घर पहुँचे तो माता ने रोने का कारण पूछा।[1]

इन वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूरदास जी स्वयं दर्शक बनकर बालकों के इन खेलों में उपस्थित रहे हों और फलतः इनका स्वाभाविक चित्रण कर रहे हों।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८३१

२. —वही—पद ८३२

आँखमिचौनी

आँखमिचौनी को खेल बालकों को अत्यन्त प्रिय है। ब्रज में भी बच्चे इस खेल को रुचिपूर्वक खेलते हैं। सूरदास ने कृष्ण को भी आँखमिचौनी का खेल खेलते दिखाया है, जिसमें खेल का वर्तमान प्रचलित स्वरूप भी अपने आप में मुखर हो उठा है। यशोदा कृष्ण से कहती हैं कि हलधर भैया को बुलाकर मेरे सामने खेलकर मुझे सुख प्रदान करो। वे बोलीं—

मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए, खेलन आँखि मुँदाई।[1]

सब सखाओं के आ जाने पर प्रश्न उत्पन्न हुआ कि आँख कौन मूँदे। कृष्ण ने यशोदा माता का नाम प्रस्तावित कर दिया। श्रीकृष्ण ने सबसे पहले अपनी आँख मुँदवाई—

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ-तहँ गए भगाई।
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर मैं बलराम।[2]

परन्तु कृष्ण तो बलराम को आने देंगे, उनकी होड़ तो श्रीदामा से है। सब बालक दौड़-दौड़ कर आ-आकर यशोदा का शरीर छू लेते हैं, सुबल और श्रीदामा भर बच रहे हैं। ये दोनों भी बिना पकड़े गए आकर यशोदा को छू लेंगे तो कृष्ण को फिर चोर बनना पड़ेगा। कृष्ण ने चालाकी की, वे दौड़े तो सुबल को पकड़ने के लिए, लेकिन श्रीदामा को पकड़ लिया, तब—

हँसि हँसि तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर।[3]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८५७
२. —वही—पद ८५८
३. —वही—पद ८५८

अपने पुत्र की विजय से माता यशोदा को परम हर्ष हुआ।

सूर-सारावली में भी इस 'आँख-मिचौनी' तथा 'चढ़ाचढ़ी' खेल का उल्लेख हुआ है—

कहुँ खेलत मिलि ग्वाल मण्डली, आँख-मीचनी खेल।
चढ़ाचढ़ी कौ खेल सखन मैं, खेलत हैं रस-रेल।[1]
कहूँ आमरू डार बिटप की, खेलत सखन मँझार।
कूद-कूद धरनी सब धावत, दाँव देत किलकार।[2]

पतंग

पतंग उड़ाने में अभिरुचि भी बाल्यावस्था की अपनी विशेषता है। मुगल शासन-काल होने के कारण सूरदास जी को इस खेल का भी कुछ अनुभव था। गेंद, आँखमिचौनी, चील्हीपाती (चढ़ाचढ़ी) जैसे खेलों की भाँति सूरदास जी ने अपने पदों में प्रत्यक्ष रूप में कृष्ण को पतंग उड़ाते हुए तो नहीं दिखाया है, परन्तु सूरसागर में ग्रीष्म-लीला प्रसंग में 'अनुराग-समय' के अन्तर्गत इसका उल्लेख अवश्य किया है, जो इस बात का द्योतक है कि उनके समय में ब्रज में पतंग उड़ाने की प्रवृत्ति भी लोगों में रही होगी। दृष्टि की उपमा पतंग के साथ देते हुए वे पतंग की समस्त विशेषताओं का समाहार अपने पद में कर देते हैं—

कहा करौं नीकैं करि हरि कौं, रूप-रेख नहिं पावति।
संगहिं संग गिरति निसि-बासर, नैन-निमेष न लावति।
बँधी दृष्टि ज्यों गुड़ी डोर बस, पाछैं लागी धावति।[3]

डोर के वश में पतंग रहती है, परन्तु पतंग आगे भागती है और डोर उसका पीछा करती है। उसी प्रकार राधा की दृष्टि कृष्ण के पीछे-पीछे

---

१. सूर-सारावली—पद ९०४
२. —वही—पद ९०५
३. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—(संस्क० २०१२)—पद २४७१

लगी रहती है। कृष्ण के रूप का पतंग के साथ और राधा की दृष्टि का डोर के साथ सादृश्य दिखाकर कवि ने पतंग उड़ाने की प्रक्रिया का भी परिचय दे दिया है।

चौगान

चौगान का खेल आभिजात्य संस्कृति का अंग है, जो आर्थिक संपन्नता का अपेक्षी है। यह खेल वास्तव में गेंद के खेल का ही विकसित रूप है, जो घोड़ों पर चढ़कर 'बटा' (डण्डा) के साथ खेला जाता है। युवावस्था में कृष्ण को चौगान खेलने की रुचि उत्पन्न हुई। सूरदास जी ने द्वारिका में कृष्ण तथा उनके सखाओं को उच्चैस्रवा घोड़ों पर चढ़कर चौगान खेलते हुए दिखाया है। दो टोलियों में खिलाड़ी बँट गए हैं और गेंद को घोड़े पर चढ़े हुए ही एक दूसरे की तरफ 'बटे' के सहारे फेंक रहे हैं—

मनमोहन खेलत चौगान।
द्वारावती कोट कंचन में, रच्यौ चिर मैदान।
जादवबीर बराइ बटाई, हरि बल इक इक ओर।
निकसे सबै कुँवर असवारी, उचैस्रवा के पोर।[1] (इत्यादि)

इस प्रकार दो दलों में विभाजित खिलाड़ी 'हाल' (गोल) करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अन्त में श्रीकृष्ण छल-बल करके खेल में विजयी होते हैं। इस प्रकार चौगान खेल का वर्णन करके सूरदास जी ने आभिजात्य संस्कृति के अंग-विशेष का एक चित्र सा 'उरेह' दिया है।

मल्लयुद्ध

मल्लयुद्ध भी विशेषतया आभिजात्य संस्कृति का ही अंग है, जो आमोद-प्रमोद की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ शारीरिक बल-

---

१. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध—(संस्क० २०१२)—पद ४७८४

वृद्धि का भी नियामक है। सूरदास ने मल्लयुद्ध का वर्णन भी विस्तार से किया है। सूरसागर के अनेक पदों में मल्लयुद्ध का वर्णन करने में तो उनकी वृत्ति विशेष रमी ही है, सूरसारावली में भी उक्त प्रसंग का उन्होंने सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। कंस ने कृष्ण-बलराम को धनुष-यज्ञ देखने के लिए बुलाया है। उसमें मल्लयुद्ध का भी आयोजन किया गया है। कंस कहता है—

जब उन कह्यौ मल्ल-क्रीड़ा तुम, करत गोप के संग।
वृन्दाबन में हम सुनियत हैं, क्रीड़त हौ बहु रंग।
अब तुम कंस नृपति कूँ दिखाओ, मल्ल-युद्ध करि नीके।
कह्यौ चाणूर-मुष्टि सब मिलि कैं, जानत हौ सब जीकै।
तब हरि भिरे मल्ल-क्रीड़ा करि, बहु-बिधि दाँव दिखाए।[1]

सूर-सारावली के उक्त पदों में कृष्ण और बलराम द्वारा मल्ल-युद्ध में चाणूर और मुष्टिक को पराजित ही नहीं होना पड़ा है, अपितु उनका संहार भी हो गया है।

सूरसागर में यह प्रसंग कुछ विस्तार से वर्णित है। कृष्ण बलराम रंगभूमि में आए तो कंस ने मुष्टिक और चाणूर को बुलाकर मल्लयुद्ध के लिए ललकारा। उपस्थित नर-नारियों को बड़ी व्याकुलता हुई।[2] कृष्ण ने मल्लों को युद्ध से विरत होने के लिए कहा,[3] परन्तु वे तो कंस के आदेशों का पालन करने के लिए विवश थे। अतः युद्ध आरम्भ हो गया—

स्याम चानूर, बलबीर मुष्टिक भिरे, सीस सों सीस, भुज भुज मिलावैं।
वै उन्हें गहत वै दौरि उनकौं गहत, करत बल-छल नहीं दाँव पावैं।
धरि पछार्‌यौ दुहूँ बीर दुहूँ मल्ल कौं, हरषि कह्यौ हते ये नन्द दुहाई।[4]

---

१. सूर-सारावली—पद ५१९ से ५२३
२. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध—पद ३६८६
३. —वही—पद ३६८७
४. —वही—पद ३६९०

इस प्रकार सूरसागर में २८ पदों[1] में मल्लयुद्ध में कृष्ण द्वारा मुष्टिक, चाणूर, मूसल तथा अन्य मल्ल और कंस के वध का विस्तृत वर्णन हुआ है और इन वर्णनों में मल्लयुद्ध का सजीव चित्र-सा अंकित हो उठा है।

चौपड़

यह खेल सामान्य जन-जीवन में तथा समृद्धिशाली व्यक्तियों में बहु-प्रचलित है, जो समय काटने की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। सूरदास के समय में ब्रज में यह खेल बहु-प्रचलित था और कहा जाता है कि चौपड़ के एक अनन्य प्रेमी को उन्होंने इस खेल की असारता बताकर भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख किया था। यह खेल बिसात पर पासों और गोटों से खेला जाता है। पाँसे हाथीदाँत के बने होते हैं और आकार में चौकोर होते हैं। उसमें चारों ओर आँकड़े बने होते हैं, जिनकी गणना के आधार पर गोटें बिसात पर बिठाई जाती हैं।

सूरदास जी ने भक्ति-भावना का आधार लेकर चौपड़ खेल का मनोहारी रूपक बाँधा है। 'चारि गति सारि'—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चौसर को खेल में व्यवहृत शब्दावलियों में इस कौशल से बिठाया है कि पूरे खेल का सजीव चित्र-सा नेत्र-पटल पर अंकित हो जाता है। पाँसे के अठारह अंकों का लोक-जीवन के दैनंदिन व्यापारों से संबंध स्थापित करते हुए मानव की बाल, किशोर, युवा और वृद्धावस्थाओं की मनोवृत्तियों का उद्घाटन भी उन्होंने किया है और चौसर (संसार) में जीतने का मूल मन्त्र 'पौ' (भक्ति) को बताया है। चौपड़ के खिलाड़ी जानते हैं कि उस खेल में जिसके पौ बारह होते हैं, वही जीतता है। सूर के अनुसार इस संसार रूपी चौपड़ में वही जीतेगा, जिसके साथ हरिनाम रूपी 'पौ' का संबल होगा। इस प्रकार पूरे पद में चौपड़ की शब्दावलियों को आध्यात्मिक परिवेश प्रदान कर जहाँ सूरदास ने तत्सम्बन्धी अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया

---

१. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध—पद ३६७० से ३६९७

है, वहीं इस संसार की असारता बताकर मानव-मात्र की चित्तवृत्तियों को भक्ति के श्रेयस्कर पथ की ओर मोड़ने का सफल प्रयास भी किया है। वे इस सारे संसार को चौपड़ का रचा गया एक खेल ही मानते हैं :—

> चौपरि जगत मड़े जुग बीते।
> गुन पासे, क्रम अंक, चारि गति सारि, न कबहूँ जीते।
> काम-क्रोध-मद संग मूढ़ मन खेलत हार न मानैं।
> × × ×
> बाल, किसोर, तरुन, जर जुग सो सुपक सारि ढिग ढारी।
> सूर एक पौ नाम बिना नर फिरि फिरि बाजी हारी।[1]

सूर-सारावली में भी सूरदास ने चौपड़ खेलने का उल्लेख किया है। जैसे—

(१) कहुँ चौपर खेलत जुवतिनि संग, पाँच सात उच्चार।[2]
(२) सभा रची चौपर क्रीड़ा करि, कपट कियौ अति भारी।[3]
(३) चौपर खेलत भवन आपुने, हरि द्वारिका मँझार।[4]

चौपड़ खेल के जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का उद्घाटन अपने पदों में सूरदास जी ने किया है, उससे प्रकट होता है कि उनके समय में ब्रज-लोक-जीवन में चौपड़ खेल का विशेष प्रचलन रहा होगा और वहीं से कवि ने तत्सम्बन्धी विस्तृत जानकारी प्राप्त की थी।

जुआ

यह खेल मनोरंजन का कम, पर विध्वंस का विधायक अधिक है। इसीलिए सूरदास जी ने जहाँ जुआ का वर्णन किया है, वहाँ उसके प्रति अपना

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६०
२. सूर-सारावली—पद ६६५
३. —वही—पद ७६२
४. —वही—पद ७६७

विरोध-भाव भी प्रकट कर दिया है। सूरसागर में जुए का उल्लेख दुर्योधन और युधिष्ठिर के प्रसंग में हुआ है।[1] एक अन्य पद में नन्द के मथुरा से लौटने पर सूरदास जी ने नन्द की मुख-मुद्रा की तुलना उस जुआरी की मुख-मुद्रा से की है, जो स्वर्ण हार गया है—'चितवत नन्द ठगे से ठाढ़े, मानौ हार्‌यौ हेम जुआर।'[2] कृष्ण के सम्बन्ध में चारों ओर से हो रही प्रश्नों की बौछार में नन्द की मुख मुद्रा और हारे हुए जुआरी की मुख-मुद्रा में यह सादृश्यविधान सूरदास की सूक्ष्मतम अंतर्दृष्टि और गहन अनुभूति का परिचायक है। इसके अतिरिक्त सूर ने वियोगिनी राधा की विपन्नावस्था की समता भी "ज्यौं गथ हारे चकित जुआरी"[3] कह कर की है।

जलक्रीड़ा

जलक्रीड़ा भी लोक-जीवन के आमोद-प्रमोद का एक महत्वपूर्ण साधन है। सूरदास के युग में ब्रज में जलक्रीड़ा का भी प्रचलन रहा होगा। तभी तो उनकी गोपियाँ कृष्ण के साथ जल-क्रीड़ा करके रास-लीला की थकान मिटाकर आनन्दित होती हैं—

रास रस स्रमित भई ब्रज बाल।
निसि-सुख दै जमुना-तट लै गए, भोर भयौ तिहिं काल।।

× × ×

जमुना जल बिहरत नन्दनन्दन, संग मिलीं सुकुमारि।[4]

सूरसागर में जल-बिहार के अनेक सुरुचिपूर्ण पद उपलब्ध हैं।[5] स्नान करते हुए कृष्ण को चारों ओर से गोपियाँ घेरे हुए हैं। एक दूसरे पर पानी के

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद २४६
२. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३७५८
३. —वही—पद ४६९२
४. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १७७४
५. —वही—पद १७७४-८६

छींटे मार रही हैं, कृष्ण किसी गोपी को पकड़कर 'भुज भरि अंक अगाध चलत लै'[1] तो कहीं राधा को दौड़कर पकड़ लेते हैं।[2] जल-बिहार के चित्रात्मक स्वरूप का एक उदाहरण लीजिए—

राधे छिरकति छींट छबीली।
कुच कुंकुम कंचुकि बँद छूटे, खटकि रही लट गीली[3]। (इत्यादि)

जल-क्रीड़ा का वर्णन समाप्त करते हुए सूरदास जी ने एक अत्यन्त सरस पद लिखा है जिसमें राधा और कृष्ण को परस्पर प्रेमातिरेक की अवस्था में जल-क्रीड़ा करते हुए चित्रित किया गया है —

स्यामा स्याम अंकम भरी।
× × ×
करत रंग हिलोर जमुना, प्रेम आनंद भरी।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जल-क्रीड़ा के लोक-प्रचलित स्वरूप का चित्रात्मक वर्णन सूरदास जी ने अनेक पदों में करके लोक-संस्कृति के विशिष्ट अंग को मुखर बनाया है। सामूहिक जल-बिहार की अवस्था में लोक-जीवन के उल्लास को इतना सजीव और साकार स्वरूप प्रदान कर सकने की क्षमता सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी भक्त कवि में नहीं दिखाई पड़ती है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर ने अपने युग में ब्रज-लोक-जीवन में आमोद-प्रमोद के लिए गृहीत विविध क्रीड़ाओं यथा भौंरा-चकडोरी, गेंद, छुआ-अुऔवल, आँखमिचौनी, पतंग, चौगान,

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १७७६
२. —वही—पद १७७७
३. —वही—पद १७७८
४. —वही—पद १७८५

मल्लयुद्ध, चौपड़, जुआ, जलक्रीड़ा आदि का सजीव स्वरूप अपने पदों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

(ट) वाणिज्य-व्यवसाय

किसी भी देश, प्रदेश अथवा समाज के वाणिज्य-व्यवसायों के मूल में कोई न कोई सांस्कृतिक पीठिका अवश्य होती है। इसीलिये संस्कृति का अध्ययन करते समय वाणिज्य-व्यवसाय का भी अध्ययन आवश्यक हो जाता है। वाणिज्य-व्यवसाय का चरम विकास उन नगरों में होता है, जो आयात-निर्यात की दृष्टि से साधन-संपन्न होते हैं तथा जहाँ के निवासियों में आर्थिक समृद्धि होती है।

सूरदास जी की काव्य-साधना-भूमि ब्रज के ग्रामीण वातावरण तक ही केन्द्रित थी और लोक-संस्कृति का पोषण भी ग्रामीण वातावरण में ही होता है। ग्रामों में वाणिज्य-व्यवसाय को समुन्नत होने का अवसर अपेक्षाकृत कम मिलता है। ग्रामीणों के पास दैनिक उपभोग के जो उत्पादन उनकी घरेलू आवश्यकता के अतिरिक्त होते हैं, उनको वे नगरों में ले जाकर बेंचते हैं तथा उसके बदले में अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदते हैं। साधारणतया क्रय-विक्रय की यह प्रक्रिया ग्राम के भीतर ही संपन्न हो जाती है। वस्तु-विनियम की प्रथा तो गाँवों में अब भी जी रही है। ग्रामों में छोटी-छोटी परचून की दूकानें होती हैं जिनमें आटा, दाल, चावल, नमक, मिर्च-मसाले तथा ऐसी ही अन्य दैनिक व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ सीमित परिमाण में उपलब्ध होती हैं। ऐसी ही अवस्था सूरदास की साधना-भूमि की भी रही होगी, तभी तो उन्होंने गोपियों के मुँह से कहलवाया है कि निर्गुण जैसे अनमोल पदार्थ के ग्राहक मथुरा जैसे बड़े नगर में ही मिल सकते हैं, वृन्दावन जैसे ग्राम के साधारण स्तरीय लोगों में उसे क्रय करने की सामर्थ्य कहाँ है—

यह निरगुन निरमोल गाठरी, अब किन करत धरी।
यह ब्यौपार उहाँ जु समातौ, हुती बड़ी नगरी॥[1]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४२८१

क्योंकि वे सब तो जाति की अहीर हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय दूध-दही-माखन बेचना है—"हम अहीर माखन मथि बेचैं"। उनके लिए तो निर्गुण रूपी बिकाऊ वस्तु मूली के पत्तों के समान है। वस्तु-विनिमय वे कर सकती हैं, पर वह तो समान मूल्य और महत्व की वस्तुओं में होता है—

"मूरी के पातन के बदलैं, को मुक्ताहल दैहैं।"[१]

ऐसे वातावरण में वाणिज्य-व्यवसाय के वर्णन की सामग्री सूरदास को कैसे मिलती ? यही कारण है कि उन्होंने अपने साहित्य में उसका उल्लेख अथवा संकेत-मात्र दिया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि अमुक-अमुक व्यवसाय उनके समय में ब्रज में प्रचलित थे।

श्रीकृष्ण के विवाह-वर्णन में स्त्रियों द्वारा विविध वेश बनाकर दूल्हा-कृष्ण को देखने जाने की कामना व्यक्त की गई है, जिसमें ब्रज में अनेक प्रकार के व्यवसायियों का पाया जाना भी संकेतित है—

फूल गूँथि माला लै मालिनि ह्वै जाउँ।
नन्दनन्दन प्यारे कौं बीरा करि लेउँ।
चौलिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।
वृन्दावन चंद कौं मैं भूषन गढ़ि लेउँ।
ह्वै सुनारि जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।
अपने गोपाल के मैं बागे रचि लेउँ।
दरजिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।
चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेउँ।
गंधिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।[२]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४२८२
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६९३

इसी प्रकार कृष्ण-जन्मोत्सव के वर्णन में सूरदास ने ढाढ़ी-ढाढ़िन द्वारा बधाई गाना,[1] मालिन द्वारा बन्दनवार बाँधना, सुनार द्वारा ढोलना पढ़कर लाना, नाइन का महावर देना, विश्वकर्मा (बढ़ई) द्वारा पालना गढ़कर लाना आदि बातों का उल्लेख किया है, जिनमें तद्युगीन समाज में प्रचलित विभिन्न व्यवसायों का भी समावेश हो गया है।[2]

सूरदास जी के अनेक पदों से यह ध्वनित होता है कि उनके समय में व्यापारी बैल, हाथी अथवा अन्य भारवाही पशुओं पर व्यापार की वस्तुएँ लाद-लादकर सुदूर प्रान्तरोंमें बेचने जाते थे। भ्रमर गीत प्रसंगका 'आयौ घोष बड़ौ व्यापारी' वाला पद भी इसी तथ्य का उद्घाटन करता है। व्यापार पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से स्थान-स्थान पर घाट बने हुए थे, जहाँ शासकीय कर्मचारी कर, जगात, चुंगी, दान आदि वसूल करने के बाद ही व्यापारियों को घाट उतरने देते थे। कर या चुंगी वसूल करने वाले अधिकारी के पास वसूली का अधिकार प्रदान करने वाली शासकीय 'छाप', 'बोरा' या प्रमाण-पत्र होता था और वह 'घटवार' या 'दानी' कहलाता था। सूरदास जी का दान-लीला वर्णन जहाँ ब्रज में विशेष रूप से प्रचलित दूध-दही-मक्खन बेचने के व्यवसाय का प्रतिनिधि है, वहीं वह तत्कालीन वाणिज्य व्यवस्था का भी निदर्शन कराता है। ऐसे ही एक वर्णन में कृष्ण को विक्रय-कर-निरीक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है:—

माखन दधि कह करौं तुम्हारौ।
या बन मैं तुम बनिज करति हौ, नहिं जानति मो कौं घटवारौ।
मैं मन मैं अनुमान करौं नित, मोसौं कैहै बनिज-पसारो।
काहे कौं तुम मोहिं कहति हौ, जोबन-धन ताकौ करि गारौ।[3]

एक तो बिना कर दिए व्यवसाय करना और उस पर भी जोबन-धन का

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६५५
२. —वही—पद ६५८
३. —वही—पद २१४२

गर्व, ये दोनों बातें कृष्ण जैसे घटवार को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त थीं। परन्तु गोपियों को विश्वास नहीं था कि उन्हें कोई शासकीय अधिकार प्राप्त हुआ है, तभी तो वे दान देने से पहले 'छाप' दिखाने को कहती हैं,[1] लेकिन कृष्ण छाप क्या दिखलावें, उनको भला कौन नहीं जानता[2]। कृष्ण बड़ी देर तक गोपियों को रोक रखते हैं, जिससे उन्हें विलम्ब हो रहा है। वे कृष्ण को यह भी बता देती हैं कि सब लोग गोरस सबेरे ही लेते हैं। देर हो जाने पर फिर कोई नहीं लेगा और तब उनका दूध-दही धरा ही रह जायगा :—

हमकौं जान देहु दधि बेंचन, पुनि कोऊ नहिं लैहैं।
गोरस लेत प्रात हीं सब कोउ, सूर धर्‌यौ पुनि रैहैं।[3]

गोपियों ने बहुत कहा कि 'कहा बनिज हम पास' और 'ऐसी कहौ बनिज कौं अटकी,' परन्तु कृष्ण को विश्वास नहीं हुआ। होता भी कैसे, वे तो सामने ही देख रहे हैं कि गोपियों के पास प्रचुरमात्रा में 'बनिज-संपत्ति है'। इसलिए जिसके नाम में जितना देय है, उतना चुका कर ही गोपियाँ उनके मार्ग पर चल सकती हैं,[4] पर गोपियों को पहले यह तो ज्ञात हो जाय कि उनके पास ऐसा क्या 'बनिज' है। वे तो केवल इतना जानती हैं कि दूध-दही के अतिरिक्त उनके पास कुछ भी नहीं है, तभी तो वे 'बनिज' की सीमा में आने वाली वस्तुओं की सूची गिनाती हैं :—

कहौ कान्ह कह गथ है हम सौं ?
जा कारन जुबती सब अटकीं, सो बूझति हैं तुम सौं।
लौंग, नारियर, दाख, सुपारी, कह लादे हम आवैं।
हींग, मिरिच, पीपरि, अजवाइनि, ये सब बनिज कहावैं।

---

१. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—पद २१२५
२. वही—पद २१२८
३. वही—पद २१२७
४. वही—पद २१४४

कूट, कायफर, सोंठि, चिरइता, करजीरा कहुँ देखत।
आज, मजीठ, लाख, सेंदुर कहुँ, ऐसेहिं बिधि अवरेखत।[१] (इत्यादि)

इस पद से यह भी सहज ही ज्ञात हो जाता है कि सूरदास के समय में किराने की दूकानों पर कौन कौन सी वस्तुएँ मिल सकती थीं। सूर के इसी पद पर मुग्ध होकर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "वैसे सूरदास के विद्यार्थी को यह पता लगाना भी बहुत मुश्किल नहीं है कि उस जमाने के परचूनी की दूकान पर क्या-क्या चीजें सुलभ थीं।"[२]

दान-लीला प्रसंग, भ्रमरगीत तथा अन्य पदों से भी यह स्पष्ट होता है कि सूरदास जी के समय में ब्रज की ग्वालिनें सामान्यतया दूध-दही-मक्खन आदि नगरों में ले जाकर बेंचा करती थीं और ग्वाले गोपालन तथा गोचारण में दिन भर व्यस्त रहते थे। नन्द का पुत्र बनकर स्वयं कृष्ण को भी गाय चरानी पड़ी थी, जिसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं। माखन-चोरी के आरोप पर सफाई देते हुए कृष्ण स्वयं यशोदा से कहते हैं कि:—

भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहिं पठायो।
चारि पहर बंसीबट भटक्यौ, साँझ परे घर आयो।[३]

इसीलिए महाकवि सूरदास भी अपनी गाय कृष्ण की गायों में सम्मिलित करने को उत्सुक हैं। सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) के पद सं० ५१ तथा ५६ में 'गाइ' शब्द 'इन्द्रिय' के आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जब कि वे 'माधौ जू, यह मेरी इक गाइ' और 'माधौ, नैंकु हटकौ गाइ' की प्रार्थना करते हैं। यहाँ वे अपनी इन्द्रियों के निग्रह की ही बात करते हैं, परन्तु आध्यात्मिकता का आवरण हटा देने पर हमारे सामने एक चित्र स्पष्ट उभरता है और गोचारण व्यवसाय का प्रतिनिधि बन जाता है। चित्र में जैसे सूरदास जी

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद २१४६
२. सूर-साहित्य—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ६३
३. सूर-पदावली—(हि० सा० स०, प्रयाग)—पृष्ठ ४

कृष्ण नामक एक कुशल चरवाहे के सम्मुख अपनी 'हरहाई' गाय ले कर खड़े हैं और उसके हाथ में गाय की पगहिया पकड़ा कर कह रहे हैं कि यह मेरी एक गाय है, इसे आज से तुम्हारे सिपुर्द करता हूँ। इसको चरा ले आओ, क्योंकि यह मेरे वश में नहीं रहती, यह अति स्वच्छन्द है, रोकने पर भी उचित मार्ग से नहीं चलती। रास्ते के अगल-बगल पड़ने वाले ईख के खेतों में दिन-रात मुँह मारती रहती है। अतः इसे तुम अपनी अन्य गायों में मिला लो। ऐसी गाय को 'ताहि कहु कैसैं कृपानिधि, सकत सूर चराइ'[१] कह कर चराने से असमर्थता व्यंजित करते समय सूरदास जी इसी गोचारण के व्यवसाय का परिचय देते जान पड़ते हैं। आज भी प्रायः यह देखने में आता है कि जिन पशुओं के पीछे स्वामी को अधिक उलाहना सहना पड़ता है, वह उन्हें दूर चरवाहों को सौंप आता है, जो शुल्क तथा अन्य प्रथागत नेग लेकर उसके पशुओं को चराते तथा उनकी रखवाली करते हैं और उस पशु-धन के पूरे जिम्मेदार रहते हैं। अतः ऐसा जान पड़ता है कि सूरदास के समय में भी ग्वाले दूसरों के पशुओं को ले कर चराया करते थे। संभव है, सूरदास ने 'धाई जाति सबनि के आगे, जे वृषभानु दई'[२] में भी इसी बात का संकेत किया हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस गोचारण को मनुष्य जाति की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति की संज्ञा देते हुए कहा है कि "कवियों को आकर्षित करने वाली गोप-जीवन की सब से बड़ी विशेषता है—प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सब से अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चल कर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छन्दता न रही।"[३] इस प्रकार आचार्य शुक्ल जी ने गोचारण को व्यवसाय ही माना है।

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ५६
२. —वही—पद १२३०
३. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ १६०

कृषि-व्यवसाय

कृषि संबंधी व्यवसायों के वर्णन की दृष्टि से सूर-साहित्य में उल्लेखनीय सामग्री का अभाव दिखाई पड़ता है, तथापि सूरदास जी के समय में ब्रज में कृषि-कार्य होता था, इसकी सूचना प्रकारान्तर से अनेक पदों द्वारा प्राप्त होती है, चाहे तद्युगीन कृषि का स्वरूप विकसित न हो पाया हो। वैसे पिछले पृष्ठ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उद्धृत मत से यह स्पष्ट होता है कि कृषि-व्यवसाय परवर्ती है। सूरसागर में यत्र-तत्र कृषि सम्बन्धी सूरदास जी की बहुज्ञता का आभास मिल जाता है। जैसे—

प्रभु जू, यौं कीन्हीं हम खेती।
बंजर भूमि, गाउँ हर जोते, अरु जेती की तेती।[1] (इत्यादि)

इस पूरे पद में खेती, बैल, हल, हाँकनहारा, जुआ, किसान, तृण, बीज, लता, अधिकारी द्वारा लेखा माँगना (मालगुजारी), पूँजी देकर देन से छूटना, जमानत के अभाव में ठाकुर द्वारा लूटा जाना, पटवारी और उसकी झूठी बही, बकाया, वर्षा, लुनाई (कटाई) आदि कृषि-व्यवसायात्मक शब्दावलियों को आध्यात्मिक बाना पहना कर भी उन्होंने तद्युगीन कृषि-व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

सूरदास जी के समय में लोग व्याज पर रुपया देने का व्यवसाय भी करते थे, उसके लिए जमानत लेते थे, ऋण न चुका सकने की स्थिति में ऋणी को दास बनना पड़ता था, इन सारी बातों का संकेत भी उन्होंने अनेक पदों में किया है। भ्रमरगीत प्रसंग इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। गोपियाँ अक्रूर को मूलधन और उद्धव को व्याज उगाहने वाला कह कर कदाचित् इसी व्यवसाय का संकेत दे देती हैं—

सूर मूर अक्रूर लै गए, व्याज निबेरत ऊधौ।[2]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १८५
२. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ४५०८

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी साधना-भूमि के सीमित क्षेत्र में वाणिज्य-व्यवसाय के जितने रूप संचरणशील थे, उन सबका उपयोग करके सूरदासजी ने अपने काव्य को समृद्ध बनाया है और इस प्रकार लोक-संस्कृति के इस तत्व को भी सहज ही अभिव्यक्ति मिल गई है।

(ठ) कलाएँ

कला के दो स्थूल विभाग हैं—ललित कला और उपयोगी कला। प्रस्तुत विवेचन का मूल प्रतिपाद्य ललित कला के अन्तर्गत आता है। अतः यहाँ उसी विभाग की सीमा में विचार किया जायगा। ललित कलाओं के अन्तर्गत वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य—ये पाँच कलाएँ आती हैं। यहाँ सूर-साहित्य में ललित कला के इन्हीं उपविभागों का संधान किया जायगा।

वास्तुकला

वास्तुकला दृष्टि-सुख की विधायिका होती है। कलाओं की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता उनके सृजन में प्रयुक्त उपकरणों की सूक्ष्मता अथवा स्थूलता के आधार पर निर्धारित होने के कारण हीगेल के अनुसार यह निकृष्टतम कला है क्योंकि इसमें ईंट, पत्थर, चूना, गारा आदि मूर्त्त पदार्थों का प्रयोग होता है, जिसके कारण यह कलाकार की कल्पना को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान करने में असमर्थ होती है, तथापि हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से इस कला का जो सुविकसित स्वरूप साँची, भरहुत से लेकर खजुराहो, ताजमहल, दिल्ली व आगरे के किलों में स्थित दीवाने-आम व दीवाने-खास आदि में देखने को मिलता है, उसमें दृष्टि-सुख प्रदान करने की जो प्रभूत क्षमता है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

सूरदास का युग मुगल-शासन की समृद्धि का युग था, जिसमें अकबर ने साहित्य के साथ ही अन्य कलाओं के विकास में भी महत्वपूर्ण योग दिया। वास्तुकला के प्रति उसके आकर्षण ने हमारे देश को आगरे का किला,

ताजमहल तथा फतहपुर सीकरी का बुलन्द-दरवाजा दिया, जो आज भी विश्व भर में वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसी दशा में यह संभव है कि उस युग में ब्रज में भी वास्तुकला को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला हो। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण करा कर तथा अन्य मन्दिरों का जीर्णोद्धार करके इस कला को गौरव प्रदान किया था। सूरदास जी उसी मन्दिर में प्रधान कीर्तनकार थे। अतः उनमें भी इस कला के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक दिखता है, विशेष रूप से तब, जब कि सूर के युग में ब्रज-प्रदेश अपनी समृद्धि के चरम शिखर पर था। आभिजात्य संस्कृति का चित्रण करते हुए उन्होंने राजमहलों तथा भवनों की कलात्मकता का भी परिचय कराया है। उन्होंने अपने पदों में वास्तुकला से संबंधित छज्जों, अट्टालिकाओं, झरोखों, कँगूरों आदि का वर्णन तो किया ही है, साथ ही उनमें विद्रुम तथा स्फटिक की पच्चीकारी का काम, कनक, मणिखंभ, काँच या स्वर्ण के सुन्दर गच आदि के समावेश का भी संकेत दिया है। यहाँ इस संबंध के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) छज्जनि तें छूटत पिचकारी।
रँगि गई बाखरि महल अटारी।[1]

(२) चितवत हुतीं झरोखैं ठाढ़ी।[2]

(३) जहाँ तहाँ उझकि झरोखा झाँकति; जनक नगर की नार।[3]

(४) देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी।[4]

(५) विद्रुम फटिक पची कंचन खचि मनिमय मंदिर बने बनावत।[5]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद २९०२
२. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ८०८
३. सूर सारावली—पद २०७
४. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८८८
५. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ४७८३

मूर्तिकला

मूर्ति संसार का सर्वाधिक समर्थ प्रतीक है। धर्म और भगवान् की भावना का समुद्भव तो श्रद्धा, कुतूहल तथा आश्चर्य के आधार पर हुआ, परन्तु मूर्ति में दैवी शक्ति की अवतारणा बहुत पूर्व ही हो गई थी। मूर्तिकला जब अपनी विकासावस्था में पहुँची तो धर्म और भगवान् अपना साकार व्यक्तित्व लेकर मूर्ति में बस गए और जन-मानस मूर्तियों के माध्यम से धर्म और भगवान् के अस्तित्व में श्रद्धा-भावना अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ हुआ। इस प्रकार मूर्तियाँ मानव-भावनाओं की मंजूषा बन गईं। सिन्धु-सभ्यता के युग से लेकर अद्यावधि यह कला संस्कृति का पोषण करती आ रही है। सौन्दर्य-भावना, कल्पना एवं भाव-बोधकता की दृष्टि से मूर्तिकला संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग बन चुकी है।

सूरदास जी ने अपने काव्य में यद्यपि इस कला का विस्तृत विवेचन-वर्णन नहीं प्रस्तुत किया है, तथापि उनके अनेक पदों में इस तत्व का भी समावेश हो गया है। प्राचीन काल से ही मथुरा की मूर्तिकला सुविख्यात है। भगवान् कृष्ण, बलराम, विष्णु, शिव, इंद्र आदि की अत्यंत प्राचीन प्रतिमाएँ मथुरा और उसके आसपास से मिली हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा उनके समकालीन भक्त-आचार्यों ने देव-मन्दिरों का निर्माण कराकर उनमें भव्य मूर्तियों की स्थापना कराई थी। मन्दिरों तथा धार्मिक प्रवृत्ति के घरों में इन मूर्तियों का समादर होने के कारण इस कला को मथुरा में विशेष रूप से विकसित होने का अवसर मिला था। "श्रीकृष्ण राधा आदि की विविध क्रीड़ाओं तथा भाव-भंगिमाओं का भावपूर्ण और सजीव-जैसा अंकन उस युग की मूर्तिकला की ऐसी विशेषता है, जो आज भी दर्शक के चित्त को मुग्ध कर लेती है।"[१] सूरदास जी के पदों में यत्र-तत्र मूर्तिकला सम्बन्धी वस्तुओं—'पाहन-पूतरी', 'प्रतिमा' आदि को स्थान प्राप्त हो गया है। उदाहरणार्थ—

---

१. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डॉ० मायारानी टंडन पृष्ठ ५९७

(१) अनोखी मानिनी नई, पाहन-पूतरी भई।[१]
(२) ऐपन की सी पूतरी (सब) सखियन कियौ सिंगार।[२]
(३) वह जु हुती प्रतिमा समीप की, सुख संपत्ति दुरित चितई री।[३]
(४) सालिग्राम तहाँ बैठायौ, धूप-दीप नैवेद्य चढ़ायौ।[४]

चित्रकला

चित्रकला की संस्कृति को बहुत बड़ी देन है। सामान्य लोक-संस्कृति का तो यह और भी महत्वपूर्ण अंग है। चित्रकला में मानव का भय, उल्लास, कल्पना 'भित्ति-चित्र' में आकार ग्रहण करती दिखाई देती है। ऐसे चित्रों में मानव की श्रद्धा और पूजा-भावना अभिव्यंजित हो उठती है। प्रासादों की दीवारों पर बने भित्ति-चित्र हों, अथवा एकानेक व्यक्तियों के प्रतिकृति-चित्र हों, सभी में लोक-संस्कृति अभिव्यक्त होती है और साथ ही मानव-भावना भी। साहित्य भी इन चित्रों से भाव ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्रकला समाज का प्रतिनिधित्व करती हुई साहित्य-क्षेत्र तक प्रसार ग्रहण करती है और सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है। संस्कार, पर्व-त्यौहार एवं उत्सवों के अवसर पर समस्त भारत के सामान्य जन-जीवन में इस कला के प्रति अनुराग आज भी संचरित होता देखा जा सकता है।

सूरदास जी के अनेक पदों में पर्व-उत्सव तथा त्यौहारों के समय 'दीवारों' पर चित्र बनाने का संकेत मिलता है। विरह के वर्णन में सूर ने गोपी द्वारा सिंह उरेहने का भी उल्लेख किया है—"अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यौ कर जेहिं भामिनि को कर न टरे।" इसी प्रकार उन्होंने भीत पर चित्र बनाने का भी संकेत दिया है—

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद २७८८
२. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ६५८
३. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ३८८२
४. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १६०२

जल बिनु तरंग चित्र बिनु भीतिहिं, बिनु चेतहिं चतुराई।[1]

गुंजा गुहकर, वनधातु घिस कर अंगों पर चित्र बनाने की ओर भी सूरदास जी ने संकेत किया है—

गुहि गुंजा, घसि वनधातु, अंगनि चित्र ठए।[2]

इसी प्रकार—

बनमाला तुमकौं पहिरावहिं, धातु चित्र तनु रेखहिं।[3]

वास्तव में सूरसागर में ऐसे अनेक पद उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर कोई भी कुशल चित्रकार उत्कृष्टतम चित्रों का सृजन कर सकता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का तो यहाँ तक कहना है कि "चित्रमय भाषा के लिए तो सूरसागर की एक-एक पंक्ति उदाहरण है।"[4]

संगीत-कला

गायन, नर्तन और वादन-क्रियाओं की समष्टि को संगीत की संज्ञा दी जाती है। मानव-मन के उल्लास और चिन्तन का संयोग पाकर संगीत-कला विकसित हुई है। सामवेद के स्रोत से निकल कर तथा गुप्त युग में विकासोन्मुख होकर हिन्दू-मध्य-काल में यह कला चरम विकास प्राप्त करती दिखाई पड़ती है। इस कला ने भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा में भी अपूर्व योग दिया है। "कबीर और रैदास, भिखारी और दादू, मीरा और सूर, तुलसी और सिक्ख गुरु सभी ने अपनी अपनी रीति से समाज, रहस्य और अनुचित के प्रतिवाद के उपाय को देखा, वाणी में ध्वनित किया और संगीत उसे अपने पंख पर दिगन्त को ले उड़ा।"[5]

---

१. सूरसागर—**उत्तरार्द्ध**—पद ४५४९
२. —वही—**पूर्वार्द्ध**—पद ६४२
३. —वही—पद १०४४
४. **सूर-साहित्य—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १६५**
५. **हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—पीठिका भाग—पृष्ठ ६६३**

सूरदास जी तो संगीत के आचार्य ही थे। हरिराय कृत सूरदास की वार्ता के अनुसार "सूरदास कौ कंठ बहौत सुंदर हतौ। सो गान विद्या में चतुर और सगुन बतायबे में चतुर। सो उहाँ हू बहौत लोग सूरदास जी के पास आवते।"[1] सूरदास जी ने अनेक राग-रागिनियों की भी उद्भावना की। उनकी समस्त पद-रचना राग-रागिनियों से संयोजित तथा संगीतात्मकता से ओतप्रोत है। पर्व-उत्सव, संस्कार, त्यौहार, रास आदि के अवसरों पर होने वाले आयोजनों में उन्होंने संगीत के अनेक तत्वों—नृत्य, वाद्य एवं राग-रागिनियों तथा दोहा-पद-छन्द आदि में कीर्तन के लिए पद-रचना की है। ऐसे पदों में सप्राणता का गुण विद्यमान दिखाई देता है।

कृष्ण की रास-लीला का निरूपण करते हुए सूरदास जी ने नृत्य का वर्णन अत्यन्त तन्मयता की स्थिति में किया है। वास्तव में नृत्य तो रास का प्राण ही है। संस्कारों के अवसर पर नृत्य का आयोजन और उसमें सूर की तन्मयता हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। यहाँ सूर-सारावली से एक उद्धरण दिया जाता है—

नाचत गोप परसपर सब मिलि, छिरकत हैं नवनीत।[2]

सूरसागर में अनेक पदों[3] में कृष्ण और राधा को नृत्य करते हुए दिखाया गया है, जिसमें नृत्य की प्रत्येक भंगिमा साकार होकर उतर आई है। एक उदाहरण लीजिए—

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, धरे नटवर अंग।

---

१. सूरदास की वार्ता—(सं० श्री प्रभुदयाल मीतल)—पृष्ठ ८
२. सूर सारावली (संपा० श्री प्रभुदयाल मीतल) पद ४०१
३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६७३-७८

चलत गति कटि कुनित किंकिनि, घूँघुरु झनकार।
× × ×
कबहुँ नृत्यत नारि-गति पर, कबहुँ नृत्यत आपु।[1] (इत्यादि)

नृत्य करने वाली ब्रजबालाओं के वस्त्राभूषणों की ओर भी सूरदास जी ने अनेक पदों में संकेत किया है जिससे उनके समय में नृत्य के लिए स्त्रियों द्वारा धारण किए जाने वाले विविध परिधानों का भी परिज्ञान होता है—

पहिरे चोर सुरँग सारी, चुह चुह चूनरि बहु रंगनो।
नील लहंगा लाल चोली कसि, केसरि अंग सुरंगनौ।
नवसत साजि सिंगार नागरी, मनिमय भूषन मंगनौ।'[2] (इत्यादि)

इसी प्रकार 'उघटत स्याम नृत्यति नारि'[3] वाले पद में नृत्य की भंगिमाओं के साथ ही विविध प्रकार के वाद्य-ताल, मुरज, रबाब, बीना, किन्नरी, मृदंग आदि का भी सजीव चित्रांकन किया गया है जो नृत्य-वर्णन को पूर्णता प्रदान कर देता है।

वाद्य संगीत की आत्मा है। सूरदास जी के समय में कीर्तन के समय अनेक प्रकार के वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। लोक-जीवन में भी संस्कार, पर्व-उत्सव आदि अवसरों पर आयोजित नृत्यों में वाद्यों की प्रधानता रही होगी। अतः सूरदास जी के अनेक पदों में विविध प्रकार के वाद्यों का भी समावेश हुआ है, जो उनकी तत्सम्बन्धी बहुज्ञता तथा आचार्यत्व का परिचायक है। सूरसागर तथा सारावली में ऐसे अनेक पद उपलब्ध हैं, जिनमें विविध वाद्यों की सूची तक गिनाई गई है। यहाँ सूरसागर में वर्णित फूलडोल के उत्सव का एक उदाहरण दिया जाता है, जिसमें अनेक वाद्यों के बजाए जाने का उल्लेख हुआ है—

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध पद १६७४
२. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ३४५०
३. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १६७७

फूले बजावें मृदंग, महुवरि, डफ, ताल, चंग, सरस रसही फूलडोल।
फूले बजावें बाँसुरी संग, अमृत-कुंडली उपंग, संतनि हित फूलडोल।
फूले बजावें किन्नरि तार, सुरमंडल झनतकार, सरस रसही फूलडोल।
फूले बजावें गिरगिरी गार, भेरी, घहरें अपार, संतन हित फूलडोल।
फूले बजावें मु ंज, ंज, झाँझ, झालरीनि पुंज, सरस रसहि फूलडोल।[1]

सूर-सारावली में भी अनेक ऐसे पद हैं जिनमें वाद्य-यन्त्रों का वर्णन हुआ है, परन्तु पद सं० १०७२ से १०७६ तक के पद इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनमें 'होरी' के अवसर पर शुक्ल पक्ष की पंचमी को रुंज, मुरज, ढप, ताल, बाँसुरी, झालर, बीन, रबाब, किनरी, अमृत-कुंडली, सुर, जलतरंग, पखावज, आवज, उपंग, शहनाई, सरंगी, कंसताल, कटताल, शृंग, मुँहचंग, खंजरी, पटह, प्रनव, नफेरी (तुरही), मुरली आदि अनेक वाद्य-यन्त्रों के बजाए जाने का उल्लेख हुआ है।

राग-रागिनियों का संगीत में अपरिहार्य महत्व है। संगीताचार्य होने के नाते सूरदास जी का समस्त साहित्य राग-रागिनियों के निर्देश के साथ ही सृजित हुआ है। सूरसागर के प्रत्येक पद के पूर्व किस विशिष्ट राग-रागिनी में उसे गाया जायगा, इसका स्पष्ट उल्लेख है। सूर-सारावली की रचना वृहद् होली गान के रूप में हुई है और उसके राग तथा ताल का निर्देश प्रारम्भ में ही किया गया है, जिससे विदित होता है कि समस्त सूर-सारावली रागिनी काफी, ताल जति पर गाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त सारावली के पद सं० १०१२ से १०१८ तक में समस्त राग-रागिनियों का भी वर्णन हुआ है जिनमें हिंडोल, मालव, सारंग, नट, सावंत, भूपाली, ईमन, कान्हरौ, विहाग केदारौ, सोरठ, गौड़, मलार, भैरव, विभास, बिलावल, देवगिरि, देसाक, देव, गौरी, श्री, जैतश्री, पूर्वी, टोड़ी, असावरी, रामकली, गुनकली, केतकी, जैजैवंती आदि अनेक राग-रागिनियों का समावेश हुआ है। सूर-

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३५३५

सागर का पद १८५६ तथा ३४४९ भी इसी प्रकार की सूची प्रस्तुत करता है। सूरसागर में ऐसे और भी अनेक स्थल हैं जहाँ विविध राग-रागिनियों का संकेत देते हुए कृष्ण के साथ गोप-गोपियों के आनन्दोल्लास का वर्णन हुआ है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि संगीत कला में सिद्धहस्तता प्राप्त करने के कारण सूरदास का समस्त साहित्य संगीत की मधुर लहरियों से तरंगित है। रास-लीला के वर्णनों में तो संगीत साकार स्वरूप लेकर उतरता दिखाई पड़ता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के भ्रमरगीत को 'सूर की संगीत भूमि'[1] की संज्ञा दी है तथा सूरसागर के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[2] डॉ० प्रेमनारायण टण्डन का भी यही मत है कि "राग-रागिनियों और वाद्यों के जितने नाम उन्होंने गिनाए हैं, उतने संभवतः हिन्दी के किसी कवि के काव्य में नहीं मिलेंगे।"[3] अन्त में हम 'सूर-निर्णय' के विद्वान् लेखकों के शब्दों में कह सकते हैं कि "संगीत कला की दृष्टि से भी सूर-काव्य का अनुपम महत्व है। यह संगीत शास्त्रोक्त विविध राग-रागिनियों का विपुल भण्डार है। इसमें जिन अगणित राग-रागिनियों का समावेश है, उनमें से कुछ के लक्षण भी आजकल के संगीतज्ञों को अज्ञात हैं। ऐसा मालूम होता है कि या तो वे राग-रागिनियाँ सूरदास के ही समय में प्रचलित थीं या स्वयं उन्होंने ही उनका आविष्कार किया था, जिनका प्रचलन बाद में बन्द हो गया।"[4]

---

१. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ १९३
२. —वही—पृष्ठ १८०
३. सूर की भाषा—डॉ० प्रेमनारायण टण्डन—पृष्ठ ५७२
४. सूर-निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल—पृष्ठ ३१४

काव्य-कला

काव्य भी ललित कला का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है, जो संस्कृति एवं लोक संस्कृति के उद्घाटन तथा उत्थान में अत्यधिक सहायक होता है। शब्द और अर्थ काव्य के मुख्य उपकरण हैं। "कवि शब्दों और अर्थों द्वारा जो चित्र प्रस्तुत करता है, वह वैसा ही मूर्त्त हो जाता है जैसा कि सामान्य चित्र या मूर्ति। साधारण से साधारण कल्पना वाला सहृदय ही कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र देखकर किसी चित्र या मूर्ति से कम प्रभावित नहीं होता।"[१] गीतात्मकता काव्य का प्रधान गुण है। अतः उसमें संगीत के तत्वों का उचित परिमाण में समन्वय और सामंजस्य अनिवार्य होता है। रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि आह्लादकारक गुणों का समावेश काव्य में होने के कारण वह मानव के लिए मानसिक खाद्य प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।

कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह अपने काव्य में समूचे समाज और मानव-जीवन को चित्रित कर देता है। सूरदास जी मूलतः भक्त थे। उनकी प्रगाढ़ भक्ति-भावना ने उन्हें कवि भी बना दिया था, परन्तु वे भक्त पहले और कवि बाद में थे। अतः समाज की नाना प्रकार की समस्याओं का विवेचन और समाधान प्रस्तुत करना उनका उद्दिष्ट नहीं था। वे निरन्तर कृष्ण की विविध लीलाओं की तन्मयतापूर्वक आनन्दानुभूति करते थे। इस आनन्दानुभूति को अपने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान करके उन्होंने लोक-जीवन को भक्ति-रसामृत का पान कराया। लोकनायक, लोक-रंजक और लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं तक ही दृष्टि सीमित रहने पर भी उनके द्वारा ब्रज-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति का चित्रण संपन्न हो गया है। भक्ति का सम्बन्ध धर्म से है और धर्म-भावना मानव में अनादि काल से विद्यमान रही है। जन-जीवन में व्याप्त इसी धर्म-भावना को अपने काव्य के माध्यम से उभार कर

---

१. सूर की काव्य-कला—डॉ० मनमोहन गौतम—पृष्ठ १२

सूरदास जी ने जिस लोक-मंगल का विधान किया है, वह चाहे तुलसी के समान व्यापक और महत्वपूर्ण न हो, परन्तु अपने काव्य के माध्यम से भक्तिकाल के कवि—कबीर, दादू, नानक, रैदास, मीरा, तुलसी आदि ने मानव में सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध करने में जो योग दिया है, उसके महत्व को स्वीकार करते समय हमें सूरदास की सांस्कृतिक देन को भी स्वीकार करना ही होगा।

(ङ) विज्ञान

विज्ञान के अन्तर्गत अनेक विषयों का समावेश होता है, जैसे गणित शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, प्राणिशास्त्र, भूगर्भ शास्त्र आदि। ये समस्त तत्व संस्कृति में विद्यमान होते हैं और उसको निरंतर पोषण प्रदान करते रहते हैं। परन्तु लोक-संस्कृति के अध्ययन के अवसर पर इनमें से कतिपय विज्ञानों का संकेत मात्र ही पर्याप्त होगा। अतः हम अपने विवेचन को वनस्पति, ज्योतिष और गणित शास्त्र तक ही सीमित रखेंगे।

लोक-संस्कृति का प्रकृति के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है। प्रकृति की ऋतुओं में जैसे-जैसे परिवर्तन होते हैं, वैसे ही जन-जीवन का रूप भी परिवर्तित होता रहता है और लोक-संस्कृति भी उसी रूप में नियमित क्रम से अपना कलेवर बदलती रहती है। सच तो यह है कि प्रकृति द्वारा ही लोक संस्कृति को जन्म मिलता है, वही उसका पोषण करती है और उसका विकास भी प्रकृति की गोद में ही होता है। वनस्पतिशास्त्र इसी प्रकृति से विशेष सम्बन्धित है।

सूरदास जी ने प्रकृति का जितना सुन्दर वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इसका मूल कारण यह है कि सूर के आराध्य कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास ब्रज की प्रकृति में ही हुआ था और सूरदास की काव्य तथा साधना-भूमि भी ब्रज की प्रकृति की मनोरम गोद ही थी। इसीलिए उन्होंने अपने लीला-वर्णनों में प्रत्येक पात्र को प्रकृतिमय बना दिया

है। वास्तव में "सूर के पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा उपस्थित प्रकृति की चित्रपटी के सहारे भली भाँति किया जा सकता है। साहचर्य के कारण उनका प्रकृति के साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि किसी भी घटना-व्यापार की प्रतिक्रिया पहले किस पर हुई और बाद में किस पर, यह बताना बड़ा ही कठिन है।"[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक पदों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा आलंबन, उद्दीपन आदि रूपों में प्रकृति का वर्णन करके एतद्‌विषयक अपनी बहुज्ञता का भी परिचय दिया है। उन्होंने विविध पेड़पौधों, लता-फूलों से लेकर कीट-पतंगों, छुद्र जन्तुओं, जलचर, पक्षी, पशु आदि का भी वर्णन किया है। एक उदाहरण लें—

अति व्याकुल भई गोपिका, ढूँढ़त गिरिधारी।
बूझति हैं बन-बेलि कौं देखे बनवारी।
जाही, जूही, सेवती, करना, कनियारी।
बेलि, चमेली, मालती, बूझति द्रुम-डारी।
कूजा, मरुआ, कुंद सौं, कहैं गोद पसारी।
बकुल, बहुलि, बट, कदम पैं ठाढ़ीं ब्रजनारी।[2]

इसी प्रकार प्रकृति वर्णन संबंधी एक और भी पद में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर सूर की गोपियाँ बन-बेलि, मालती, चंदन, कुंद, कदंब, बकुल, बट, चंपक, ताल, तमाल, कमल, कुमुदिनी, कदली, बदरी, करबीर, तुलसी, मृगी, मधुप, मराल आदि से उनका पता पूछती दिखाई पड़ती हैं।[3] विस्तार भय से इस प्रसंग में इतना ही संकेत पर्याप्त है।

प्रकृति वर्णन का इतना संकेत कर देने के पश्चात् ज्योतिष-विज्ञान का भी उल्लेख आवश्यक है। सूरदास जी ने राम तथा कृष्ण के संस्कारों के वर्णन

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा—पृष्ठ ३७४
२. सूर-सागर—पूर्वार्द्ध—पद १७१३
३. —वही—पद १७०९

में तथा अन्यत्र भी अनेक पदों में अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय दिया है, जिससे यह भी अभिव्यंजित होता है कि ब्रज के लोग 'साइत-सुदिन', 'शुभ मुहूर्त' एवं ज्योतिष संबंधी अन्य बातों में कितनी आस्था रखते थे। कृष्ण जन्म के अवसर पर आदि-ज्योतिषी महोदय आते हैं और श्रीकृष्ण की जन्म-पत्री ज्योतिष-गणना के अनुसार बनाकर नन्द को सुनाते हैं—

आदि जोतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र-जन्म सुनि आयौ।
लगन सोधि सब ज्योतिष गनि कै, चाहत तुमहिं सुनायौ।
संवत सरस विभावन, भादौं आठैं तिथि बुधवार।
कृष्न पच्छ, रोहिनी अर्द्ध निसि, हर्षन जोग उदार।
वृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख पैहैं।
चौथैं सिंह रासि के दिनकर, जीति सकल महि लैहैं। [1] (इत्यादि)

इसी प्रकार नक्षत्रों का उल्लेख भी सूरदास जी ने किया है—

भद्रा भली, भरनि भय हरनी, चलत मेष अरु छींकौ।[2]

साहित्य लहरी में भी कृष्ण की जन्म-कुंडली का वर्णन इसी प्रकार से हुआ है, यद्यपि वह दृष्टिकूट शैली में लिखा गया है—

विप्र जी पावन पुन्य हमारे।
जो जजमान जानि कै मो कहँ आपु यहाँ पगु धारे।।
एक बार जो प्रथम सुनाई लगन-कुंडली सोइ।
संवत मास षष्ठ बसु तिथि है, रवि तैं चौथी बार।
पुन्न पच्छ और बेद नषत है हरषन जोग उदार।[3]

सूरदास ने साहित्य लहरी के एक अन्य पद में रोहिणी, मृगशिरा, हस्ति, कृत्तिका आदि नक्षत्रों को अंकों के माध्यम से चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रकट

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ७०४
२. वही—उत्तरार्द्ध—पद ४४४६
३. साहित्य लहरी (संपा० श्री प्रभुदयाल मीतल)—पद ८१

किया है।[1] इस प्रकार साहित्यलहरी में सातों वार, बारहों महीने, नवों ग्रह तथा सत्ताइसों नक्षत्रों का समावेश हो गया है।

सूरदास जी ने अनेक पदों में गणित का भी उपयोग किया है। रूपक और दृष्टिकूटों में तो जैसे वे गणित के आश्रित होकर ही चले हों। ज्योतिष का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यहाँ ज्योतिष और गणित दोनों का समन्वय करानेवाला सूरदास का दृष्टिकूट[2] उल्लेखनीय है, जिसमें गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग से जनित पीड़ा व्यक्त करती हैं——

कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात।
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर-रिपु कीन्हौ घात।
मघ पंचक लै गयौ साँवरो, तातैं अति अकुलात।
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।

सूर-सारावली में 'अथ दृष्टकूट कथन' के अन्तर्गत पद सं० ९३७ से ९६६ तक में दृष्टिकूट पद उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ का भावार्थ गणित ज्ञान के आधार पर ही समझा जा सकता है।

पाक-विज्ञान

प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सूरदास के साहित्य का अध्ययन करते समय पाक-विज्ञान की ओर भी थोड़ा संकेत कर दिया जाय। खान-पान के प्रसंग में इस दिशा में कुछ विचार हुआ है। परन्तु पाक-कला को विज्ञान का रूप प्राप्त हो चुका है, अतः यहाँ यह देखा जायगा कि सूरदास ने इस विज्ञान का प्रयोग किस रूप में किया है। यों तो सूर-साहित्य में ऐसे अनेक पद उपलब्ध हैं, जिनमें सूरदास की पाक-विज्ञान सम्बन्धी बहुज्ञता प्रकट होती है, परन्तु यहाँ एक ऐसे पद की ओर संकेत करना ही उचित है, जो पाक कला की दृष्टि से खरा उतरता

---

१. साहित्यलहरी——श्री प्रभुदयाल मीतल——पद १९
२. सूरसागर——उत्तरार्द्ध——पद ४५९४

है। स्थानाभाव के कारण ५४ पंक्तियों के उक्त पद को यहाँ पूर्णता में उद्धृत करना संभव नहीं है। केवल कुछ पंक्तियाँ ही दिखाकर संतोष करना होगा—

भोजन भयो भावते मोहन। तातोइ जेंइ जाहु गो-गोहन।
खीर, खाँड़, खीचरी सँवारी। मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ भोग लियौ भात पसाई। मूँग ढरहरी हींग लगाई।[1]

उपर्युक्त संपूर्ण पद जहाँ एक ओर अनेक प्रकार के व्यंजनों की सूची प्रस्तुत करता है, वहीं प्रत्येक व्यंजन के निर्माण की विधि का भी निर्देश करता है। यही इस पद की मुख्य विशेषता है और इस पद के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास जी को पाक-विज्ञान का सम्यक् ज्ञान था। ऐसा होना सम्भव भी है क्योंकि श्रीनाथ जी के मंदिर में भोग तथा राजभोग के समय जितने प्रकार के व्यंजन बनते थे, उन सबके नाम तथा उन्हें बनाने की विधि भी सूरदास जी को ज्ञात रही होगी, यह अशक्य है।

(ढ) लोक-विश्वास

लोक-विश्वासों का सीधा सम्बन्ध मानव-अन्तर से होता है। समाज से संयुक्त होकर मानव-अन्तर समाज-अन्तर का रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति का विश्वास प्रायः सामाजिक विश्वास का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरी ओर सामाजिक विश्वास व्यक्ति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक अन्तर्भावना सांस्कृतिक तत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। लोक-विश्वासों में पौराणिक विश्वास, धार्मिक विश्वास, सामाजिक विश्वास, अन्धविश्वास आदि की गणना की जा सकती है।

सूरदास जी ने अनेक प्रकार के ऐसे विश्वासों का वर्णन अपने पदों में किया है, जो तद्‌युगीन हिन्दू समाज की सांस्कृतिक भावना के परिचायक हैं।

पौराणिक विश्वास

वेद, उपनिषद्, पुराण आदि हिन्दू-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। अतः उनमें वर्णित अनेक प्रसंगों का समाहार सूर-साहित्य में अनेक स्थानों

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १८३१

पर हुआ है। चौबीस अवतार, परब्रह्म के अवतार, राम-कृष्ण, राम-कृष्ण की मानवी लीलाओं का देवताओं द्वारा देखा जाना, पुष्प-वर्षा आदि ऐसे ही विषय हैं, जिनको सूरदास जी ने अपने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है। गंगा विष्णु के चरणों से निकली हैं, ऐसी पौराणिक मान्यता है। सूरदास जी भी "पिउ पद कमल कौ मकरन्द" वाले पद[१] में इसी पौराणिक विश्वास का आख्यान करते हैं। यमुना का पुराणों में बड़ा माहात्म्य वर्णित है। इस पौराणिक विश्वास को हम सूर के अनेक पदों में देख सकते हैं। "भक्त जमुने सुगम अगम औरै"[२] वाले पद में भी इसी विश्वास का प्रतिपादन होता दिखाई पड़ता है। पुराण भी वाराणसी को मुक्ति प्राप्ति का केन्द्र घोषित करते हैं। इसी पौराणिक विश्वास को सूरदास जी आगे बढ़ाते हैं, जब वे कहते हैं "बन वाराणसि मुक्ति-क्षेत्र है, चलि तोकौं दिखराऊँ।"[३] इसी प्रकार मथुरा, वृन्दावन, ब्रज आदि तीर्थों का पुराण-सम्मत माहात्म्य सूर-साहित्य में भी आकार ग्रहण करता है। "जय जय जय मथुरा सुखकारी" वाले पद[४] में सूरदास जी मथुरा के पौराणिक महत्व को स्वीकार करते हैं तो "वंशीवट, वृन्दावन, जमुना तजि बकुण्ठ न जावै"[५] कहकर भी पौराणिक विश्वास का ही आश्रय ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। ब्रज के प्रत्येक कुंजों में वे लौटना चाहते हैं। ब्रज की रज अपने अंगों पर चढ़ाना चाहते हैं[६] तो वे इसी पौराणिक विश्वास को अभिव्यक्त करते हैं।

धार्मिक विश्वास

धर्म के प्रति हिन्दू समाज सदा से आस्थावान रहा है। वह ईश्वर को

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ४५४

२. —वही—पद २२२-२३

३. —वही—पद ३४०

४. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ३७१४-१५

५. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ३४९

६. —वही—पद ११०८

समस्त पापों का प्रक्षालन करनेवाला, लोक-कल्याण करने वाला तथा मोक्ष प्रदान करने वाला मानता रहा है। भक्ति और धर्म का निकटतम सम्बन्ध है। अतः सूरदास जैसे महान् भक्त के लिए धार्मिक तत्वों की उपेक्षा कैसे संभव थी ? अतः उन्होंने अनेक धार्मिक विश्वासों को भी अपने साहित्य में आकलित कर दिया है। सूरदास का भ्रमर गीत तो इन धार्मिक विश्वासों की मंजूषा ही बन गया है।

आर्थिक समृद्धि को मानव सदा से भगवान् की कृपा का प्रसाद मानता आया है। सूर की यशोदा भी इन्द्र को अपनी आर्थिक समृद्धि का श्रेय देती हैं, जब वे कहती हैं कि "जाकी कृपा बसत ब्रज भीतर, जाकी दीन्हीं भई बड़ाई।"[१] पंचक में इन्द्र की पूजा जैसा शुभ कार्य संपन्न नहीं किया जा सकता था। इसलिए दीपावली के दिन यह पूजा नहीं हो सकेगी——यही संदेश "दीप मालिका के दिन पाँचक, गोपिनि कहौ बुलाई"[२] में ध्वनित होता है।

पुत्र-जन्म को विधाता की देन मानना और उसके लिए तीर्थ-व्रत-तपस्या के अनेक आख्यान धार्मिक विश्वास का रूप ले चुके हैं। ब्रज में भी यह धार्मिक विश्वास सूरदास के समय प्रचलित था, ऐसा निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है——

(१) सत संजम तीरथ-व्रत कीन्हें तब यह संपति पाई।[३]
(२) आजु सो बात बिधाता कीन्हीं, मन जुहुती अति भावति।[४]

भोजन करते समय भगवान् को भोग लगाने अर्थात् भगवान् को समर्पित करने के पश्चात् भोजन करने के सम्बन्ध में प्रचलित धार्मिक विश्वास भी अनेक स्थलों पर संकेतित हैं——

---

१. सूरसागर —पूर्वार्द्ध—पद १४२९
२. —वही——पद १४३०
३. —वही—पद ६३४
४. —वही—पद ६४१

(१) घृत-मिष्ठान्न-खीर मिश्रित करि परसि कृष्न हित ध्यान लगायौ।[१]

(२) पट अंतर दै भोग लगायौ, आरति करी बनाइ।[२]

(३) जो प्रसाद पावत तुम ऊधौ कृष्न नाम लै खात।[३]

भोग लगाने संबंधी उक्त वर्णनों में "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्" की चिरन्तन भावना ही अभिव्यक्त हुई है, जो धार्मिक विश्वास का स्वरूप ले चुकी है। इसी प्रकार अन्य अनेक लोक-जीवन में व्यवहृत होने वाले धार्मिक विश्वासों को भी सूर-साहित्य में अभिव्यक्ति मिली है।

सामाजिक विश्वास

समाज में कुछ विश्वास चल पड़ते हैं तो वे कालान्तर में रूढ़ हो जाते हैं और फिर परंपरानुगत रूप से लोक-जीवन में संचरित होते रहते हैं। इस कारण ये सभी विश्वास लोक-संस्कृति के अन्तर्गत स्थान पा जाते हैं, क्योंकि लोकसंस्कृति प्रत्येक परंपरागत बात को अपनी सीमा में आवेष्टित करने को सचेष्ट जान पड़ती है। सूरदास के समय में भी ब्रज लोक-जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक विश्वास प्रचलित रहे होंगे, जिन्हें उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। सामाजिक विश्वास के अनुसार भगवान् सबके लिए समदर्शी हैं। इसी विश्वास को सूरदास जी ने "सत्रु-मित्र हरि गनत न दोइ। जो सुमिरै ताकी गति होइ।"[४] कहकर प्रकट की है। सामूहिक ब्रह्मभोज में शूद्र का बैठना सामाजिक विश्वास के अनुसार निषिद्ध है। इस बात को सूरदास जी ने "भोजन

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८६६

२. —वही—पद ८७९

३. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ४१५१

४. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ३४८

साथ सूद्र बाम्हन के, तैसो उनकौ साथ"।[१] कहकर प्रकट किया है। इसी प्रकार अन्य अनेक सामाजिक विश्वासों को भी सूरदास ने अपने साहित्य में अभिव्यक्त करके ब्रज-लोक-संस्कृति के तत्कालीन स्वरूप का भी उद्‌घाटन किया है।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म की भावना भारतीय संस्कृति का अंग रही है। ब्रज-जीवन में भी यह सामान्य मान्यता रही है कि मनुष्य इस संसार में बार-बार जन्म लेता है और नया जन्म पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही होता है। सूरदास जी की दृष्टि इस सामान्य विश्वास की ओर भी गई है। इसलिए कहीं तो वे कृष्ण के जन्म को पिछले सुकर्म और पुण्य का फल निरूपित करते हैं—"उपजि पर्‌यौ सिसु कर्म-पुन्य फल, समुद सीप ज्यों लाल"[२] और कभी "तिरछौ करम भयौ पूरब कौ" कहकर प्रियतम को पैरों की बेड़ी की संज्ञा देते हैं।[३] यशोदा श्रीकृष्ण जैसी संपत्ति प्राप्त करने को सैकड़ों संयम तथा तीर्थ-व्रत का प्रतिफल मानती हैं—"संत संजम तीरथ-व्रत कीन्हें, तब यह संपति पाई"[४]—यही बात सूरदास जी ने कृष्णजी के मुँह से भी कहलवाई है—"गर्भ देवकी के तनु धरिहौं जसुमति कौ पय पोहौं। पूरब तप बहु कियौ कष्ट करि, इनकौ बहुत रिनी हौं।"[५] इस प्रकार श्रीहरि देवकी के गर्भ से प्रकट होने तथा यशोदा का दूध पीने का निश्चय इसलिए करते हैं क्योंकि इन दोनों ने पूर्व में बहुत कष्टसाध्य तपस्या करके उन्हें अपना ऋणी बना लिया है। इस प्रकार पुनर्जन्म और कर्मफल—जो

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३७७०
२. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ७५६
३. —वही—पद १४२५
४. —वही—पद ६३४
५. —वही—पद २२२२

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं में से हैं-- के सिद्धान्तों को अनेक स्थलों पर सूरदास जी ने अभिव्यक्ति प्रदान की है।

शकुन

ब्रज का सामान्य जन-जीवन शकुन-अपशकुनों के प्रति आस्थावान था, ऐसा प्रमाण हमें सूर-साहित्य में मिलता है। यहाँ कतिपय शकुनों का ही उल्लेख करके संतोष करना पड़ेगा। कौए का घर के ऊपर या सामने बैठकर बोलना सर्वत्र शुभ माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि उसके बोलने से किसी प्रिय व्यक्ति के आगमन की संभावना होती है। राम-लक्ष्मण वन में है, अयोध्या में माता कौशिल्या सगुनौती कर रही हैं—

बैठी जननि करति सगुनौती।
लछिमन-राम मिलैं अब मो कौं, दोउ अमोलक मोती।।
तनी कहत, सुकाग उहाँ तैं, हरी डार उड़ि बैठ्यौ।
अंचल गाँठि दई दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर ैठ्यौ।।
जब लौं हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौं।
दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अ भाइनि मैं थपिहौं।।
अब कैं जो परच्यौ करि पावौं, अ देखौं भरि आँखि।
सूरदास सोने कैं पानी, मढ़ौं चोंच अरु पाँखि।।[१]

उपर्युक्त पद में कौए के बोलने पर उसके प्रति कृतज्ञ रहने की भावना, उसे भाई मानना, दही-भात दोने में भरकर देना तथा उसकी चोंच और पंखों को सोने से मिढ़ाने का आश्वासन देना आदि बातें लोक-जीवन में परंपरानुगत रूप से चली आ रही हैं और लोकगीतों में तो प्रिय व्यक्ति के आ जाने पर इसी प्रकार के अनेक संकल्प अभिव्यक्त हुए हैं। इस प्रकार

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६०८

काग का बोलना शुभत्व का प्रतीक बन गया है। एक अन्य पद में राधा की सखी ने काग की बोली सुनी है और वह राधा के पास आकर कृष्ण के होली खेलने के लिए आने की भविष्यवाणी करती है—

तेरैं आवैंगे आजु सखी हरि, खेलन कौं फागु री।
सगुन सँदेसौ हौं सुन्यौ, तेरे आँगन बोलै काग री।[1]

कंस ने जब सुफल्क-सुत अक्रूर को कृष्ण और बलराम को बुला लाने के लिए ब्रज भेजा तो अक्रूर को कंस का मन्तव्य ज्ञात होने के कारण यह कर्त्तव्य अच्छा नहीं लगा, परन्तु वे बेचारे आदेश के परिपालनार्थ विवश थे, अतः चल पड़े। रथ के चलते ही दाहिने हाथ 'मृग-माला' देखकर शुभ-शकुन जानकर वे पुलकित हो गए—

(१) **दच्छिन दरस देखि मृगमाला। अति आनन्द भयौ तिहि काला।**[2]
(२) **दाहिने देखियत मृगमाल।**
मानौं इहिं सकुन अबहिं इहिं बन आजु,
इनहिं भुजनि भरि भेंटौंगो गोपाल।[3]

कृष्ण की प्रेरणा से उद्धव जो ब्रज के लिए प्रस्थान करते हैं। उधर गोपियों को इस बात का संकेत मिल जाता है, क्योंकि भौंरे का कानों के पास गुनगुनाना, कौए का द्वार पर आकर बैठना आदि बातें उन्हें वांछित अर्थ ग्रहण कराने के लिए पर्याप्त थीं—

जबहिं चले ऊधौ मधुबन तैं गोपिनि मनहिं जना गई।
बार-बार अलि लागे स्रवननि, कछु दुख कछु हिय हर्ष भई।
जहँ तहँ काग उड़ावन लागी, हरि आवत उड़ि जांहि नहीं।[4]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४७७
२. —वही—पद ३५६३
३. —वही—पद ३५६४
४. —वही—पद ४०७१

श्रीकृष्ण के कुरुक्षेत्र-आगमन के प्रसंग में सूरदास जी ने एक पद में अनेक शकुनों का संकेत किया है, जो प्रायः अद्यावधि सामान्य विश्वास के रूप में लोक-जीवन में गृहीत है—

बायस गहगहात सुनि सुंदरि, बानी बिमल पूर्व दिसि बोली।
आजु मिलावा होइ स्याम कौ, तू सुनि सखी राधिका भोली।
कुच भुज नैन अधर फरकत हैं, बिनहिं बात अंचल ध्वज डोलौ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सूरदास ने लोकजीवन में संचरित अनेक शकुनों को भी अपने काव्य में समाहित किया है।

अपशकुन

अपशकुन भावी विपत्ति अथवा कष्ट के अभिव्यंजक होते हैं। सामान्य जन-जीवन में अपशकुनों में प्रतीति प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। सूरदास के समय में ब्रज-लोक-जीवन में भी इनका व्यापक महत्व रहा होगा, ऐसा संकेत उनके अनेक पदों में मिलता है। सूरसागर के केवल दशम स्कन्ध से ही यदि इन शकुन-अपशकुनों का संकलन करके विवेचन किया जाय तो एक छोटा-मोटा ग्रन्थ ही तैयार हो सकता है। नीचे यशोदा से सम्बन्धित एक ऐसा पद उद्धृत किया जा रहा है, जिसमें अनेक अपशकुन एक साथ समाहित हैं—

जसुमति चली रसोई भीतर तबहिं ग्वाल इक छींकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीको॥
आइ अजिर निकसीं नँदरानी, बहुरि दोष मिटाइ।
मंजारी आगे ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन जाइ॥
व्याकुल भई निकसि गई बाहिर, कहँ धौं गए कन्हाई।
बाएँ काग, दाहिने खर-स्वर व्याकुल घर फिरि आई॥

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४८९४

खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहि भाँति।
सूरस्याम कौं टेरत जननी नैकु नहीं मन साँति॥[1]

इस पद में छींकना, बिल्ली का आगे पड़ जाना, बाएँ काग और दाहिने खर-स्वर (**गधे की बोली**) सुनाई पड़ना आदि अपशकुन एक साथ होते देख कर भावी संकट की आशंका से यशोदा के प्रति पल बाहर-भीतर चक्कर काटने में व्याकुलता का रूप साकार हो उठा है। इसी प्रकार इसके आगे के पद में भी दाहिनी ओर धाड़ें मार कर रोना, कुत्ते का कान फड़फड़ाना, गररी (पक्षी) की लड़ाई, सिर पर से हो कर कौए का उड़ जाना[2] आदि ऐसे अपशकुनों का उल्लेख किया गया, है जो आज भी लोक-जीवन में अपनी अवस्थिति बनाए हुए हैं।

सूर-सारावली में भी अपशकुनों पर विश्वास किए जाने का संकेत मिलता है। एक उदाहरण लीजिए—

हरि अपसगुन जानि हस्तिनापुर बैठि तुरत रथ धाए।[3]

श्रीकृष्ण के बैकुण्ठवासी होने के पश्चात् अर्जुन द्वारिका गये। उस समय युधिष्ठिर को कुछ अपशकुन दिखाई पड़े, जिनका परिणाम उन्हें कृष्ण जैसे सुहृद् की मृत्यु के समाचार के रूप में प्राप्त हुआ—

रोवैं वृषभ, तुरग अरु नाग। स्यार द्यौस, निसि बोलै काग।
कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ। भयो सोच नृप चित यह जोइ।[4]

अन्धविश्वास

लोक-जीवन में सुदीर्घ काल से नाना प्रकार के अन्धविश्वास संचरित होते आ रहे हैं। उनके पीछे चाहे कोई तथ्य न हो, परन्तु सामान्यतया

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ११५८
२. —वही—पद ११५९
३. सूर-सारावली—पद ६७६
४. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद २८६

लोकजीवन में उनके प्रति प्रतीति का भाव विद्यमान रहता है। जादू-टोना, जन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूंक आदि को इन अन्धविश्वासों की सीमा में गिना जा सकता है।

जादू-टोना तथा जन्त्र-मन्त्र की परंपरा वैदिक काल से ही जन-जीवन में अपना अस्तित्व बनाए हुए है। अनेक संस्कारों के अवसर पर तथा कोई शारीरिक संकट या कष्ट उपस्थित होने पर विभिन्न जादू-टोनों तथा जन्त्र-मन्त्रों का प्रयोग वैदिक काल की ही देन है। "अथर्ववेद को एक प्रकार से जादू-टोना सदृश मन्त्रों का संग्रह समझा जाता है। इसीलिए अथर्ववेद के मन्त्रों का विनियोग अनेक रोगों तथा उत्पातों की शान्ति, शत्रु आदि के प्रतिकार, पौष्टिक कर्म और वशीकरण आदि में किया जाता है। अनेकानेक औषधियों से सम्बन्धित मन्त्र भी अथर्ववेद में संगृहीत हैं"[1] अथर्ववेद के इन तत्वों को आज भी सामान्य जन-जीवन में पनपते हुए देखा जा सकता है। ब्रज-संस्कृति में भी इन तत्वों को महत्व प्राप्त है। शाक्तों और वाममार्गियों ने भक्ति के स्थान पर जन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, टोटका आदि को अधिक महत्व दिया था। उनकी यह भावना सुदीर्घ काल तक लोक-जीवन को प्रभावित करती रही है और आज भी उक्त प्रभाव आंशिक रूप में ही सही, विद्यमान है। ज्वर, रोग तथा सर्प-दंश आदि का उपचार आज भी झाड़-फूंक द्वारा किया जाता है।

सूरदास के समय में भी ब्रज में विभिन्न प्रकार के टोने-टोटके प्रचलित थे। इसका परिज्ञान उनके अनेक पदों से हो जाता है। जादू-टोना, जन्त्र-मन्त्र तथा झाड़-फूंक के प्रति स्त्रियों में अगाध निष्ठा होती है तथा वही इन वाह्याचारों में विशेष रूप से दक्ष तथा पारंगत होती हैं। सूरदास के पदों में भी ऐसी प्रक्रियाओं का संपादन स्त्रियों के ही हाथों से होता दिखाई पड़ता है।

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—पृष्ठ ६६

सोते समय बच्चे प्रायः चौंक उठते हैं। कृष्ण भी एक दिन सोते समय चौंक उठे। यशोदा को बड़ी चिंता हुई। उन्होंने "कछु पढ़ि पढ़ि तन-दोष" का निवारण किया। खेलते समय कृष्ण को किसी ने नजर लगा दी होगी, इस आशंका से उन्होंने 'राई-लौन' उतारा, चन्द्रमा की आरती की; कुल-देवताओं को मनाया और उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया—

झझकि उठ्यौ सोवत हरि अबहीं कछु पढ़ि-पढ़ि तन दोष निवारति।
खेलत में कोऊ दीठि लगाई, लै लै राई लोन उतारति।[1]

कृष्ण जी किलकारी मारकर हँसे तो यशोदा को उनके मुँह में तीनों लोक दिखाई पड़ गए, जिससे वे चकित हो गईं और —"घर घर हाथ दिवावति डोलति, बाँधति गरे बघनियाँ।"[2] सयानों से हाथ दिलाने तथा बच्चों के गले में बघनखा बाँधने का टोटका आज की ही भाँति सूरदास जी के समय में भी ब्रज में प्रचलित था, उक्त पद इस बात का प्रमाण है।

सूरदास जी ने 'सूर-सारावली' में 'ऊखल-बंधन' के प्रसंग में नन्द द्वारा यशोदा से कृष्ण को रस्सी से बाँधने के लिए 'जवाब-तलब' करने तथा यह बताने पर कि गर्ग मुनि ने बलराम और कृष्ण को नारायण का अवतार कहा है, यशोदा द्वारा दौड़कर कृष्ण को गले से लगा लेने तथा 'राई लौन' उतारने का भी उल्लेख किया है—

जसुमति माय धाय उर लीन्हें राई-लौन उतारौ।[3]

जादू-टोना और जन्त्र-मन्त्र के द्वारा किसी को अपने वश में करने अथवा उसे पागल बना देने के लिए वशीकरण मन्त्र तथा 'लाँबी मेलने' के विधि-विधान वैदिक काल से ही प्रचलित हैं। सूर के समय में ब्रज में

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८१८
२. —वही—पद ७०१
३. सूर-सारावली—पद ४५७

इनका प्रचलन था, इसका प्रमाण उद्धव के प्रति कहे गए गोपियों के निम्न-लिखित कथन से मिल जाता है—

लाँबी मेलि दई है तुम कौं, बकत रहौ दिन आखौ।[१]

'लाँबी मेलना' जादू और टोटके के माध्यम से की जाने वाली वह क्रिया है, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को पागल बना दिया जाता है जिससे वह निरन्तर प्रलाप करता रहता है।

ज्वर आ जाने, नजर लगने अथवा सर्प के काटने पर झाड़-फूँक द्वारा उपचार करने की प्रवृत्ति आज भी लोक-जीवन में व्यवहृत होती दिखाई पड़ती है। सर्प-दंश का प्रभाव मन्त्र-बल से उतारने वालों को 'गारुड़ी' कहा जाता है। राधा के प्रसंग में गारुड़ी द्वारा इस प्रकार की झाड़-फूँक किये जाने का वर्णन सूरदास जी ने अनेक पदों में किया है।

कृष्ण से दूध दुहाकर लौटते समय राधा बेहोश होकर गिर पड़ीं। सखियाँ उन्हें घर तक ले आईं और राधा की माँ (कीर्ति महरि) से कहने लगीं कि 'कहुँ इहि कारैं खाई।' उन्होंने यह भी कह दिया कि "स्याम भुजंग डस्यौ हम देखत, ल्यावहु गुनी बुलाई।"[२] राधा का शरीर ठण्डा हो गया था, वे पसीने से तर थीं। क्षण भर में ही राधा की दशा कुछ की कुछ हो गई। नगर भर के 'गुनी गारुड़ी' बुलाए गए। वे 'गुन' कर-करके थक गए, पर उनका मन्त्र काम न कर सका।[३] परिणाम यह हुआ कि सब गारुड़ी पछताते हुए वापस लौट गए, क्योंकि—

"नैकहू नहिं मन्त्र लागत, समुझि काहु न जाइ।"[४]

गारुड़ियों के मन्त्र ठीक स्थान पर नहीं लग पा रहे हैं। ऐसी दशा में

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४१५८
२. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १३६१
३. —वही—पद १३६२
४. —वही—पद १३६३

'बड़ौ गारुड़ि राइ' कृष्ण को तुरन्त बुलाने का प्रस्ताव होता है। 'स्याम भुअंग' भी तो वही थे! साँप के काटने का सर्वोत्तम उपचार यही है कि जिस साँप ने काटा हो, उसे मन्त्र-बल से वापस बुला कर उसी से उसका विष खिचवा लिया जाय। राधा को 'महा विषधर-स्याम अहिबर'[1] ने डसा है। इसलिये 'स्याम' को बुलाने का यह निश्चय हुआ है। राधा की सखियाँ कहती हैं कि यदि किसी प्रकार कृष्ण यहाँ आ जायँ तो वे एक ही मन्त्र से राधा को जिला सकते हैं—

देखौ धौं यह बात हमारी, एकहि मंत्र जिवावै।
नंद महर कौ सुत सूरज जौ, कैसेहुँ ह्याँ लौं आवै।।[2]

साँप का विष 'मैर' (लहर) के रूप में राधा के शरीर में व्याप्त होने लगा, परन्तु "फुरै न मंत्र, जन्त्र गद नाहीं, चले गुनी गुन डारै"। यह 'प्रेम-प्रीति-विष' हृदय में व्याप्त हो गया है और सारे शरीर को जलाए डाल रहा है और "निर्विष होत नहीं कैसैंहूँ, बहुत गुनी पचि हारे।" ऐसी दशा में एकमात्र कृष्ण ही इस संकट को टाल सकते हैं।[3]

राधा के नेत्र शिथिल पड़ गए, 'नासा-पुट' शीतल हो गए, शरीर तपने लगा। वे पसीने से तर-बतर हो गईं, उलट-पलटकर शरीर को तोड़ने लगीं और जमुहाई लेने लगीं। सर्प-दंश का प्रभाव बढ़ता देखकर जिसको जहाँ बताया गया, वहीं उनकी सखियाँ अपरिचित जड़ी-बूटियाँ लेने के लिए दौड़ पड़ीं, परन्तु कोई उपचार सफल नहीं हुआ। अब तो कृष्ण के दर्शन पाकर ही राधा के जीने की संभावना हो सकती है।[4]

राधा की माता यशोदा के पास गईं और उनके पाँव पकड़कर कहने

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १३६३
२. —वही—पद १३६४
३. —वही—पद १३६५
४. —वही—पद १३६६

लगीं कि राधिका को कहीं 'काले' ने डस लिया है। सुना है तुम्हारा पुत्र बड़ा गारुड़ी है। बड़ा धर्म होगा, जरा सा उसको बुला दो।[1] परन्तु यशोदा के 'अतिहिं बारौ' पुत्र यह गारुड़ी विद्या क्या जानें ? वह कहती हैं—

जंत्र मंत्र कह जानै मेरौ ?
यह तुम जाइ गुनिनि कौं बूझौ, इहाँ करति कत झेरौ।[2]

कीरति महरि की बड़ी अनुनय-विनय के पश्चात् यशोदा पसीज उठीं और—

कहूँ राधिका कारैं खाई, जाहु न आवौ झारि।
जंत्र-मंत्र कछु जानत हौ तुम, सूर स्याम बनवारि।।[3]

कहकर अनुमति दे दी।

कृष्ण कीरति महरि के साथ गए। जिस प्रकार राधा ने सर्प द्वारा डसे जाने का अभिनय किया था, उसी प्रकार कृष्ण ने भी 'गारुड़ी' का अभिनय किया। वे झाड़-फूँक करने लगे। राधा का अंग स्पर्श करके कुछ पढ़-पढ़कर उनका विष-प्रभाव उतार दिया—

कछु पढ़ि पढ़ि कर, अंग परसि कर, विष अपनौ लियो झारि।
सूरदास-प्रभु बड़े गारुड़ी, सिर पर गाड़ू डारि।।[4]

परिणाम यह हुआ कि **'लोचन दए कुँवरि उघारि।'** राधा की माता ने प्रसन्न होकर कृष्ण को गले लगाया और उनका मुख चूमकर उनका कीर्ति-स्तवन करते हुए विदा किया; साथ ही स्वगत रूप में यह अनुमान भी किया कि "विधिना जोरी भली बनाई।"[5]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १३६९
२. —वही—पद १३७१
३. —वही—पद १३७३
४. —वही—पद १३७७
५. —वही—पद १३७९

सर्प-दंश और उसके उपचार का यह वर्णन सूरसागर में पद सं० १३५९ से लेकर १३८२ तक में अत्यन्त विस्तारपूर्वक हुआ है। इन वर्णनों में सामान्य लोक-जीवन में सर्प-दंश के समय किए जाने वाले जंत्र-मंत्र, झाड़-फूँक आदि समस्त विधि-विधानों तथा उपचारों का समावेश हुआ है। साथ ही सर्प द्वारा डसे हुए व्यक्ति की वास्तविक स्थिति का जैसा सजीव चित्रांकन सूरदास जी ने किया है, उसके आधार पर उन्हें जन्मान्ध मानने में कुछ झिझक भी होती है। निश्चित रूप से इन सूक्ष्मताओं का परिज्ञान सूरदास जी को ब्रज-लोक-जीवन से ही हुआ होगा।

भूत-प्रेत में विश्वास की प्रवृत्ति सामान्य लोक-जीवन में अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्याप्त रही है। ऐसा माना जाता है कि मृत-व्यक्ति का सम्यक् रीति से दाह-संस्कार न होने पर वह भूत हो जाता है। सूरदास जी ने भी इस लोक-विश्वास को अपने एक पद में अभिव्यक्त किया है, जिसमें मानव-मात्र को इस जीवन की निस्सारता बताकर भगवान् के भजन द्वारा जन्म सार्थक करने की प्रेरणा भी दी गई है—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।

× × ×

घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।[1]

इससे ज्ञात होता है कि आज की ही भाँति सूरदास के समय में भी ब्रज-जीवन में यह भावना व्याप्त रही होगी कि मृत्यु हो जाने के पश्चात् मृत-व्यक्ति को शीघ्र ही घर से बाहर निकाल देना चाहिए, अन्यथा वह भूत बनकर सबको पकड़-पकड़ कर खा जायगा। इस प्रकार सूर-साहित्य में अनेक प्रकार के लोक-विश्वासों की भी सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है।

(ण) अतिथि-सत्कार

अतिथि-सत्कार भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। प्राचीन काल से

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८६

ही 'मातृ देवो भव,' 'पितृ देवो भव,' 'आचार्य देवोभव' के साथ ही 'अतिथि देवो भव' की भावना भारतीय जन-जीवन में व्याप्त रही है। घर आए हुए अतिथि को देवता मानकर उसका स्वागत-सत्कार करना तथा उसे सब प्रकार से संतुष्ट करने की भावना भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है। आज भी सामान्य लोक-जीवन में अतिथि के प्रति परम श्रद्धा, निष्ठा तथा आदर-सत्कार की भावना विद्यमान है। पार्वत्य-क्षेत्रों का लोक-जीवन तो अद्यावधि उसी सांस्कृतिक भावना का पाथेय ग्रहण कर चल रहा है, जिसे शिष्ट संस्कृति से मेल न खाने के कारण सामाजिक दूषण निरूपित किया जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों में अतिथि को सर्व-प्रकारेण संतुष्ट करने की भावना इतनी प्रबल है कि यदि किसी घर से अतिथि असंतुष्ट होकर चला जाय तो समाज उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है।

सूरदास के समय में ब्रज में भी अतिथि की सेवा तथा स्वागत-सत्कार की प्रवृत्ति विद्यमान थी, जिसका चित्रण उन्होंने अपने अनेक पदों में किया है। इस प्रसंग में उन्होंने विभिन्न प्रकार और विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के सत्कार एवं स्वागत का वर्णन किया है।

राम-विवाह के अवसर पर महाराज दशरथ जब राजा जनक के यहाँ पहुँचते हैं तो उनके स्वागत में जनक मोतियों का चौक पुरवाते हैं, ब्राह्मणों द्वारा वेद-ध्वनि उच्चारित होती है तथा युवतियाँ मंगल-गीत गाती हैं--

बैठे जाइ जनक मंदिर महँ, मोतिन चौक पुराए।
बिप्र लगे धुनि बेद उचारन, जुवतिनि मंगल गाए।।[1]

कृष्ण-जन्म का समाचार सुनकर 'महराने' से पाँड़े जी ब्रज के घर-घर पूछते हुए नन्द के यहाँ आए। उनका आतिथ्य-सत्कार सूरदास के ही शब्दों में सुनिए--

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ४६८

पहुँच्यौ आइ नंद कै द्वारें, जसुमति देखि अनन्द बढ़ायौ।
पाँइ धोइ भीतर बैठार्‌यौ, भोजन कौं निज भवन लिपायौ।
धेनु दुहाइ, दूध लै आई, पाँड़े रुचि करि खीर चढ़ायौ।
घृत, मिष्ठान्न, खीर मिश्रित करि, परुसि कृष्न-हित ध्यान लगायौ।।[1]

इसी प्रकार उद्धव के ब्रज में आने के समय का वर्णन करते हुए सूरदास ने और विस्तार से इस अतिथि-सत्कार का वर्णन किया है। अतिथि को सोत्साह आगे बढ़कर अपने द्वार पर लाना, उसे अर्घ्य चढ़ाना, आरती उतारना, मस्तक पर तिलक, दूब, दही आदि लगाना, स्वर्ण-कलश में जल भरकर अतिथि की परिक्रमा करना, पास-पड़ोस के गोप-समाज के लोगों का आकर उसके निकट बैठना, फिर जहाँ से वह आया है, वहाँ (कृष्ण के प्रसंग में मथुरा) के अन्य कुटुम्बियों (कृष्ण प्रसंग में स्वयं कृष्ण, बलराम, वसुदेव, देवकी, अक्रूर, कुब्जा आदि) का कुशल समाचार पूछना आदि लोक-जीवन की सामान्य बातों की ओर भी सूरदास का ध्यान गया है और उन्होंने इन लोक-तत्वों को निम्नलिखित पद में चित्र-सा अंकित कर दिया है—

धाईं सब गलगाजि कै, ऊधौ देखे जाइ।
लै आईं ब्रजराज गृह, आनंद उर न समाइ।।
अर्घ आरती साजि तिलक दधि माथैं कीन्यौ।
कंचन कलस भराइ और परिकरमा दीन्यौ।।
गोप भीर आँगन भई, मिलि बैठी सब जाति।
जलझारी आगैं धरी, पूछत हरि कुसलाति।।
कुसल छेम बसुदेव कुशल देवै बलदाऊ।
कुसल छेम अक्रूर, कुसल नीके कुबिजाऊ।।
पूछि कुसल गोपाल की रहे सबै गहि पाइँ।[2]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८६६

२. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ४७१३

इसी प्रकार एक अन्य पद में ब्रजवासियों ने उद्धव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनका दर्शन करके अपने जन्म को 'सुफल' समझा।[1] सूरदास जी ने एक अन्य पद में कृष्ण को अतिथि निरूपित करके राधा को अतिथि-सेवा के व्रत का माहात्म्य भी विस्तार से समझाया है, जिसमें एक ओर शृंगार अपने रसराजत्व का प्रतिनिधित्व कर रहा है, दूसरी ओर लोक-संस्कृति भी किलकारियाँ भर रही है—

राधिका हरि अतिथि तुम्हारैं।
रति-पति असन-काल गृह आए, उठि आदर करि कहैं हमारैं।
आसन आधी सेज सरकि दै, सुख बैठे पद हरषि पखारैं।
अर्घ्यादिक आनंद अमृत मधु, ललित लोल लोचन जल-धारैं।
'धूप' सुबास सलच्छन बस करि, मन मोहन हँसि दीप उजारैं।
बचन रचन, भ्रुव भंग और अंग, प्रेम मधुर रस परसि निधारैं।
उचित केलि कटु तिक्त त्यागि, पट असन उघाटि, अंकम हर्षि हारैं।
नख-छत छार, कसाय कुच-ग्रहु, चुंबन सर्पि लसर्पि सँवारैं।
अधर-सुधा-उपदंस-सींक सुचि, बिधु पूरन-मुखवास सँचारैं।
सूर सुकृत संतोषि स्याम कौं, बहुत पुन्य यह व्रत प्रतिपारैं।[2]

सूर-सारावली में भी सूरदास जी ने अतिथि-सेवा भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की है। कंस के भेजे हुए सुफलक-सुत (अक्रूर) कृष्ण और बलराम को लेने आये हैं। उनके उस समय के सत्कार का चित्रण इस प्रकार है—

मिले नन्द, बलदेव, रोहिनी और जसोदा रानी।
पूजा करि पधराय सदन मैं, भोजन की बिधि ठानी।[3]

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४०९९
२. —वही—पद ३४४०
३. सूर-सारावली—पद ४९२-९३

कृष्ण जब वरुण से नन्द को छुड़ाने के लिए वरुण लोक गए, उस अवसर पर कृष्ण के स्वागत में वरुण द्वारा पाटंबर पाँवड़े बिछाने तथा महलों में बंदनवार बँधाने और रत्नखचित सिंहासन पर बैठाने का भी उल्लेख सूरदास जी ने किया है—

पाटंबर पाँवड़े डसाये। महलनि बंदनवार बँधाए।
रत्नखचित सिंहासन धार्यौ। ता पर कृष्नहिं लै बैठार्यौ।[1]

'साहित्य-लहरी' में भी विप्र गर्ग के आगमन के अवसर पर नन्द अपने पुण्य को सराहना करते दिखाई पड़ते हैं—

बिप्र जू पावन पुन्न हमारे।
जौ जजमान जानि कै मो कहँ, आपु इहाँ पगु धारे।[2]

इस प्रकार हमने देखा कि सूर-साहित्य में अतिथि-सत्कार सम्बन्धी लोक-भावना को अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में हुई है और इस प्रकार लोक-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण पक्ष को उसमें उभरने का पूरा अवसर मिल गया है।

(त) शिष्टाचार

अतिथि-सत्कार के प्रसंग में जो विवेचन किया गया है, उसमें सूरदास द्वारा वर्णित अनेक शिष्टाचार एवं व्यवहार की बातों का समावेश हो गया है। हाथ जोड़कर प्रणाम करना, एक दूसरे का कुशल-समाचार पूछना, चरण-धूलि मस्तक में लगाना, भली प्रकार आसन देना आदि शिष्टाचार तथा सामान्य व्यवहार विषयक तत्व ही हैं और सूरदास की दृष्टि इस ओर भी गई है, इसका परिचय उक्त विवेचन से मिल जाता है। परन्तु

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १६०२
२. साहित्यलहरी—पद ८१

इसके अतिरिक्त भी अनेक पदों में शिष्टाचार के अन्य रूपों का परिचय भी सूरदास ने दिया है। विशेष अवसरों पर बन्धु-बान्धवों को कस्तूरी, चन्दन तथा कपूर मिलाकर तिलक करना,[१] ब्राह्मणों और गुरु-जनों के पैर पड़ना,[२] छोटों को असीस देना[३] आदि अनेक शिष्टाचारगत बातें भी उनके ध्यान से नहीं छूटी हैं। संभाषण में वाणी में संयम का[४] निर्देश भी सूरदास के पदों में मिल जायगा। साथ ही बड़ों की बराबरी छोटों को नहीं करनी चाहिए,[५] सामान्य शिष्टाचार की यह बात भी हमें वहाँ पर विद्यमान मिलेगी।

सूरदास जी ने व्रज में प्रचलित प्रणाम करने के अनेक प्रकारों का भी उल्लेख अपने पदों में किया है, जैसे जुहार, दण्डवत, नमस्कार, नमस्ते, पैलगी, आलिंगन, मिलन, नत-मस्तक होना आदि। जैसे—

(१) देखि सुरूप सकल कृष्नाकृति, कीनी चरन-'जुहारी'।[६]

(२) जामवन्त सुग्रीव बिभीषन, करी 'दण्डवत' आइ।[७]

(३) 'नमस्कार' मेरी जदुपति सौं, कहियो 'परिकै पाइँ'।[८]

(४) नमो 'नमस्ते' बारंबार।[९]

(५) 'पालागौं' हठ अधिक करौ जनि, अति रिस तैं तन छीजै।[१०]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६४२

२. वही—पद ६४२

३. सूर सारावली—पद ४०४-४१३

४. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ११५५

५. वही—पद ११५४

६. वही—पद ४४१

७. वही—पद ६०५

८. वही—उत्तरार्द्ध—पद ४७७८

९. वही—पद ४९१९

१०. वही—पूर्वार्द्ध—पद ८०८

(६) बलदाऊ ब्रजमंडल आए, ब्रजवासिन कौं 'भेंटे'।[1]
(७) 'मिलन' हमारो कहियो।[2]
(८) बहु आदर करि बैठक दीन्हीं, महर महर मिलि 'सीस नवाए'।[3]

इससे स्पष्ट हुआ कि सूरदास जी ने लोक-जीवन में संचरित होने वाले अनेक शिष्टाचार तथा व्यवहार-विषयक तत्वों को अपने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है और इस प्रकार लोक-संस्कृति उसमें मुखर हो उठी है।

(थ) लोक-साहित्य

लोक-संस्कृति के महत्वपूर्ण अंगों में से लोक-साहित्य भी एक है। अतएव किसी भी साहित्य में लोक-संस्कृति के तत्वों का अनुसंधान करते समय यह नितान्त आवश्यक होता है कि उसमें लोक-साहित्य तथा उसके विविध तत्वों को भी झाँकने का प्रयत्न किया जाय। लोक-साहित्य की यही मुख्य विशेषता है कि उसके विविध अंगों में मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज तथा धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है लोक-संस्कृति का चित्रण। लोक-गीतों और लोक-कथाओं में जन-जीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं।"[4] इसीलिए किसी भी देश के जीवन में लोक-साहित्य का विशिष्ट महत्व होता है। लोक-संस्कृति मौखिक लोक-साहित्य

---

१. सूर सारावली—पद ८२४
२. सूरसागर—पद—पूर्वार्द्ध—१३४५
३. —वही—पद १४३३
४. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—षोडश भाग—प्रस्तावना—पृष्ठ १७३

में अपना रूप सुरक्षित रखती है। लोक-साहित्य वास्तव में धर्म, समाज तथा सदाचार का वाहक है।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोक-कथा, लोक-गाथा, लोक-नृत्य (लोक नाट्य), लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि आते हैं। इनका विशेष महत्व इनके मौखिक रूप के कारण होता है। लोक-साहित्य में लोक-मंगल की उद्दाम धारा प्रवहमान रहती है, जिसमें लोक के सुख-दुःख, इच्छा-आकांक्षाएँ आदि स्पन्दन की भाँति विद्यमान रहती हैं।

महाकवि सूरदास जी ब्रज-लोक-जीवन में घुल-मिल गए थे। वे ब्रज-भूमि, ब्रज-लोक, ब्रज-संस्कृति तथा ब्रज की बोली-बानी के कवि हैं। इसीलिए वे ब्रज की लोक-संस्कृति के परिवेश में लोक-जीवन के अनुपम और सरस चित्र खींच सके हैं। ब्रज की आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण उनके साहित्य में लोक-साहित्य के विविध अंगों का समावेश होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उनका काव्य-सृजन तत्कालीन लोक-जीवन और सामाजिक परिस्थिति को दृष्टि में रखकर ही हुआ है और फलतः उनका साहित्य लोक-साहित्य के तत्वों का सम्यक् समाहार कर सका है। सूर-साहित्य पर लोक-कथाओं का प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में पड़ा है। वास्तविकता तो यह है कि उनका समूचा कृष्णकाव्य श्रीमद्भागवत् से जीवन तथा लोक-कथा से स्पन्दन प्राप्त कर रहा है। सूरदास जी ने जिस भक्ति-आन्दोलन को वेगवान बनाने में कंधा लगाया, उसकी पृष्ठभूमि भी इन्हीं लोकगीतों में समाविष्ट थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि में लोक-साहित्य, विशेषतः लोकगीत का होना ही संकेतित किया था, जब उन्होंने यह कहा कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य-परंपरा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"[1] आगे चलकर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सूत्र को पकड़कर कहा कि "हमें अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ—१६५

की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीति-नीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी।"[१] डॉ० हरवंशलाल शर्मा का कथन है कि "उन (सूरदास) की राधा, कृष्ण और गोपियों की शृंगारिक चेष्टाओं के पीछे भक्ति का वह रूप स्पष्ट झलकता दिखाई देता है जो समाज में प्रचलित लोक-गीतों और परंपराओं में विद्यमान था।"[२]

डॉ० मुंशीराम शर्मा जब यह कहते हैं कि "सूरसागर की कुछ लीलाएँ ऐसी भी हैं जो भागवत में नहीं मिलतीं, जैसे × × × वसन्त, हिण्डोल और फाग आदि। यद्यपि ये लीलाएँ परंपरागत गीतों का प्रभाव सूचित करती हैं, फिर भी सूर ने उनमें अपनी मौलिकता का पूर्ण सन्निवेश कर दिया है,"[३] तब वे भी सूर-साहित्य पर परंपरागत गीतों के रूप में लोकगीतों का प्रभाव ही स्वीकार करते हैं। ऐसी दशा में कृष्ण के जिस व्यक्तित्व ने लोकगीतों तथा लोक-कथाओं के माध्यम से लोक-मानस को आच्छादित कर रखा था, उसी को सूरदास ने अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है।

'कृष्ण कथा का लोक-जीवन से सम्बन्ध' शीर्षक के अन्तर्गत सूरदास को लोक-जीवन में परंपरानुगत रूप से ग्रहीत कृष्ण-कथा के रूप को अपने साहित्य का पृष्ठाधार बनाते देखा जा चुका है। इसके अतिरिक्त भक्ति-भावना के सन्दर्भ में व्याध, गणिका, अजामिल तथा अन्य पौराणिक तथा लौकिक आख्यानों को अपने काव्य में समाविष्ट करते समय वे लोक-कथा तथा लोक-गाथाओं को अपनाते हुए दिखाई पड़ जाते हैं। इसी प्रकार लोक-

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ९४

२. सूर और उनका साहित्य (भूमिका)—डॉ० हरवंशलाल शर्मा—पृष्ठ ८

३. भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ ५४

जीवन में परंपरागत रूप से प्रचलित लोकोक्तियों, मुहावरों आदि के बहुल प्रयोग द्वारा भी उन्होंने अपने काव्य को समृद्ध बनाया है। पहेलियों में मस्तिष्क के जिस व्यायाम की अपेक्षा होती है, वही हमें सूरदास के दृष्टिकूट पदों में भी मिलता है। यह कहा जा सकता है कि लोक-जीवन में प्रचलित पहेलियों की दुरूहता से सूरदास के दृष्टिकूट पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए हैं। अतः यह देखा जाय कि सूरदास के साहित्य में लोक-साहित्य का समाहार किस रूप में हुआ है।

लोक गीत

परंपरानुगत रूप से जन-जीवन में व्यवहृत होने वाले वे मौलिक गीत, जिनके रचयिता लोक-कवियों की छाप नहीं मिलती, लोकगीत की संज्ञा से अभिहित किए जाते हैं। लोक-गीतों में समूह-मानस की अनुभूतियों की यथार्थ, निरलंकृत एवं शुद्ध अभिव्यक्ति होती है। "जिस जनपद में जो गीत प्रचलित हैं, उनमें वहाँ के लोगों की रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान और आचार-व्यवहार का सजीव चित्रण रहता है। लोक-संस्कृति इन गीतों में अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है।"[१] लोकगीतों में जन-जीवन के आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष की झाँकी भी मिलती है। इस प्रकार के लोकगीतों का स्रष्टा व्यष्टि के धरातल से उठकर समष्टि का छोर छू आता है। फलतः वह अपने साहित्य में ही समा जाता है, उसका व्यक्तित्व लोक का व्यक्तित्व हो जाता है और इस प्रकार वह लोक-कवि बन जाता है। कोई जानता नहीं कि उस कवि का नाम क्या था। हमारा लिखित साहित्य ऐसे लोकगीतों के द्वारा ही समृद्ध और संपन्न हुआ है। लिखित साहित्य की परिपाटी आरम्भ होने पर कवियों तथा साहित्यकारों ने इन मौखिक एवं अलिखित गीतों को

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना—पृष्ठ ९३

नूतन वेश में अपने साहित्य में उतारा। इस दृष्टि से यदि हम सूरदास को भी लोक-कवि कहें तो विशेष आपत्तिजनक न होगा। उनके उपलब्ध पदों को छोड़कर जितने अनुपलब्ध पद लोक-कण्ठ-हार बने हुए हैं, उनके आधार पर तो वे निश्चित रूप से लोककवि ही हैं। उपलब्ध पदों में से भी सैकड़ों ऐसे हैं, जो समग्र उत्तरी-भारत की जनता की जिह्वा पर बसे हुए हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जब यह कहते हैं कि "मैंने स्वयं बंगाल के कीर्तनों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाए जाते सुना है"[१] तो हमको वे सूरदास के लोक-कवि रूप से ही परिचित कराते हैं। सूरदास जी ने भी अपनी वैयक्तिक इकाई को लोक में समाहित करके लोक के लिए ही काव्य-सृजन किया है। उनके भजन, सोहर, बधाई तथा अन्य संस्कार-गीत, रास, हिंडोला, फाग, होली, झूमक, रास आदि के पदों ने आज लोक-गीत का रूप ले लिया है और इस आधार पर उन्हें लोक-कवि कहने में संकोच नहीं अनुभव होता।

संस्कार विषयक लोकगीतों को आज धार्मिक विधि का अनिवार्य अंग माना जाता है। सूरदास ने जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, उपनयन, विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर गाए जाने योग्य गीत लिखे हैं, जिनमें लोक-गीति-शैली का ही प्राधान्य है। उनके इन संस्कार-गीतों में लोक-संस्कृति की पवित्रतम धरोहर सुरक्षित है और वे लोक-मानस का उदात्तीकरण करने में भी पूर्ण समर्थ हैं।

सूरदास के संस्कार-विषयक, ऋतुओं के आधार पर तथा पर्वोत्सवों और त्यौहारों के अवसर पर गाए जाने वाले पदों को प्रसंगात् उद्धृत किया जा चुका है। यहाँ केवल सोहर (सोहिलो) और बधाई के एक-एक उदाहरण दिए जा रहे हैं—

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १२६

सोहर

गौरि गनेस्वर बीनऊँ (हो) देवी सारद तोहिं।
गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो) मन आखर दै मोहिं।
हरषि बधावा मन भयो (हो) रानी जायौ पूत।
घर बाहर माँगें सबै (हो) ठाढ़े मागध सूत।[१]

× × ×

बधाई

धनि धनि नंद जसोमति, धनि जग पावन रे।
धनि हरि लियौ अवतार, सु धनि दिन आवन रे।[२]

उक्त उद्धरणों में लोकगीतात्मक शैली का पूरा निर्वाह हुआ है। आज भी जो सोहर जन्मोत्सव के अवसर पर जन-जीवन में गाए जाते हैं, उनमें 'हो' शब्द लयात्मकता का विधान करता रहता है। उत्तरी भारत में प्रायः इसी शैली के सोहर गाए जाते हैं। ब्रज के ही एक सोहर का उदाहरण यह है—

गंगा जमुनवाँ के बिचवाँ तेवइया एक तप करइ हो।
गंगा अपनी लहर हमैं देतिउ, मइँ मझधार डूबित हो।[३]

इसी प्रकार ब्रज की बधाई का भी एक उदाहरण लीजिए—

आई आई नन्द जू की पौरि, बधाई लाई मालिनियाँ।
कहा लाई लल्ला की बधाई, सुघड़-पट मालिनियाँ।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६५८
२. वही—पद ६४६
३. देखिए—ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृष्ठ ११२

हरे हरे गोबर अँगना लियाओ सुघड़-पट मालिनियाँ।
गज-मोतिन की चौक पुराऔ, सुघड़ पट मालिनियाँ।[1]

भजन प्राचीन काल से ही लोकगीत के रूप में जन-जीवन में प्रचलित रहे हैं। सूरदास ने भी अनेक भजन लिखे हैं, जिनमें से बहुत से लोकगीत के रूप में अद्यावधि उत्तरी-भारत में न केवल साधु-संतों द्वारा अथवा मन्दिरों में, अपितु लोक-जीवन में भी गाए जाते हैं। यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि आजकल आकाशवाणी द्वारा भी जब-तब सूरदास के अनेक भजन प्रभाती के रूप में प्रसारित किए जाते हैं। जैसे—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।[2] (इत्यादि)

सूरदास का निम्नलिखित भजन तो लोकगीत का स्वरूप ही ले चुका है—

नहिं अस जनम बारंबार।
पुरबलौं धौं पुन्य प्रगट्यौ, लह्यौ नर-अवतार।
घटै पल-पल, बढ़ैं छिन-छिन, जात लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे तैं, फिरि न लागै डार।
भय-उदधि जमलोक दरसै निपट ही अँधियार।
सूर हरि को भजन करि-करि उतरि पल्ले पार।[3]

इसी प्रकार—अब कैं राखि लेहु भगवान (९७), दयानिधि तेरी गति लखि न परै (१०४), अविगति गति जानी न परै (१०५), कीजै

---

१. देखिए—उत्तर प्रदेश के लोकगीत (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश)—पृष्ठ ६३
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ८६
३. —वही—पद ८८

प्रभु अपने विरद की लाज (१०८), आज हौं एक एक कै टरिहौं (१३४), मो सम कौन कुटिल खल कामी (१४८), अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल (१५३), मेरौ मन अनत कहा सचु पावै (१६८), हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ (२२०), अब मेरी राखौ लाज मुरारी (२२१), चरन कमल वन्दौं हरिराई (१) आदि--सूरदास के अनेक पद[1] अपने लोकगीतात्मक स्वरूप के कारण वल्लभ-संप्रदाय के मंदिरों में ब्रज-प्रदेश में तथा उत्तरी-भारत के अन्य क्षेत्रों में भी लोकगीत के रूप में प्रचलित हैं।

वसन्त ऋतु में गाये जाने वाले लोकगीतों ने फागु-काव्य की परंपरा को जन्म दिया और फागु-काव्यों की शैली में ही हिन्दी साहित्य में भी तदनुरूप अलंकृत शैली का प्रयोग करते हुए फागों का सृजन हुआ। वही काव्यात्मकता, वही लयात्मकता, वही शृंगारिकता और वही स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति जो लोक जीवन में गाए जाने वाले फागों में पाई जाती है, इन काव्यों में भी साकार होकर उतरी है। इन गीतों को होली, होरी या फाग कहते हैं। त्यौहारों के अन्तर्गत सूरदास के होली वर्णन पर पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। अतः यहाँ केवल दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे--

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ हरि होरी है।
अब जिनि मथुरा जाहु अहो हरि होरी है।[2]

वसन्त के समय राधिका कृष्ण को मथुरा जाने से रोकती हैं तथा कुछ दिन और ब्रज में रहने की प्रार्थना करती हैं। ठीक यही भाव आज के लोक-जीवन में गए जाने वाले फागों में भी देखने को मिलती है। एक उदाहरण लीजिए—

---

१. टिप्पणी—पदों के सामने की संख्या सूरसागर (पूर्वार्द्ध) (ना० प्र० स०) (सं० २०१५) के पदों की है।—लेखक

२. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३५३२-३३

मति जाहु कन्त परदेस बसन्त नेराने।
लखौ आम बगरान मधूकनि कूच देखाने।
रूख होत पतझार टेसु बन माँहि फुलाने।[1]

इस फाग में भी नायिका वसन्त समीप आने के कारण अपने 'कन्त' को 'परदेस' जाने से रोकती है और वसन्त-आगमन के कारण प्रकृति की मादकता दिखाकर नायक को अपनी ओर आकर्षित करके घर पर रखना चाहती है। सूरदास जी भी जब "फूले बननि सुमन पलास। ऋतुनायक सुख कौ बिलास।"[2] कहते हैं तो लोकगीत की उक्त भावना को स्पर्श कर लेते हैं। सूरदास की होरी ब्रज में प्रचलित होरी के लोकगीत के अधिक निकट है। जैसे—

होरी खेलत ब्रज खोरिनि मैं, ब्रज बाला बनि बनि बनवारी।
डफ की धुनि सुनि बिकल भईं सब, कोउ न रहति घर घूँघटवारी।
उड़त गुलाल लाल भए बादर, रँगि गए सिगरे अटा-अटारी।[3]

ब्रज में आजकल होरी का जो लोकगीत प्रचलित है, उसका रूप इस प्रकार है—

आजु बिरज में होरी।
उड़त गुलाल लाल भए बादर, केसर रंग में बोरी।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ और मंजीरन जोरी।[4]

उपरिवर्णित पंक्तियों का मिलान करने से स्पष्ट होता है कि सूरदास ने लोकगीत को अपने उक्त पद में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

---

१. जिला इलाहाबाद के गाँवों में प्रचलित फाग की प्रारंभिक पंक्तियाँ।—लेखक।
२. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४७०
३. —वही—पद ३४८९
४. उत्तर प्रदेश के लोकगीत (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश) पृ० ६८।

सावन का महीना अत्यन्त सुहावना और मनभावना होता है। जल की सरसता आकाश-मार्ग से उतरकर लोक-मानस में अन्तर्भूत हो जाती है जिससे जन-जीवन में सर्वत्र उल्लास और सरसता का संचार होने लगता है। ऐसे अवसर पर स्त्रियाँ झूला या हिंडोला झूलती हैं और साथ-साथ झूले (हिंडोले) के गीत भी गाती जाती हैं। सूरदास ने भी झूले के अनेक पद रचे हैं, जिनमें लोक गीत बनने की पूरी क्षमता है। जैसे—

हिंडोरनैं हरि संग झूलन आई।
पँचरंग बरन पाट की डाँड़ी, अतिहीं सौंज बनाई।
झूलति जुवती नंद लालन सँग, एक बसैं इकदाई।
सूरदास प्रभु मोहन नागर, आपुन झूलि झुलाई।[१]

सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित ऐसे अनेक सावन के गीत हैं, जिनमें कदंब की डाल पर झूलना पड़ा हुआ है, राधा झूल रही हैं, कृष्ण झुला रहे हैं और सब सखा ताली बजा रहे हैं। उन गीतों में भी चाँदी की पटुली और रेशम की डोर वाले झूले दिखाई पड़ते हैं और सूरदास के झूले भी प्रायः उन से मेल खाते दिखाई पड़ते हैं। इस कारण वे सहज ही लोकगीत का स्वरूप प्राप्त कर सके हैं और लोक-संस्कृति के प्रतिनिधि बन सके हैं।

झूमर (झूमक) मनोरंजक लोकगीत है, जिसको स्त्रियाँ झूम-झूमकर गाती हैं। इसी कारण इन्हें 'झूमर' या 'झूमक' का अभिधान भी दिया गया है। शरीर और आत्मा दोनों दृष्टियों से संयोग-श्रृंगार की प्रधानता इन गीतों की विशेषता है। विशिष्ट लय होने के कारण झूमर लोकगीत अत्यन्त रोचक और आकर्षक होते हैं। सूरदास जी ने भी 'झूमक' गीत लिखे हैं। उदाहरणार्थ—

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४५५।

गोकुल सकल गुवालिनी, घर घर खेलत फाग, मनोरा झूम करौ।
तिन में राधा लाड़िली, जिनकौ अधिक सुहाग, मनोरा झूम करौ।
झुंडनि मिलि गावति चलीं, झूमक नन्द दुवार, मनोरा झूम करौ।[1]

इसी प्रकार का एक और सरस उदाहरण दिए बिना संतोष न होगा—

ऋतु वसन्त के आगमहिं, मिलि झूमक हो।
सुख सदन मदन कौ जोर, मिलि झूमक हो।
× × ×
तब चीर हरे जल तीर, मिलि झूमक हो।
सो परिहस हम सारिहैं, मिलि झूमक हो।
सुनि लेहु ललन बलवीर, मिलि झूमक हो।
अब हम तुमहिं नँगाइ हैं, मिलि झूमक हो।[2]

सूरदास का चीरहरण प्रसंग तो पूर्णतया लोकगीतों की भावनाओं की ही अभिव्यक्ति करने के कारण इतना अधिक सरस बन पड़ा है। लोक-गीतों में हम राधा को सखियों के साथ जमुना नहाने जाते देखते हैं। वे सब घाट पर चोली और चीर उतार कर रख देती हैं और जल में नग्न होकर प्रवेश करती हैं। कृष्ण अपने सखाओं सहित आकर सभी गोपियों के वस्त्र लेकर कदंब पर चढ़ जाते हैं। गोपियाँ मुहुर्मुहुः अनुनय करती हैं, पर कृष्ण कहते हैं कि नंगी होकर बाहर आओ, तब चोली और चीर मिलेगी। अन्त में गोपियाँ पुरइन के पत्तों से अपने शरीर को छिपाकर सलज्ज कृष्ण के सम्मुख खड़ी होती हैं और इस प्रकार अपने वस्त्र प्राप्त करती हैं। सूरदास जी ने अपने चीरहरण के वर्णन में इसी भावधारा को पल्लवित कर ऐसे गीतों को सहज ही लोकगीत का स्वरूप प्रदान कर दिया है। ऐसा ही एक लोकगीत-सदृश पद है—

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४८५।
२. —वही—पद ३५२१।

हमारे अंबर देहु मुरारी।
लै सब चीर कदम चढ़ि बैठे, हम जल माँझ उघारी।
तट पर बिना बसन क्यों आवैं, लाज लगति है भारी।
चोली हार तुमहिं कौं दीन्हौं, चीर हमहिं द्यौ डारी।
तुम यह बात अचंभो भाषत, नाँगी आवहु नारी।
सूरस्याम कछु छोह करो जू, सीत गई तनु मारी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकगीतों में जो लोक-संस्कृति की समान भाव-धारा प्रवहमान रहती है, वह सूर-साहित्य में भी समानान्तर रूप में ही प्रवाहित है और सूरदास ने ब्रज-लोक-जीवन में प्रचलित विविध प्रकार के लोकगीतों को अपने काव्य में उनके आकर्षक स्वरूप में ही अभिव्यक्त किया है। यत्र-तत्र भाव वही रहने दिए हैं और तन्मयता की स्थिति में अभिनव भावोद्भावना की दिशा में भी जागरूक रहे हैं।

लोक-नाट्य और लोक-नृत्य

श्रीकृष्ण का भजन-कीर्तन करते-करते महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उनकी लीलाओं को नाटकीय स्वरूप प्रदान कर दिया। कीर्तनों में संगीत, नृत्य तथा वाद्य का पुट देकर कृष्ण की लीलाओं को नाटकीय बाना पहनाकर उन्होंने लोक-संस्कृति को अधिक सरस बना दिया। महाप्रभु के अनुयायियों ने भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण के जीवन-चरित्र को अभिनय के माध्यम से जनता के समक्ष अत्यन्त सजीव और आकर्षक रूप में उपस्थित किया। फलतः कृष्ण की बाल-किशोर-लीलाओं का अभिनय विभिन्न मंदिरों, मठों तथा अन्य स्थानों में भी किया जाने लगा। कृष्ण के लोक-रंजक व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धावान् जनता की भीड़ इन अभिनयों को देखने के लिये उमड़ पड़ी। कृष्ण का यह लीला-अभिनय कालान्तर में 'रास-लीला' के नाम से जाना गया और वह लोकधर्मी नाट्य का रूप धारण कर

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४०६।

मथुरा, वृन्दाबन, ब्रजप्रदेश तथा अवधी क्षेत्र में भी प्रचारित-प्रसारित हुआ। उक्त क्षेत्रों में अभिनय के रूप में रास-लीला लोक-जीवन के विविध मांगलिक अवसरों, पर्व तथा उत्सवों पर अब भी अत्यन्त आनन्दोल्लास के वातावरण में आयोजित होती है और जन-समुदाय का प्रचुर मात्रा में मनोरंजन कराती है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनन्य शिष्य सूरदास जी ने अपने काव्य के माध्यम से अपने आचार्य द्वारा प्रवर्तित रास-लीला के तद्युगीन सरस-रूप को जन-जीवन के समक्ष रखा। इस प्रयत्न में महाकवि को ऐसे प्रसंगों में नाटकीयता तथा संवादात्मकता का समावेश करना पड़ा, ताकि वह अभिनेय भी हो सके और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली क्योंकि आज जो रास लोक-नाट्य अभिनीत होते हैं, उनमें उनके अनेक पद लोकगीत के सदृश गाए जाते हैं। अन्य गीतों तथा नृत्य और वाद्य के वैविध्य में भी उनके पदों की पृष्ठभूमि विद्यमान रहती है। लोक-नाट्य के इस आकर्षक स्वरूप की एक झलक इस प्रकार है—

(१) हा हा हो पिय नृत्य करौ।
जैसें करि मैं तुमहिं रिझाई, त्यौं मेरौ मन तुमहुँ हरौ।[1]

× × ×

(२) नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत।
कबहुँक चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुंडल गण्ड मण्डल, चपल नैननि सैन।[2]

इससे स्पष्ट हुआ कि सूरदास के समय में महाप्रभु द्वारा प्रचारित लोक-नृत्य के इस मोहक रूप 'रास' को—जो ब्रज-संस्कृति का अंग बन चुका है, उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है।

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १७६५
२. —वही—पद १७६६

लोरी (बाल-गीत)

जिस प्रकार लोकगीत, लोककथा, लोक-गाथा, लोकोक्तियाँ और मुहावरे लोक-साहित्य में स्थान पाते हैं और लोक-संस्कृति के महत्वपूर्ण अंगों में परिगणित होते हैं, उसी प्रकार 'लोरी' भी लोक-साहित्य तथा लोक-संस्कृति के अन्तर्गत आती है। 'लोरी' वात्सल्य-भावना से समन्वित उन छोटे-छोटे गीतों को कहते हैं, जिन्हें माँ अपने पुत्र को थपकियाँ देकर सुलाते समय गाया करती हैं। लोरी गीत में प्रायः बालक के लिए निद्रा का आह्वान किया जाता है—जैसे 'आ जा निंदिया रानी आ जा', अथवा 'आ जा री निंदिया, मेरे लाल के नैनों में घुल-मिल जा'। जब-तब इन लोरियों द्वारा बालक को सो जाने की प्रेरणा भी दी जाती है—जैसे—"सो जा सो जा मेरे राजदुलारे सो जा।" लोरी के इन मधुर गीतों को सुनकर बालक सुख का अनुभव करता है और शीघ्र ही उसे नींद आ जाती है। यह लोरी प्राचीन काल से ही लोक-संस्कृति के अंगों में अपनी स्थिति बनाए हुए है।

ब्रज में भी इन लोरियों के अनेक प्रकार प्रचलित थे, जिनको सूरदास जी ने अपने कतिपय पदों[1] में अभिव्यक्त किया है। यहाँ हम उनका एक बहु-प्रचलित पद, जिसे ब्रज की लोरियों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उद्धृत करते हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगिहिं आवै, तो कौं कान्ह बुलावै।
× × ×
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।[2]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६६१ से ६६५ तक।
२. —वही—पद ६६१

उपर्युक्त पद में सूरदास जी ने 'लोरी' (पालने का गीत) में अभिव्यक्त होने वाली मातृ-हृदय की समस्त कोमल-भावनाओं एवं क्रियाओं का सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करके इस बात का संकेत दे दिया है कि माता पुत्र को पालने में सुलाते समय जिस प्रकार हिलाती, दुलराती, मेल्हाती तथा मन्द-मन्द जो कुछ भी गाती है और निद्रा को बुलाती है, उन समस्त बारीकियों से वे परिचित थे और अपने उस ज्ञान को उन्होंने अपने उपर्युक्त पद में अभिव्यक्त करके लोक-संस्कृति के एक विशेष अंग को भी अपनी प्रतिभा से मुखर बना दिया है। सूर की यह लोरी लोक-जीवन में व्यवहृत होने वाली लोरी के पर्याप्त निकट पहुँच गई है। वात्सल्य-भावना का कवि-हृदय में यह उद्रेक कितना सजीव बन गया है?

लोकोक्तियाँ

काव्य को आकर्षक और चमत्कारपूर्ण बनाने में लोकोक्तियों का विशेष महत्व होता है। लोकोक्तियाँ परंपरागत रूप से जन-जीवन में व्यवहृत होती रहती हैं। लोक-संस्कृति भी परंपराओं में ही जीवित रहती है। अतः लोकोक्तियाँ भी लोक-संस्कृति के आवश्यक अंग के रूप में समादृत हैं। लोक-भाषा में काव्य-सृजन करने वाले कवि के लिए यह स्वाभाविक सा होता है कि वह अपने काव्य को इन परंपरागत रूप से प्रचलित मधुर लोकोक्तियों से संपन्न बनाए।

सूरदास जी ने अपने समय की ब्रज की बोल-चाल की सामान्य भाषा को काव्य-भाषा का गौरव प्रदान किया था। अतः वे इन लोकोक्तियों की मोहकता से अपने काव्य को वंचित नहीं कर सकते थे। वे अपने समय में ब्रज में प्रचलित विविध लोकोक्तियों से भली भाँति अवगत थे और अपनी तत्सम्बन्धी जानकारी से उन्होंने अपने काव्य को आकर्षक तथा समृद्ध बना दिया है और इस प्रकार उनके काव्य में लोकोक्तियों के माध्यम से लोकसंस्कृति का एक विशिष्ट अंग अभिव्यक्त हो गया है। यों तो सूर-साहित्य में लोकोक्तियों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, परन्तु यहाँ

कतिपय लोकोक्तियों से ही परिचित कराना समीचीन होगा। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचो कैसें दुरति दुराएँ।[1]
(२) सूरदास प्रभु आक चिचोरत, छाँड़ि ऊख को मूढ़।[2]
(३) सूधे होत न स्वान पूँछ ज्यों, पचि पचि बैद मरै।[3]
(४) भई रीति हठि उरग छछूँदर, छाँड़े बनै न खात।[4]
(५) कहौ मधुप कैसें समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े।[5]
(६) सुनियत ताहि सुंदरी कीन्हीं, आपु भए ताकौं राजी।
सूर मिलै मन जाहि जाहि लौं, ताकौ कहा करै काजी।[6]
(७) ज्यों गजराज काज के औरैं, औसर दसन दिखावत।[7]
(८) छोटे मुँह बड़ी बात कहत, अबहीं मरि जैहै।[8]
(९) सूरदास प्रभु आपुहिं जैऐ, जैसी बयारि तैसी दीजै पीठि।[9]
(१०) जैसोइ बोइऐ तैसोइ लुनिऐ, कर्मन भोग अभागे।[10]
(११) दाई आगैं पेट दुरावति वाकी बुद्धि आजु मैं जानी।[11]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १९२३
२. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ४३५१
३. —वही—पद ४३४८
४. —वही—पद ४३५७
५. —वही—पद ४२२२
६. —वही—पद ३७६५
७. —वही—पद ४२६५
८. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १२०७
९. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ३१८९
१०. —वही—पूर्वार्द्ध—पद ६१
११. —वही—पद २३४१

(१२) हम तन हेरि चितै अपनौ पट, देखि पसारहिं लात।[1]
(१३) जैसें चोर चोर सों रातें, ठठा ठठा एकै जानि।[2]
(१४) हम जातहिं वह उघरि परैगी, दूध दूध पानी सो पानी।[3]
(१५) सूरदास प्रभु दुरत दुराए, डुँगरनि ओट सुमेर।[4]

उपरिलिखित उद्धरणों से प्रकट होता है कि सूरदास जी ने लोकजीवन में बहु-प्रचलित क्रमशः उँगली पकड़ कर पहुँचा पकड़ना, ऊख छोड़कर आक चिचोड़ना, कुत्ते की पूँछ सदा टेढ़ी रहना, भइ गति साँप छछूँदरि केरी—उगिलत लीलत प्रीति घनेरी (तुलसी), एक म्यान में दो तलवार, मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी, हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और, छोटे मुँह बड़ी बात, जैसी बहै बयारि पीठि तब तैसी दीजै, जैसा बोना वैसा काटना (बयो सो लुनिय निदान), दाई के आगे पेट छिपाना, तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर, चोर चोर मौसेरे भाई अथवा एक ही थैली के चट्टे-बट्टे, दूध का दूध पानी का पानी, तिनके की ओट पहाड़ आदि लोकोक्तियों को अपने काव्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है। सूर-साहित्य में से ऐसी सहस्रों लोकोक्तियाँ संकलित की जा सकती हैं और वह शोध का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष हो सकता है। उपर्युक्त संकेतों से ही इतना परिचय मिल जाता है कि लोक-जीवन में प्रचलित लोकोक्तियों को उन्होंने प्रायः उनके मौलिक रूप में ही अपने पदों में पिरो दिया है, जिसके कारण उनका ब्रज-लोक-भाषा-काव्य और अधिक स्वाभाविकता से संपन्न हो गया है; साथ ही इन लोकोक्तियों के माध्यम से लोक-संस्कृति के एक महत्वपूर्ण अंग को भी अपना रूप सँवारने का अवसर प्राप्त हो गया है।

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ४५११
२. —वही—पूर्वार्द्ध—पद १८९७
३. —वही—पद २३४१
४. —वही—पद १०७६

मुहावरे

मुहावरों में भी जन-जीवन की झाँकी मिल जाती है। लोक-संस्कृति इन मुहावरों में अपना रूप सुरक्षित रखती है। मुहावरों को भाषा की संजीवनी शक्ति कहा जा सकता है। किसी भी रचना को आकर्षक और चमत्कारपूर्ण बनाने की दृष्टि से मुहावरों का समुचित प्रयोग भी उतना ही आवश्यक होता है, जितना लोकोक्तियों का। मुहावरों से युक्त रचना जन-साधारण के लिए अत्यधिक रोचक तथा मनोरंजक होती है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि रचना जितनी ही जन-भाषा के निकट होती है, वह जनता में उतनी ही अधिक ग्राह्य होती है। इसके लिए रचना की भाषा में मुहावरों का पुट अपेक्षित होता है। सामान्य जन-जीवन में भी मौखिक वार्तालाप में मुहावरेदार शब्दावलियों का व्यवहार बहुत पहले से होता आ रहा है और बोलचाल में स्त्रियाँ विशेष रूप से मुहावरों का प्रयोग किया करती हैं। इसी कारण मुहावरों को भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार ये मुहावरे भी परंपरा से लोक-संस्कृति के अंग बने हुए हैं।

सूरदास जी के समय में ब्रज-लोक-जीवन में सामान्यतया बोलचाल की भाषा में भी मुहावरों का प्रयोग होता था। वे एक उदारमना भक्त थे और जन-संपर्क का अवसर भी उन्हें पर्याप्त मिला करता था। इसीलिए उनके काव्य में अनेकानेक मुहावरे सटीक रूप में समाविष्ट होकर उसे अधिक स्वाभाविक, अधिक जन-ग्राह्य तथा अधिक आकर्षक बना सके।

सूर साहित्य में प्रयुक्त कुछ मुहावरे निम्नांकित हैं—

(१) **मंदिर की परछाया बैठ्यो, कर मींजै पछिताइ।**[1]

(२) **जब तो सौं समुझाइ कही नृप, तब तैं करी न कान।**[2]

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ५१९

२. —वही—पद २६९

(३) ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परौ।[1]
(४) सुवा पढ़ावति, जीभ लड़ावति, ताहि बिमान पठायौ।[2]
(५) दाउँ अब कैं पर्‌यौ पूरौ, कुमति पिछली हारि।[3]
(६) कबहुँक फूलि सभा में बैठ्यो, मूँछनि ताव दिखायौ।[4]
(७) दासी बालक मृतक निहारि। परी धरनि अब खाइ पछारि।[5]
(८) सूरदास ऐसे स्वामी कौं, देहिं पीठि सो अभागे।[6]
(९) इहिं कृति कौ फल तुरत चखैहौं।[7]
(१०) तीनों पन भरि ओर निबाह्यौ, तऊ न आयौ बाज।[8]
(११) कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।[9]
(१२) देखहु जाइ चरित तुम वाके, जैसें गाल बजैहैं।[10]
(१३) अतिहिं आईं गरब कीन्हें गईं घर झख मारि।[11]
(१४) बहियाँ गहत सतराति कौन पर, मग धरि डग कौन पर होति पीरी-कारी।[12]

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ३७
२. —वही—पद १८८
३. —वही—पद ३०९
४. —वही—पद ३०१
५. —वही—पद ४१६
६. —वही—पद ८
७. —वही—पद ४२४
८. —वही—पद ९६
९. —वही—पद १३८
१०. —वही—पद २३४२
११. —वही—पद २३५६
१२. —वही—उत्तरार्द्ध—पद ३२१३

(१५) वै सब ढीठि गरब गोरस कैं, मुख सँभारि बोलत नहिं बात।[१]
(१६) अब न परत मो कूँ कल छिनहू चित में अति अकुलाई।[२]
(१७) गढ़ि गढ़ि छोलत कहा रावरै लूटत हौ ब्रज बाल।[३]
(१८) मन क्रम बचन यहै वर दीजो माँगत गोद पसारी।[४]
(१९) अति आनँद कुलाहल घर घर फूले अंग न समात।[५]
(२०) का सतरात अली बतरावत उतने नाच नचावै।[६]
(२१) निसि दिन पंथ जोहत जाइ।[७]
(२२) मोहन मों मन बसि गौ माई।[८]

सूर-साहित्य से संकलित उपर्युक्त उद्धरणों में हम देखते हैं कि सूरदास जी ने क्रमशः हाथ मींजना, कान न देना, बाँल बाँका न होना, ज़बान लड़ाना, पूरा दाँव पड़ना, मूँछों पर ताव देना, पछाड़ खाकर गिरना, पीठ देना, फल चखाना, बाज न आना, लीक (लकीर) खींचना, गाल बजाना, झख मारना, काली-पीली होना, मुँह सँभाल कर बोलना, कल न पड़ना, गढ़ कर छोलना, गोद पसारना, फूला न समाना, नाच नचाना, राह देखना, मन में बस जाना आदि अनेक लोक-प्रचलित मुहावरों को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है। सूरसागर में तो मुहावरों की अनन्त रत्नराशि बिखरी पड़ी है और उस सागर में गोता लगाकर ऐसे सहस्रों रत्न निकाले जा सकते हैं, परन्तु 'सूर-सारावली' और 'साहित्यलहरी' अपने सूक्ष्म आकार में भी

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ९२६
२. सूर-सारावली—पद ८७४
३. —वही—पद ८८५
४. —वही—पद २२०
५. —वही—पद ६५०
६. साहित्यलहरी—पद ८४
७. —वही—पद २१
८. —वही—पद ४१

मुहावरों की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि सूरदास का ब्रज बोलचाल में मुहावरों की सरसता से संपन्न था और उसी संपन्नता को उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त करके लोक-संस्कृति के एक आकर्षक पक्ष को मुखर किया है।

अन्त में संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सूरदास जी ने अपने काव्य में लोक-साहित्य के विविध अंगों को पर्याप्त परिमाण में अभिव्यक्ति प्रदान की है और इनके माध्यम से उन्होंने लोक-संस्कृति के आकर्षक स्वरूप का परिचय भी कराया है। **सूर-साहित्य लोक-साहित्य का वह रंगमंच है, जिस पर लोकगीत, लोकगाथाएँ, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोक-नृत्य, लोरी, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि अपनी आकर्षक साज-सज्जा में अवतरित होकर विविध पात्रों के रूप में अपनी अपनी भूमिकाएँ अभिनीत करके लोकरंजन कराने में निरन्तर संलग्न हैं।** ब्रज-लोक-जीवन में सामान्यतया व्यवहृत होने वाले इन सहस्रों मुहावरों तथा लोकोक्तियों का सम्यक् ज्ञान भी सूरदास जी को था, इस तथ्य का भी उद्घाटन उपर्युक्त उद्धरणों से निर्विवाद रूप से हो जाता है।

सप्तम अध्याय

सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का तत्कालीन और परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन को वेगवान् बनाने में महाप्रभु वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने कृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति की जो मधुर और सरस धारा बहाई, उसकी पीठिका में लोकानुश्रुतियों पर आधारित और भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण-कथा मूल प्रेरणा-स्रोत के रूप में कार्य कर रही थी। महाप्रभु के आत्मज गो० विट्ठलनाथ जी ने इस सरस भक्ति-धारा को और भी अधिक प्रसार दिया। उन्होंने महाप्रभु के चार शिष्य और अपने चार शिष्यों को मिलाकर आठ भक्त-कवियों के अष्टछाप का निर्माण किया। अष्टछाप के प्रमुख सदस्य सूरदास जी महाप्रभु के परमप्रिय शिष्य थे। सूरदास जी प्रधान कीर्त्तनकार होने के साथ-साथ संगीत के आचार्य भी थे। यों तो अन्य अष्टछापी कवि भी कवित्व तथा संगीत में पारंगत थे, फिर भी सूरदास जी के पश्चात् नन्ददास तथा परमानन्ददास जी का महत्व विशेष रूप से है। परन्तु यह भी सत्य है कि सभी अष्टछापी कवियों ने कृष्ण-लीला-गान के परिवेश में ब्रजभाषा के माध्यम से लोक-जीवन तथा लोक-संस्कृति को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। ब्रज के इन भक्त कवियों ने अपने परमाराध्य कृष्ण को जो विशिष्ट लोक-रंजक व्यक्तित्व प्रदान किया, उसका ब्रज की जनता तथा उसकी संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इन भक्तों ने कृष्ण के बाल-रूप की लीलाओं के गान में ब्रज के बालकों को समाविष्ट कर दिया, जिसके कारण उनकी बाल्य-काल की लीलाएँ ब्रज के बाल-जीवन को आकर्षित करने में समर्थ हुईं। इन भक्त कवियों के युवा कृष्ण

ने होली, रास, हिंडोला आदि की लीलाओं द्वारा जिस स्तर पर लोक-रंजन किया, वह तत्कालीन तथा परवर्ती युग में भी युवक समुदाय के लिए आकर्षण का कारण बना रहा। इस प्रकार न केवल ब्रज में, अपितु समग्र भारत में ब्रज-लोक-संस्कृति को प्रचारित-प्रसारित होने का अवसर इन अष्टछापी कवियों ने प्रदान किया। इन कवियों ने अपने काव्य में राधा और कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं का गान करने के साथ ही ब्रज के विविध संस्कार, खान-पान, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद तथा पर्वोत्सवों के प्रति तन्मयता को भी मुखर बनाया, जिसके फलस्वरूप एक ओर इनके द्वारा लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति-भावना अभिव्यक्त हुई, दूसरी ओर लोक-संस्कृति के अनेक तत्व उद्घाटित होकर परवर्ती कवियों के प्रेरणा-स्रोत भी बन गए।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेमा-भक्ति के अन्तर्गत सेवा को शीर्ष महत्व प्रदान किया था। ये सेवाएँ तीन प्रकार की थीं—तनुजा, वित्तजा और मानसी। इन सेवाओं के भी अनेक भेदोपभेद किए गए थे, जिनमें से नित्य-नैमित्तिक सेवा और वर्षोत्सव सेवाविधि विशेष महत्वपूर्ण तथा आकर्षक थीं। नित्य नैमित्तिक सेवाओं के अन्तर्गत जिस अष्टयाम सेवा-विधि का प्रवर्तन हुआ, उसके अनुसरण में इन अष्टछापी कवियों ने अष्टयाम काव्य का प्रणयन किया, जो तद्युगीन सेवा-विधि के अनुरूप था तथा जो तत्कालीन और परवर्ती युग में भी पुष्टिमार्गीय सेवा-पद्धति का आदर्श बना और आज भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में प्रायः सर्वत्र कृष्ण की नित्य-नैमित्तिक सेवा इन्हीं काव्यों की पीठिका में संपन्न होती है। आज भी श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर देश के बहुत बड़े भाग में जो झाँकियाँ और झूले आयोजित होते हैं, वे इन्हीं भक्तों द्वारा रचे गए कृष्ण काव्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति-से प्रतीत होते हैं।

होली और रास-लीला का जो स्वरूप सूरदास जी के समय में ब्रज में प्रचलित था, उसे भी उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। उनके समकालीन अन्य अष्टछापी कवियों ने भी संप्रदाय के प्रति कर्त्तव्य रूप में इन

सांस्कृतिक तत्वों को जब अपने काव्य में अभिव्यक्त किया तो अष्टछाप के भक्त-शिरोमणि सूरदास जी के भावों की छाया ग्रहण करने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया, जिसके कारण लोक-संस्कृति के जिन तत्वों— संस्कार, पर्वोत्सव, खान-पान, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद, रीति-रिवाज आदि को सूरदास जी ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया था, वे प्रायः पर्याप्त भाव-साम्य ले कर अन्य कवियों के काव्य में समाविष्ट हो कर समग्र देश में प्रचारित हुए, जिससे तद्युगीन ब्रज-संस्कृति के तत्वों के प्रति लोगों का आकर्षण और अधिक बढ़ा।

वल्लभ-संप्रदाय के जितने भी मन्दिर इस समय ब्रज में अथवा अन्यत्र हैं, वहाँ सूरदास जी के 'सगुण लीला-पद' आज भी अत्यन्त तन्मयता के वातावरण में गाए जाते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का तो यहाँ तक कहना है कि "मैंने स्वयं बंगाल के कीर्तनों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाए जाते सुना है।"[१]

सूरदास के साहित्य में लोक-संस्कृति का विहंगावलोकन पिछले पृष्ठों में कराने का प्रयास किया गया है। अन्य समकालीन अष्टछापी कवियों पर भी सूरदास जी के साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और प्रायः सूर-साहित्य के समानान्तर ही उन्होंने अपने काव्य में लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त किया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने (अपने 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' में) तथा अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर जितना प्रकाश डाला है, उसके पश्चात् पुनः कुछ कहना पिष्टपेषण तो होगा ही, साथ ही प्रस्तुत संदर्भ में अप्रासंगिक भी होगा। डॉ० गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' के प्रथम भाग के अंतिम पृष्ठों में 'वल्लभ-संप्रदाय' द्वारा प्रकाशित कीर्तन-संग्रहों में विभिन्न अष्टछापी कवियों के कीर्तन-संग्रहों के विषय भी दिए हैं, जो इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार से सूरदास जी ने कृष्ण-जन्म के अवसर पर उत्सव और बधाई पर पद लिखे, ढाढ़ी-ढाढ़िन के नाचने की प्रथा का

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृ० १२६

वर्णन किया; विवाह का विधि-विधानपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया; रास, होली, दीपावली आदि त्यौहारों का सजीव चित्रांकन किया; रामनवमी, देव-प्रबोधिनी, रथयात्रा, फूलडोल, अन्नकूट, हिंडोरा, वसन्त, डोल आदि ब्रज में प्रचलित अनेक वर्षोत्सवों को अपने काव्य का विषय बनाया तथा दान, पूजा, व्रत, स्नान, तीर्थ, खानपान, खेल-कूद आदि सांस्कृतिक तत्वों का निदर्शन कराया, उसी प्रकार और प्रायः सूरदास जी के समानान्तर चलते हुए उनके समकालीन नन्ददास, परमानन्ददास, गोविन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी आदि ने भी ब्रज-लोक-संस्कृति के विभिन्न तत्वों को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया।[1]

डॉ० मायारानी टंडन ने 'अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन' शीर्षक प्रबन्ध में समग्र अष्टछाप काव्य में संस्कृति की शोध का विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रायः सभी अष्टछापी कवि सांस्कृतिक चित्रण में अपने अग्रणी सूरदास जी के ऋणी हैं और उनसे प्रभावित हैं।

अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त सूरदास जी के समकालीन कवि गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में सूरदास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उनका बाल-वर्णन तो सूर-साहित्य से प्रभूत मात्रा में प्रभावित है। गोस्वामी तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ उन्होंने अपने रामचरित मानस में भारतीय संस्कृति की रक्षा की है, वहीं लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों—जन्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, गौना आदि संस्कार, विभिन्न पर्वोत्सव, व्रत-पूजा आदि का भी लौकिक स्वरूप अपने काव्य में उतारा है।

जिस प्रकार सूरदास जी ने लोकगीतों का अपने काव्य में उपयोग किया है, उसी प्रकार तुलसीदास जी ने भी अपने समय में प्रचलित सभी

---

१. देखिए, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—प्रथम भाग—डॉ० दीन दयालु गुप्त—पृ० ३७२-९०

लिखित तथा मौखिक काव्य-प्रकारों का प्रयोग किया है। उनके बरवै रामायण तथा रामलला नहछू में तो लोक-संस्कृति की ही विशेष रूप से अभिव्यक्ति हुई है। तुलसीदास जी अपने काव्य में प्रयुक्त लोकोक्तियों के लिए भी सूरदास जी से प्रभाव ग्रहण करते जान पड़ते हैं। 'साँप छछूँदर की गति होना' लोकोक्ति को सूरदास जी ने 'भई रीति हठि उरग छछूँदर छाँड़ैं बनै न खात' के रूप में अभिव्यक्त किया और उसी बात को तुलसीदास जी ने 'भइ गति साँप छछूँदर केरी, उगिलत लीलत प्रीति घनेरी' के रूप में कहा है। रामचरित मानस में तुलसी ने अनुसूया द्वारा पत्नी-धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत कराई है, वे ही सारे भाव सूरदास जी अपने पद (संख्या १७९८) में व्यक्त कर चुके थे।

राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोस्वामी हित हरिवंश जी ने भी यत्र-तत्र लोक-संस्कृति को उभारने का प्रयत्न किया है। राधा की प्रधानता इनके संप्रदाय की प्रमुख विशेषता रही है। अतः राधा के शृंगार-वर्णनों में वे सूरदास जी के अधिक निकट जान पड़ते हैं। यत्र-तत्र लोक-संस्कृति के तत्वों के वर्णन में भी भाव-साम्य मिल जाता है।

रसखानि गोस्वामी विट्ठलनाथ के मुसलमान शिष्य थे। ब्रज के प्रति इनमें प्रगाढ़ अनुराग था और इनकी अंतिम कामना यही थी कि नव-जन्म मिलने पर मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा पत्थर होने की दशा में भी इनका संबंध ब्रज से ही बना रहे। सूरदास जी ने जिस मानव-प्रेम का बीज-वपन किया, वह रसखानि जी के काव्य में अंकुरित और विकसित होकर लोकमानस को प्रभावित कर सका। 'प्रेम-बाटिका' में रसखानि ने जिस प्रेम-तत्व का प्रतिपादन किया है, उस भाव के अनेक पद उनसे पूर्व सूरदास जी लिख चुके थे। मुरली, रास आदि के वर्णनों में सूरदास जी का प्रभाव रसखानि पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनकी 'प्रेम-बाटिका' में ब्रज-लोक-जीवन में प्रचलित अनेक लोकोक्तियों और मुहावरों की भरमार है। फाग, रास, वसन्तोत्सव आदि लोक-संस्कृति के विषयों पर काव्य-सृजन कर के जीवन के प्रति अनुराग जगा कर रसखानि जी ने सूरदास जी की परंपरा को आगे

बढ़ाया। हिन्दू-संस्कृति को समुन्नत बनाने में रसखानि जैसे भक्त मुसलमानों का योगदान अश्रुतपूर्व है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे देशभक्त और राष्ट्रीय कवि ने 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए' कह कर इनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है।

केशवदास जी गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। उन्होंने अपनी रामचन्द्रिका में यत्र-तत्र लोक-संस्कृति के तत्वों को स्पर्श किया है, जिनमें सूरदास जी के भाव भी कहीं कहीं दिखाई पड़ जाते हैं। यहाँ हम लोक-संस्कृति के संदर्भ में केवल राम-विवाह के प्रसंग में वर्णित 'गारी' का ही उल्लेख कर के उसमें सूरदास के प्रभाव की खोज करेंगे—

अब गारि तुम कहँ देंहि हम कहि कहा दूलह राम जू।
कछु बाप प्रिय परदार सुनियत करी कहत कुबाम जू।
को गनै कितने पुरुष कीन्हें कहत सब संसार जू।
सुनि कुँवर चित दै वरणि ताकों कहिय सब व्यवहार जू।[1]

केशवदास की उक्त पंक्तियाँ पढ़ते ही सूरदास जी की 'गारी' स्मरण हो आती है, जहाँ स्त्रियाँ कृष्ण से कहती हैं—

तो सौं गारि कहा कहि दीजै। बप जुग नावँ कौन को लीजै।

× × ×

तेरी माइ सकल जग खोयो। सो को जो इहि मिलि न बिगोयो।[2]

रीतिकाल का दो सौ वर्षों का काव्य भक्ति-काल के कृष्ण-काव्य और कृष्ण कथा पर आधारित है, परन्तु भक्ति-काल में कृष्ण-भक्त कवियों ने जिस उच्च आध्यात्मिक धरातल पर राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग पक्ष का उद्घाटन किया था, वह अलौकिकता इस काल में आकर लौकिक बन गई। "प्रेम के क्षेत्र में प्रेम का ही पतन हुआ और उसमें सांसारिक और

---

१. रामचन्द्रिका—छठाँ प्रकाश—पद ३०

२. सूर-सागर—उत्तरार्द्ध—पद सं० ४८०५

पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई। फल यह हुआ कि कृष्ण सूरदास के 'प्रभु बाल-संघाती' न रह कर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार बार निमंत्रित किए जाने वाले 'लला फिरि आइयो खेलन होरी' वाले श्रीकृष्ण हो गए।"[1] इसका कारण यह था कि भक्तिकालीन कवि भक्त पहले थे और कवि बाद में। वे भक्ति-भावना से ओतप्रोत हो कर काव्य-सृजन करते थे और इसके लिए किसी राज्याश्रय की अपेक्षा नहीं करते थे। 'संतन कहा सीकरी सों काम' और 'जिनकों मुख देखे दुख उपजत, तिनकों करिबे परी सलाम' की मनोवृत्ति वाले निर्लिप्त भक्तों का मानसिक स्तर बहुत ऊँचा था।

"भक्ति-काल की भावतीव्रता में कमी आते ही रीति-शास्त्र अपने लौकिक श्रृंगार से सज्जित हो हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से आ गया।"[2] रीतिकालीन कवि अधिकांशतः राज्याश्रित थे, अतः उस युग की कविता को कामिनी बनाकर राज-दरबारों में उसे नंगी करके नचाया जाने लगा। 'गुलगुली गिलमैं, गलीचा, गुनीजन' के बीच में काव्यगत चमत्कार दिखाकर इस काल के कवि अपना जीवन-यापन करते थे। इनका आदर्श बहुत ऊँचा नहीं था। इन्हें आगे के सुकवियों को रिझाने की तथा अपने आश्रयदाता का मनोरंजन कराने की चिन्ता अधिक रहती थी। इसके लिए इन्होंने भक्ति-काव्य के दो पावन-चरित्रों के श्रृंगारिक पक्षों को अपने काव्य का आधार बनाकर सांस्कृतिक अधोगति की उद्भावना की। "आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है" इनकी उद्घोषित नीति थी, इसीलिए ये 'चमक तमक हाँसी सिसक मसक झपट लपटानि' की ओर अधिक जागरूक दृष्टि रखते थे। इस काल के कवि रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों प्रकार के थे। इनमें भी रीतिबद्ध कवि सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से बहुत पीछे रहे, जब कि

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ८८७

२. —वही—पृष्ठ—८८८

रीति-मुक्त कवियों ने जन-जीवन के उल्लास को भी अपने काव्य का उपादान बनाया।

रीतिबद्ध कवियों ने होली और फाग के वर्णनों में जन-जीवन के आनन्दोल्लास पक्ष को स्पर्श करने का प्रयत्न किया, पर उसे उनकी काव्यात्मक विवशता कहा जा सकता है क्योंकि कृष्ण-काव्य के शृंगारिक पक्ष को ही उन्होंने विशेष रूप से ग्रहण किया था और पूर्ववर्ती कृष्ण-भक्त-कवियों ने—विशेष रूप से सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों ने रास, होली, फाग और वसन्त का जो शृंगारिक वर्णन प्रस्तुत किया था, उसी का भौतिकतापूर्ण अनुकरण इन कवियों ने अपने काव्य में किया था। इस कारण "प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर (इन) कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी, जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए।"[१] फिर भी "सूर के समकालीन और परवर्ती कवियों ने सूर के ही अनुसरण पर काव्य-कला का पोषण किया।"[२]

स्थानाभाववश यहाँ रीतिकाल के कतिपय महत्वपूर्ण कवियों तक ही प्रस्तुत विवेचन को सीमित रखने का प्रयत्न किया जायगा और उनके काव्य में सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति के प्रभाव की खोज की जायगी।

महाकवि देव का काव्य ब्रजभाषा की माधुरी का स्वस्थ रूप लेकर हिन्दी साहित्य में अवतरित हुआ। इनके काव्य में शृंगार-वृत्ति का प्राधान्य होते हुए भी यत्र-तत्र लोक-संस्कृति के कतिपय तत्वों की अभिव्यक्ति हुई है। लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से तो देव ने लोक-संस्कृति को

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २३७
२. सूर की काव्य कला—डॉ० मनमोहन गौतम—पृष्ठ ३६३

उभारा ही है, श्रीकृष्ण-विषयक अन्य सांस्कृतिक तत्वों को भी इन्होंने स्पर्श करने का प्रयास किया है। जैसे—

सूनौ कै परम पद, ऊनौ कै अनन्त मद,
नूनौं के नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसनि की,
ईसन की सिद्धि ब्रज बीथी बिथुरै परी॥
भादौं की अँधेरी अधिराति मथुरा कै पथ,
पाय कै संयोग देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्मरासि,
जसुदा कै कोरै एक बारही कुरै परी॥

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि देव लोक-संस्कृति के वर्णनों में सूर-साहित्य से कुछ अंशों में प्रभावित हैं। सूरदास के जन्म-वर्णन प्रसंग[1] को पढ़ कर उक्त पंक्तियों को पढ़ने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

घनानन्द जी निबार्क संप्रदाय के आचार्य श्रीवृंदावनदेव से दीक्षित हो कर वृंदावन में रहने लगे थे और राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान अत्यन्त तन्मय होकर करते थे। 'प्रेम की पीर' की पुकार मचाते हुए भी इन्होंने कृष्ण-कथा के माध्यम से अपने काव्य में लोक-संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण तत्वों को अभिव्यक्त किया है। लोक-संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से घनानन्द को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है क्योंकि इन्होंने अपने काव्य में लोक-संस्कृति के तत्वों को जिस परिमाण में मुखर किया है, उस परिमाण में इस काल के और किसी भी कवि ने नहीं किया।

'ब्रज-विलास' के ६९ दोहों में ब्रज का उन्मुक्त आनन्दोल्लास साकार हुआ है तथा ब्रज के सांस्कृतिक महत्व का उद्घाटन कवि ने सूरदास की

---

१. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद सं० ६२२ से ६६६ तक।

भावनाओं के निकट रह कर किया है। 'सरस-वसन्त' में वसन्तोत्सव का उल्लास, होली (फाग) आदि का विस्तृत एवं सरस वर्णन सूरदास के भावों की पीठिका में हुआ है। 'ब्रज-प्रसाद' के अन्तर्गत ब्रजमण्डल, ब्रज की प्रकृति, वन तथा ब्रजवासियों के प्रति अनन्य आस्था-भावना भी सूर के समानान्तर ही प्रकट हुई है। 'सुख सोहिले मनाऊँ सदा, या ब्रज यह आनन्द संपदा' कह कर कवि ने ब्रजमण्डल तथा उसकी लोक-संस्कृति के प्रति भी अनुराग प्रकट किया है।

'सुजान-हित' के होली, फाग और चाँचर के वर्णनों में सूरदास के पदों की छाया यत्र-तत्र दिखाई दे जाती है। 'यमुना-यश' में यमुना के आध्यात्मिक महत्व का सविस्तार प्रतिपादन भी सूर की भावनाओं से मेल खाता है। साथ ही 'यमुना' में राधा-कृष्ण का गोप-गोपियों सहित जल-विहार-वर्णन भी सूर के तद्विषयक पदों की याद दिला देता है। 'प्रीति-पावस' में सावन के आकर्षक स्वरूप का तथा राधा-कृष्ण के झूला झूलने, नाना लीला-विलास, ब्रज-माहात्म्य आदि का प्रतिपादन सूरदास की भावनाओं को छूता हुआ जान पड़ता है। 'प्रेम-पत्रिका' में वेश-भूषा, होली (फाग) आदि का भी वर्णन सूर की ही भावभूमि पर हुआ है।

'प्रेम-सरोवर' में राधा के झूला झूलते हुए आनन्दमग्न स्वरूप की सजीव झाँकी प्रस्तुत की गई है। 'अनुभव-चन्द्रिका' में घनानन्द ने ब्रज-वनों का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए उनमें निवास तथा विलास करने वाले राधा-कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना अभिव्यंजित की है, जो सूर के भावों का समाहार करती दिखाई पड़ती है।

लोक-संस्कृति की दृष्टि से घनानन्द का 'रंग-बधाई' काव्य विशेष महत्वपूर्ण है, जिसमें कृष्ण-जन्मोत्सव, रंग-बधाई, दधिकाँदो उत्सव, फाग, नृत्य, गान, वाद्य, सूत और मागधों का विरुद पाठ तथा नवजात शिशु कृष्ण को आशीर्वचन दिए गए हैं और बलैया ली गई है। 'गिरि-पूजन' में गोवर्द्धन-पूजा ४४ चौपाइयों में वर्णित है, जिनमें सूर-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'ब्रज-व्यवहार' काव्य की २३७ चौपाई तथा दोहों

में ब्रज-लोक-जीवन तथा लोक-संस्कृति को अभिव्यक्ति मिली है। 'गिरि-गाथा' तो दोहा-चौपाई शैली में सूरसागर के ही भावों की पुनरावृत्ति-सी प्रतीत होती है।

लोक-संस्कृति की सम्यक् अभिव्यक्ति की दृष्टि से घनानन्द की 'पदावली' सर्वाधिक महत्व की है, जिसमें सूरदास की ही भाँति पद-शैली में विविध राग-रागिनियों का निर्देश देते हुए जन्म, बधाई, सोहर, वर्षगाँठ, विवाह, वेशभूषा, शृंगार-प्रसाधन, रीति-रिवाज, रास, वसंतोत्सव, होली, फाग, तीज, गोवर्द्धन-पूजा, हिंडोरा, झूला, साँझी-पूजन आदि का सरस वर्णन हुआ है। पदावली में सूरदास की ही भाँति होली और फाग के वर्णनों में घनानन्द की वृत्ति भी सर्वाधिक रमी है। इनके होली विषयक पदों पर तो स्पष्ट ही सूर-साहित्य का व्यापक प्रभाव है। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सूरसागर के तद्विषयक पदों[1] को सम्मुख रख कर ही घनानन्द ने ब्रज की होली का ऐसा सरस और सजीव वर्णन किया हो। निम्नलिखित उद्धरण इस कथन की पुष्टि करता है—

नन्द महर के अचगरे कान्ह होरी करि पाई।
ऐसो लंगर ढीठ बधुनि सों करत फिरत हैं बरियाई।
आवौ सखी घेरि गहि लीजै, कीजै अपनी मन भाई।
गुलचि बनाय, नचाय चुहुटियन, छाँड़ि देहिं करि अधिकाई।
आनन्दघन यह मतौ ठानि दृढ़ करौ न तनिक सिथिलताई।[2]

सूरसागर के अनेक पदों में व्यक्त भावनाओं को घनानन्द जी ने ग्रहण किया है, उक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त 'पदावली' के अन्तर्गत 'वर्षगाँठ' के वर्णन की केवल दो पंक्तियाँ उद्धृत कर के सूरदास के इस प्रभाव को खोजा जाय—

---

१. देखिए, सूरसागर—उत्त०—पद सं० ३५११, ३५१६ तथा ३५२५
२. देखिए, घनआनन्द ग्रन्थावली (संपादक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृष्ठ ५७३, पद १००६

आजु कान्ह कुँवर की बरसि-गाँठि है आवो री
मंगल गावौ सब नर नारि।[1]

और सूरदास के वर्षगाँठ के वर्णन से तुलना कीजिये—

अरी मेरे लालन की आजु बरष-गाँठि सबै,
सखिनि कौं बुलाइ मंगल-गान करावौ।[2]

'पदावली' में लोक-जीवन में गाए जाने वाले कजली, फाग, रास आदि संबंधी लोकगीतों की शैली में भी घनानन्द जी ने पद-रचना करके लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त किया है। समष्टितः घनानन्द जी का काव्य लोक-संस्कृति के विविध तत्वों की सम्यक् अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है और उस पर सूर-साहित्य का प्रभाव प्रभूत मात्रा में परिलक्षित होता है। भाव-साम्य की दृष्टि से घनानंद यत्र-तत्र सूर के पार्श्व में बैठे जान पड़ते हैं।

महाकवि पद्माकर के काव्य में भी कृष्ण की विविध मधुर लीलाओं का सम्यक् उद्घाटन हुआ है। अपनी रसिक प्रवृत्ति के कारण वे जब होली खेलने का वर्णन करने बैठे तो सूरदास के पद कदाचित् उनके सामने रहे होंगे, तभी तो उन्होंने लिखा—

फागु की भीर अभीरनि तैं गहि गोबिन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की झोरी।।
छीनि पितम्बर कम्मर तैं सु बिदा दई मींजि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कह्यौ मुसुकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी।।

सूरसागर के विस्तृत होली वर्णन[3] में अनेक स्थलों पर[4] होली खेलते समय गोपियों द्वारा कृष्ण के अचानक पकड़े जाने पर उनकी क्या 'गत' बनाई

---

१. घनआनन्द ग्रन्थावली—पृष्ठ ४०५, पद सं० ३२०
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद सं० ७१३।
३. वही—उत्तरार्द्ध—३४६१ से ३५३४
४. वही—पद ३४७८, ८२, ९४, ९५ आदि।

गई है, यह सूरदास के अध्येता के लिए अविगत नहीं है। वहाँ भी फगुहारों की भीड़ में से 'गोविन्द' को गोपियाँ पकड़ ले जाती हैं, फिर उनके साथ मनमानी करती हैं।[१] कोई उनके गाल चूम लेती हैं, कोई उन्हें ताना मारती है, कोई उन्हें काजल लगा देती है, कोई उनकी मुरली ले कर बजाने लगती है, कोई उनकी कमर से पीताम्बर छीन लेती है और उनके कानों के पास मुँह ले जा कर कृष्ण की चीरहरण लीला का पाप प्रकट होना बताती हैं, ताकि कृष्ण उन्हें (या उनके द्वारा की गई इस दुर्गति को) भूल न जायँ।[२] अनेक स्थलों पर सूर की गोपियाँ भी कृष्ण को नंगा करने का निश्चय प्रकट करती हैं क्योंकि 'चीरहरण' का प्रसंग उन्हें भूल नहीं गया है और उसका बदला लेने का अवसर अब मिला है—

तब तुम अंबर हरे हमारैं, कीन्हें कौन उपाइ।
अब तो दाउँ पर्यो धरि पाएँ, छाँड़िहिं तुमहिं नँगाइ।[३]

इससे स्पष्ट हुआ कि पद्माकर जी का फाग वर्णन सूर-काव्य से प्रभावित है। परन्तु उन्होंने फाग के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक तत्वों को भी शृंगार की छाया में छूने का प्रयास किया है, जिससे इस बात का संकेत तो मिल ही जाता है कि लोक-संस्कृति के तत्वों की ओर भी इनकी दृष्टि सजग थी। श्रावणी, तीज तथा फूलडोल के उत्सव वाले पद्माकर के कवित्त इस कथन के प्रमाण हैं। इनका फूल-डोल वर्णन सूर-साहित्य से प्रभावित है—

फूलन के खंभा पाट पटरी सुफूलन की,
फूलन के फंद में फँदे हैं लाल डोरे मैं।

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३५११
२. —वही—पद ३५१६
३. —वही—पद ३५२५

फूल रही फूलन सी फूलकुमारी तहाँ,
फूलइ के फरस फबे हैं कुंज कोरे मैं।
कहँ पद्माकर बितानन ते फूलन के,
फूलन के झालर्‌यो झिलती झकोरे मैं।
फूल झरी, फूल भरी, फूल जरी फूलनि मैं,
फूलइ सी फूलती सु फूल के हिंडोरे मैं।[1]

पद्माकर जी का उक्त कवित्त पढ़ने के पश्चात् सूरदास जी के फूलमण्डली[2] और फूलडोल[3] वाले पदों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सूरदास से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है।

पद्माकर के पश्चात् ठाकुर का नामोल्लेख लोक-संस्कृति के सन्दर्भ में आवश्यक है जिन्होंने अपने काव्य में बुंदेलखण्ड के जन-जीवन के आनन्दोल्लास को साकार करने का प्रयास किया है। उन्होंने बुंदेलखण्ड के उल्लास पूर्ण जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण प्रसंगों को कलात्मक ढंग से स्पर्श करके आकर्षक बना दिया है। ऐसे प्रसंगों में से अखती (अक्षय तृतीया), गनगौर, वटसावित्री, होली (फाग) आदि उल्लेखनीय हैं, जिनमें लोक-संस्कृति अपनी पूरी साज-सज्जा में अभिव्यक्त हुई है। गनगौर का वर्णन पद्माकर जी ने भी किया है, परन्तु उसका सजीव चित्र तो ठाकुर ही अंकित कर सके हैं। "ठाकुर प्रधानतः प्रेम निरूपक होने पर भी लोक-व्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेम-भाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, वसन्त, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास में मग्न दिखाई पड़ते हैं, कभी

---

१. 'कविता कौमुदी' (प्रथम भाग)—श्री रामनरेश त्रिपाठी—से उद्धृत।

२. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३०७४

३. —वही—पद ३५३५ से ३५३९ तक।

लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता, दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाए जाते हैं।"[१]

ठाकुर कवि का होली वर्णन सूरदास जी के काव्य से भाव तथा कल्पना दोनों दृष्टियों से पर्याप्त साम्य रखता है, यह बात निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट होती है—

फागुन के औसर अनोखे बन बानिक ह्वै,
लीन्हें ग्वाल बाल स्याम फाग आइ जोरी है।
पाइ सुधि डगरी नवेली राधिका के संग,
रंग लै उमंग अंग अंग बैस थोरी है।
ठाकुर कहत प्यारी स्याम तन हेरि हेरि,
मुरि मुस्क्यात ठाढ़ी कुँवरि किशोरी है।[२]
दौरी लै गुलाल ब्रज बाल चार्‌यौ ओरन तैं,
होरी लाल होरी लाल होरी लाल होरी है।

ठाकुर का उपर्युक्त होली वर्णन अपनी सजीवता तथा चित्रोपमता के लिए सूरदास के होली-वर्णन का ऋणी है। उपर्युक्त उद्धरण के साथ विशेष रूप से सूरसागर के पद सं० ३४९० को यदि पढ़ा जाय तो सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का ठाकुर के काव्य पर प्रभाव स्पष्ट देखने को मिल जाता है। वहाँ भी आपको श्याम पूरे दल-बल के साथ होली खेलने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ३८३-८४।

२. दुरि रही इक खोरि ललिता उत तैं आवत स्याम।
धरे भरि अँकवारि औचक, धाईं आईं बाम।
बहुत ढीठी दै रहे हौ, जानिबी अब आज।
राधिका दुरि हँसति ठाढ़ी, निरखि पिय मुख लाज।

सूरसागर, पद ३४९४

आते दिखाई पड़ेंगे और दूसरी ओर 'उतहिं सुनत वृषभानुसुता लई, तरुनि बोलि सब दिन थोरी की'[1] आती दिखाई पड़ेंगी। इसके अतिरिक्त ठाकुर के काव्य में लोकोक्तियों की जिस आकर्षक छटा के दर्शन होते हैं, उस पर मुग्ध होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है, वैसा और किसी कवि ने नहीं।"[2]

ब्रजवासीदास ने सं० १८२७ में तुलसीदास की काव्य-पद्धति और सूरदास की भाव-भूमि तथा वर्ण्य विषय लेकर दोहा-चौपाई शैली में 'ब्रज बिलास' नामक 'कृष्णकाव्य' की रचना की, परन्तु उसमें सूर के पदों को दोहा-चौपाई में रूपान्तर करके वे केवल अपनी कवि-प्रतिभा ही प्रदर्शित कर सके हैं, मौलिकता नहीं। इस प्रकार समग्र ब्रज-विलास ही सूर-साहित्य से सर्वांश में प्रभावित हैं। ब्रज-बिलास का कवि स्वयं भी इस प्रभाव को स्वीकार करता है।[3] इस प्रकार जिन प्रसंगों में सूर-साहित्य में लोक-संस्कृति अभिव्यक्त हुई है, उनकी तदनुरूप अभिव्यक्ति रूपान्तरकार को भी स्वभावतः करनी पड़ी है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रजविलास संपूर्ण सूरसागर का रूपान्तर न होकर कृष्ण-कथा से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का ही रूपान्तर है।

इनके अतिरिक्त भी रीतिकाल के बिहारी, रसनिधि, सूदन, लाल, तोषनिधि, मंडन, ग्वाल, दूलह आदि कवियों ने कृष्णकाव्य का प्रणयन

---

१. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४९०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्रशुक्ल—पृष्ठ ३८३

३. यामैं कछुक बुद्धि नहिं मेरी। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी।
पद रचना करि सूर बखान्यौ। कोमल बिमल मधुर रस सान्यौ।
ताते निज मन की रुचि जानी। यहि बिधि करौ प्रबन्ध सुबानी।
द्वादश चौपाई प्रति दोहा। तहँ पुनि एक सोरठा सोहा।
कहूँ कहूँ शुभ छन्द सुहाई। भाषा सरल न अर्थ दुराई।
—देखिए, 'ब्रज-बिलास' (ब्रजवासीदास)—पृष्ठ ८-९।

किया है, जिसमें यत्र-तत्र सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का प्रभाव झलकता दिखाई पड़ता है। इन कवियों के अतिरिक्त अनेक लोक कवि भी अपने काव्य में लोक-संस्कृति के तत्वों का समाहार करने में सजग रहे हैं। ऐसे कवियों में सनेहीराम, घासराम, सुखीराम, ईसुरी आदि का नाम लिया जा सकता है। "ब्रज के सुविख्यात लोक-कवि सनेहीराम की रचनाओं पर...." सूर-साहित्यगत लोक-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनके लोकगीतों का सम्बन्ध भी कृष्णकाव्य से ही है। कृष्ण की माखनचोरी लीला, माटी खाने की लीला, रास लीला आदि पर तन्मयता-पूर्वक लिखे हुए उनके लोकगीत आज भी ब्रज प्रदेश के प्रत्येक गाँव में ढोलक, मजीरा तथा खटतारों पर गाए जाते हैं। इसी प्रकार बुंदेलखंड के ईसुरी की फागों को भी लोकगीत का स्वरूप प्राप्त हो चुका है। उनकी फागों में भी लोक-संस्कृति अपनी सजीवता और सरसता में अभिव्यक्त हुई है। बुंदेलखण्ड का जन-मानस उनकी फागों से आज भी आंदोलित होता दिखाई पड़ता है।

रीति काल की कविता की पृष्ठभूमि में मुख्यत: कृष्णकाव्य होने पर भी उसका मुख्य वर्ण्य नारी और प्रेम ही था। विलासिता के वातावरण में नारी और प्रेम से अच्छा आलम्बन और मिल ही क्या सकता था? अत: राधा-कृष्ण के 'सुमिरन' के आवरण में नारी प्रेम से संबंधित संयोग-वियोग, नख-शिख, नायिका-भेद, अभिसार, मान, केलि-क्रीड़ा-विलास, रीति आदि तक ही उस काल के कवियों की दृष्टि केन्द्रित रही। इस काल के अधिकांश कवि राज्याश्रित और दरबारी थे और अपने काव्य द्वारा अपने आश्रय-दाताओं का मनोरंजन कराना ही उनका मूल उद्देश्य था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश अंग्रेजी शासन की परतन्त्रता से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करने लगा।

इस प्रकार राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव होने पर लोक-रुचि आत्यंतिक शृंगार और विलासिता के प्रति अनुदार हो उठी। परवर्ती युग ने

इस लोक-रुचि को पहचाना और फलतः आधुनिक काल के साहित्य में समाज और लोक-जीवन[1] के उदात्त-अनुदात्त समग्र पक्षों का अंकन होने लगा। भारतेन्दु युग ने हिन्दी साहित्य में कविता के समानान्तर ही गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि अनेक साहित्य-विधाओं को विकासोन्मुख बनाया। इस प्रकार आधुनिक साहित्य में समाज, जातीयता, संस्कृति, देश-प्रेम और सामान्य लोक-जीवन अनेक धाराओं वाली सरिता की भाँति प्रवाहित होने लगा। दूसरी ओर कृष्ण-काव्य की सरस धारा भी सूखने नहीं पाई। भारतेन्दु ने उसे ऐसी संजीवनी प्रदान की कि उनके अतिरिक्त रत्नाकर, कविरत्न, हरिऔध, वियोगी हरि आदि कवियों ने कृष्ण-काव्य का प्रणयन किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य-प्रासाद के महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं। हिन्दी गद्य के जन्मदाता के रूप में तो उनका महत्व है ही, ब्रजभाषा में कृष्णकाव्य के सृजन की दृष्टि से भी वे आधुनिक काल के शीर्ष महत्व के कवि हैं। वे वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे और महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गो० विट्ठलनाथ के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भी कृष्ण के विविध लीला-प्रसंगों पर सूर की ही भाँति पुष्टिमार्गीय भक्ति के सिद्धान्तों पर पद-रचना की है। साथ ही यह भी सत्य है कि कृष्ण की मधुर लीलाओं की अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा की मधुरिमा अनिवार्य-सी है, अतः ब्रजभाषा को भी उन्होंने अपने काव्य में प्रचुर मात्रा में समृद्ध और संपन्न बनाया है। लोक-संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से भी भारतेन्दु जी विशेष महत्वपूर्ण कवि हैं। यहाँ यह देखने का प्रयत्न किया जायगा कि उनके काव्य पर सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का प्रभाव किस रूप में पड़ा है।

'प्रेम-मालिका' काव्य में भारतेन्दु ने श्रीकृष्ण के जल-विहार, घुटुरुवन दौड़ना, वेशभूषा, शृंगार आदि प्रसंगों पर सूरदास की पदशैली का ही

नहीं, अपितु भावों का भी अनुकरण किया है। 'कार्तिक स्नान' के २५ पदों में लोक-संस्कृति के कतिपय विशिष्ट तत्वों की अभिव्यक्ति हुई है। दीपावली त्यौहार के विस्तृत वर्णन में ब्रज-बालाओं द्वारा हाथ जोड़कर जमुना से श्रीकृष्ण को पति रूप में पाने की कामना प्रकट कराई गई है।[1] एक अन्य पद में 'प्रीतम गर मिलि कै करु त्यौहार दिवारी" की प्रेरणा भी दी गई है।[2] सूरदास के दीपमालिका वर्णन वाले पद[3] के प्रत्येक भावों को भारतेन्दु ने १७ पदों में संगुंफित कर दिया है। निम्नलिखित पद में ही यह प्रभाव देखा जा सकता है—

आजु गिरिराज के उच्चतर शिखर पर,
परम शोभित भई दिव्य दीपावली।[4]

"वैशाख माहात्म्य" में भी हरिश्चन्द्र जी ने वैशाख में होने वाले विविध व्रत एवं उत्सवों का दोहा-शैली में चित्रात्मक वर्णन किया है तथा तीर्थ-व्रत, स्नान एवं दान के अनेक विधि-विधानों का भी उद्घाटन किया है। 'प्रेमाश्रुवर्षण' में भारतेन्दु जी ने राधा-कृष्ण की विविध शृंगारी लीलाओं का वर्णन किया है, जिनमें हिण्डोरा वर्णन विशेष रूप से सूर-साहित्य से प्रभावित है। फूलडोल उत्सव का वर्णन तो सूर के तत्सम्बन्धी पदों[5] की छाया में ही हुआ है—

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली—संपादक ब्रजरत्नदास—दूसरा भाग, पृष्ठ ८१
२. वही—पद १०—पृष्ठ ८१
३. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४२७।
४. भारतेन्दु ग्रंथावली—ब्रजरत्नदास—दूसरा भाग—पृ० ८२, पद १२-१३
५. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३५३५ से ३५३९ तक।

आजु ब्रज बधू फूलीं, फूलनि के साज सजि,
प्यारी कौं झुलावत फूल के हिंडोरैं।[१]

'प्रेम-प्रलाप' में दीपावली वर्णन का एक पद है, "जो सूरदास के 'आजु दीपति दिव्य दीपमालिका"[२] पद की पीठिका पर ही खड़ा दिखाई देता है। 'होली' नामक ग्रन्थ के ७९ पदों में ब्रज की होरी का सविस्तार वर्णन हुआ है, जो सूर-साहित्य के होली वर्णन से प्रचुर मात्रा में प्रभावित है। अनेक स्थलों पर तो भारतेन्दु जी ने ब्रजवासीदास की ही भाँति सूरदास के न केवल भाव, अपितु कल्पना और भाषा भी ग्रहण कर ली है, जैसे—

आए कहाँ सों आज प्रात रस भीने हो।
अति जँभात अलसात लाल रस भीने हो।
कित खेले तुम रैन फाग रस भीने हो।
कौन को दियो सोहाग लाल रस भीने हो।[३]

अब उपर्युक्त पंक्तियों को सूर की निम्न पंक्तियों से मिलाइए—

खेलत हैं अति रसमसे, रंग भीने हो।
अति रस केलि बिलास, लाल रंग भीने हो।
जागत सब निसि गात भई, रंग भीने हो।
भले जु आए प्रात, लाल रंग भीने हो।[४]

'मधु-मुकुल' के ८१ पदों[५] में भी सूरसागर के होली वर्णन का रूपान्तर मात्र हुआ है, यद्यपि यत्र-तत्र आधुनिकता की भावनाओं का भी समावेश

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा भाग)—पृ० १२१, पद २५
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १४२७
३. भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा भाग)—पृ० ३७५, पद ३२
४. सूरसागर—उत्तरार्द्ध—पद ३४८१—पृष्ठ १२१२-१३
५. भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा भाग)—पृ० ३९३ से ४३२

हुआ है। 'राग-संग्रह' में वर्णित कृष्ण की विविध लीलाओं पर भी सूर-साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है। जल-विहार, गोवर्द्धन-पूजा, नृसिंह चतुर्दशी, बधाई, ग्रीष्म ऋतु, फूल के श्रृंगार कौ पद, मकर-संक्रान्ति, प्रबोधिनी, ठाकुर जी की बधाई, दानलीला, अशीष, व्याहुला, रथयात्रा, श्री रामनौमी व दशहरा का कीर्तन, दान, एकादशी और बावन द्वादशी, रास, भोजन के पद, विजयादशमी, फूलसिगार, साँझी कौ पद आदि शीर्षकों के अन्तर्गत भारतेन्दु ने लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों को काव्याभिव्यक्ति प्रदान की है, जिसमें सूरदास से प्रभावित तथा मौलिक भावों का भी उत्कृष्ट समन्वय हुआ है। 'वर्षा-विनोद' नामक काव्य का मुख्य आकर्षण 'कजली' है। इसी ग्रन्थ में 'ढाढ़ी' शीर्षक के अन्तर्गत कृष्ण के जन्मोत्सव का भी वर्णन हुआ है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "भारतेन्दु ने सूर के काव्य की भाँति वेणुगीत, होली, चन्द्रावली की उक्तियों में खण्डिता नायिका के चित्र, प्रेम-प्रसंग आदि अनेक विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। सूर ने नेत्रों पर बड़ी सुन्दर वक्रोक्तियाँ लिखी हैं। भारतेन्दु ने भी उनके अनुकरण पर नेत्रों पर उसी प्रकार की वक्रता लिए कई पदों की रचना की है।"[१]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य में लोक-संस्कृति पूरी सजधज के साथ साकार होकर उभरी है और उस पर सूर-साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है।

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर अद्भुत प्रतिभा-संपन्न कवि थे। राज-दरबार से संबद्ध होने पर भी इनकी प्रवृत्ति धार्मिक थी। हिंडोरा, कलकाशी, गंगावतरण आदि में इन्होंने धार्मिक आस्था के माध्यम से लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त किया है। उनका हिंडोला वर्णन यत्र-तत्र सूर की भावनाओं का स्पर्श करता जान पड़ता है। 'उद्धव शतक' उपालम्भ-काव्य के रूप में तो

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा—पृष्ठ ३८८

अनिवार्य रूप से सूरदास से प्रभावित है, पर लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति को उसमें स्थान ही नहीं था।

सत्यनारायण 'कविरत्न' जी भी ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवियों में से थे, जिन्होंने कृष्णकाव्य का सृजन किया है। कविरत्न जी की पद-रचना पर तो स्पष्टतः सूरदास की छाप अंकित है। इनका भ्रमर गीत सूर और नन्ददास के भ्रमरगीत से प्रभावित है, यद्यपि उसमें आधुनिकता का तत्व अपनी मौलिक विशेषता भी रखता है। फिर भी उनके काव्य में ब्रजमण्डल, उसकी प्रकृति, उसके भक्त तथा सामान्य निवासियों के महत्व का प्रतिपादन हुआ है, साथ ही 'पहिले को सो अब न तिहारो वह वृन्दावन' कहकर काल के प्रभाव से ब्रजमण्डल की दशा में हुए परिवर्तनों पर खेद भी व्यंजित किया गया हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों के रूप में भी इनके काव्य में लोक-संस्कृति उभरी है।

महाकवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' नामक काव्य खड़ी बोली में लिखा, जिसका वर्ण्य श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवास के पश्चात् की कथा और विप्रलम्भ शृंगार तक ही सीमित है, फिर भी ब्रजमण्डल और ब्रज-प्रकृति का वर्णन करतेहुए हरिऔध जी सूरदास के भावों के निकट पहुँच गए हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि लोक-संस्कृति के तत्वों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति उक्त ग्रन्थ में नहीं हो सकी है, क्योंकि कवि राधा को अभिनव व्यक्तित्व प्रदान करने के प्रयास में ही व्यस्त रह गया है। प्रियप्रवास के अष्टम सर्ग में लोक-संस्कृति अपनी हलकी सी छँवि दिखा जाती है। सूरसागर के 'ब्रज प्रवेश शोभा' प्रसंग में वर्णित वेशभूषा और शृंगार ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली के परिवेश से टूटकर प्रियप्रवास के प्रथम सर्ग में संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली के अंचल में अवतीर्ण हुआ है। गोचारण से लौटते हुए कृष्ण की वेशभूषा और छवि का वर्णन दोनों में प्रायः समानान्तर भावों पर हुआ है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का केवल 'द्वापर' काव्य प्रस्तुत प्रसंग में विवेचन के लिए लिया जा सकता है, जो कृष्ण-कथा पर आधारित होने के कारण सूरदास जी की भावनाओं का यत्र-तत्र स्पर्श करता है, परन्तु

लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसमें उल्लेखनीय सामग्री का अभाव है।

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने तुलसी के रामायण के आधार पर कृष्णकथा को लेकर 'कृष्णायन' का सृजन किया है, जो सूर-साहित्य से प्रचुर मात्रा में प्रभावित है और उसमें कृष्ण लीला से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों में लोक-संस्कृति के तत्व सूर-साहित्य की ही छाया में उभरे हैं। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में "ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय जीवन और उसकी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परम्परा को विशुद्ध भारतीय स्वरूप में उपस्थित करने के लिए 'कृष्णायन' का निर्माण किया गया है। महाभारत के विषय में उक्ति प्रसिद्ध है कि जो कुछ महाभारत में नहीं है, वह भारतवर्ष में नहीं है अर्थात् महाभारत में भारतीय जीवन का, उसकी संपूर्ण रीति-नीति, लोक-व्यवहार, शास्त्रीय मर्यादा और दार्शनिकता के सहित उल्लेख किया गया है, जिसके कारण उसे भारतीय जीवन और संस्कृति का आकर-ग्रन्थ भी कहते हैं। कृष्णायन का कवि महाभारत की उस संपूर्ण जीवन-परंपरा को अपने काव्य में प्रत्यक्ष करना चाहता है।"[१]

'कृष्णायन' पर सूर-साहित्य का प्रभाव केवल इसी बात से प्रमाणित हो जाता है कि श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि—

सूरदास पद ज्योति सहारे। बरने बाल-चरित मैं सारे।[२]

वास्तव में 'बाल-चरित के वर्णन में कवि ने भारतीय पारिवारिक जीवन के सुख-सौन्दर्य और परिपूर्णता को प्रदर्शित किया है। इसके लिए सूरसागर से बढ़कर मनोरम वस्तु-विन्यास और भाव-सामग्री कहाँ से मिल सकती थी? अतएव मिश्रजी ने इसका भरपूर उपयोग किया है।'[३] श्रीकृष्ण जन्म-

---

१. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—पृष्ठ १०६-१०७
२. कृष्णायन—श्री द्वारका प्रसाद मिश्र (अवतरण कांड), पृ० ३
३. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृष्ठ १०७

वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने 'श्रुति-विधि जातकर्म आचारा' का सम्यक् निरूपण किया है, जिसमें सूर-साहित्य की भाव-सामग्री का भी पर्याप्त उपयोग हुआ है। जन्मोत्सव वर्णन का एक उदाहरण लीजिए—

माखन हरदी दूब दधि, घृत जल साथ मिलाय।
छिरकहिं एकहिं एक सब, गोप ग्वाल हरषाय।[1]

लोक-संस्कृति के इस पक्ष को सूरदास जी ने इसी रूप में अनेक पदों में व्यक्त किया है, यथा—

अच्छत दूब लिए रिषि ठाढ़े, बारनि बँदनवार बँधाई।
छिरकत हरद दही, हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई।[2]

'कृष्णायन' का गोवर्द्धन-पूजा वर्णन भी सूर-साहित्य से प्रभावित हुआ है। यह वर्णन सूरदास की भावनाओं के समानान्तर ही चलता दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—

लाए भोजन भरि भरि थारा। बाढ़े व्यंजन मनहुँ पहारा।
परसत सब, परसति नन्दरानी। परसत महर साँझ नियरानी।[3]

सूरदास जी ने भी "परसत भोजन प्रातहिं तैं सब। रवि माथे तैं ढरकि गयौ अब"[4] कहकर गोवर्द्धन-पूजा के लिए एकत्र भोजन-सामग्रियों के बाहुल्य का संकेत किया है। इसी प्रसंग में 'कृष्णायन' की यशोदा भी नन्द को इन्द्र की पूजा करने का स्मरण दिलाते हुए उन्हें कोसती हैं और सूरदास की यशोदा भी। परन्तु दोनों यशोदा एक ही शब्दावलियों का व्यवहार करती

---

१. कृष्णायन—श्री द्वारका प्रसाद मिश्र—अवतरण कांड—पृष्ठ३०
२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद ६३७
३. कृष्णायन—अवतरण कांड—श्री द्वारका प्रसाद मिश्र—पृ० ८४
४. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १५२६

हैं। 'कृष्णायन' की यशोदा के शब्द इस प्रकार हैं—

अवसर लखि बोली नंदरानी। सुरपति पूजा तुमहिं भुलानी।[1]

सूरदास की यशोदा के शब्द भी प्रायः यही हैं—

नंदहिं कहति जसोदा रानी। सुरपति पूजा तुमहिं भुलानी।[2]

इसी प्रकार 'कृष्णायन' के मथुरा काण्ड में कृष्ण के विद्यारम्भ तथा समावर्तन संस्कार का, द्वारका काण्ड में विवाह का, पूजाकाण्ड में यज्ञ, व्रत, पूजा, अतिथि-सत्कार का वर्णन हुआ है। 'आरोहण काण्ड' में भी लोक-संस्कृति के कतिपय तत्वों को अभिव्यक्ति मिल गई है और इन समस्त वर्णनों में श्री मिश्र जी सूरदास के भावों का अनुकरण करते देखे जाते हैं। संक्षेप में—सूरसागर की सुरम्य वाटिका से लोक-संस्कृति के सुगंधित पुष्पों का चयन करके श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में इस कौशल से संग्रथित कर दिया है कि वह अत्यधिक सुरभित हो उठा है। जिस प्रकार श्री ब्रजवासीदास ने सूरदास के पदों का रूपान्तर दोहा-चौपाई में किया है, उसी प्रकार मिश्र जी ने भी। अन्तर इतना ही है कि कृष्णायनकार ने कृष्ण के विविध सूत्रों से ज्ञात चरित्रों को संगठित और संयोजित करके महाकाव्य का सृजन किया है, जब कि 'ब्रजविलास' के रचयिता का ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक काल के अनेक कवि लोक-संस्कृति के महत्व-पूर्ण तत्वों—विशेष रूप से पर्व, त्यौहार और उत्सवों पर सामयिक 'फरमाइश' के रूप में काव्य-सृजन कर रहे हैं, परन्तु उनमें वह तन्मयता और उल्लास देखने को नहीं मिलता, जो सूरदास जी से लेकर भारतेन्दु तक के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है। आज भी होली, दीपावली, रक्षाबंधन, दशहरा आदि पर्वोत्सवों पर कविताएँ लिखी जा रही हैं, जो सम-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं

---

१. कृष्णायन—अवतरण कांड—श्री द्वारका प्रसाद मिश्र—पृ० ८०

२. सूरसागर—पूर्वार्द्ध—पद १५०२

में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं, पर वे कविताएँ उन पर्वों के दिन से महीने-पन्द्रह दिन पूर्व लिखी जाने के कारण लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के वास्तविक उल्लासपूर्ण स्वरूप को स्पर्श नहीं कर पातीं; वहाँ कृत्रिमतापूर्ण प्रलाप का ही प्राधान्य दिखाई पड़ता है। उनमें सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का प्रभाव खोजना रेगिस्तान में जलाशय की खोज करने के ही समान है। ऐसी कविताएँ सूर-साहित्य की छाया भी छू पाने में समर्थ नहीं हैं।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर-साहित्य में जिस स्वरूप में लोक-संस्कृति की रसवन्ती धारा प्रवाहित हुई थी, उसने भारतेन्दु युग तक के साहित्य को अभिसिक्त करके अब विश्राम-सा ले लिया है, यद्यपि लोक-जीवन को वह अब भी सरस बना रही है और अनन्त काल तक बनाती रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

संस्कृति किसी जाति, समाज अथवा देश के मानव-समुदाय में प्राण-तत्व की भाँति परिव्याप्त मानवतावादी उच्चादर्शों की वह समष्टि है, जो उस समुदाय द्वारा परंपरागत रूप से काव्य, कला, संगीत, धर्म, दर्शन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, जन्म से मृत्यु-पर्यन्त के संस्कार, पूजा, पर्वोत्सव, लोकगीत, खान-पान, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद आदि अनेक भावनात्मक गुणों के माध्यम से जीवन में अभिव्यक्त होती रहती है। संस्कृति का सम्बन्ध मानव-जाति से होता है। यह मानव संस्कृति किसी न किसी रूप में समय विश्व में संचरणशील रहती है। संस्कृति और सभ्यता दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और समानान्तर दिशा में संतुलित रूप में विकसित होकर दोनों ही मानव-कल्याण की सरस भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य मानव-जीवन तथा मानव समाज की सर्वांगिण व्याख्या का एक सशक्त माध्यम है। साथ ही वह संस्कृति का वाहन भी है। इसी कारण उसमें संस्कृति की अभिव्यक्ति भी हुआ करती हैं। मानव-जीवन, समाज तथा संस्कृति से पराङ्मुख होकर कोई भी साहित्य चिरकाल तक अपनी स्थिति बनाये रखने में समर्थ नहीं हो सकता। कवि या साहित्यकार अपने युग का जागरूक द्रष्टा और प्रतिनिधि होता है। इस कारण अपने साहित्य में वह अपने चतुर्दिक बिखरे हुए जीवन, समाज तथा संस्कृति के विविध परिप्रेक्ष्यों को समाहित करके युग-निर्माता और क्रान्तदर्शी होने का गौरव प्राप्त कर लेता है। हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले कवि और साहित्यकारों ने इसी दायित्व का निर्वाह करते हुए अपने साहित्य में समाज तथा संस्कृति को रूप दिया है और इस प्रकार भारतीय संस्कृति तथा उसके दो मुख्य उप-विभाग नगर-संस्कृति

(शिष्ट-संस्कृति) तथा लोक-संस्कृति के विविध तत्वों का समाहार हिन्दी साहित्य में हुआ है। राम के अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदास तो अपने काव्यों—मुख्य रूप से रामचरित-मानस—के माध्यम से भारतीय संस्कृति के सजग प्रहरी के रूप में खड़े दिखाई पड़ते हैं। महाकवि सूरदास भी यद्यपि कृष्ण-भक्ति-भावना में तन्मय रहने वाले भक्त थे, तथापि वे मानव-समाज तथा उसकी संस्कृति की ओर से उदासीन नहीं थे।

भक्ति लोक-कल्याण का सशक्त माध्यम है। भक्ति की इस महत्ता को स्वीकार करके स्वभावतः लोक-कल्याण की दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी सूरदास को मिली थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण की जिस माधुर्यमयी प्रेम-लक्षणा भक्ति को लोक-कल्याण का सोपान घोषित किया, उसकी सरस मन्दाकिनी को सूरदास ने अपने काव्य में प्रवाहित कर दिया। रीति-काल में संस्कृति के उदात्त स्वरूप के प्रति परिस्थिति-विशेष के कारण उदासीनता की प्रवृत्ति व्याप्त रही, परन्तु हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे देश-भक्त कवि ने संस्कृति को तथा लोक-संस्कृति को भी अपने साहित्य में उतारकर उसे और आकर्षक बना दिया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने तुलसी की परंपरा को अग्रसर करते हुए अपने 'भारत-भारती', 'साकेत' तथा अन्य काव्यों में संस्कृति को नवोन्मेष प्रदान किया। 'प्रसाद' अपनी 'कामायनी' तथा अन्य ग्रन्थों में भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति आकर्षण जगाने के प्रयत्न में सफल हुए। श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी इसी सांस्कृतिक अभ्युत्थान को गतिवान बनाया तथा दिनकर जी ने भी अपने अनेक ग्रन्थों में संस्कृति के इसी आकर्षक स्वरूप को उभारा। इतनी शताब्दियों का अन्तराल पार करते हुए भी सूरदास जी की सांस्कृतिक प्रेरणा आधुनिक काव्य-ग्रन्थों में भी प्रतिफलित हुई है, जिनमें 'कृष्णायन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लोक-संस्कृति की उत्स-भूमि जनता है। वह बौद्धिक विकास की दृष्टि से निम्न धरातल पर स्थित जन-साधारण की संस्कृति है, जिसे 'लोक' से

प्रेरणा मिलती है। लोक-संस्कृति परंपरा में ही जीवित रहती है। अतः परंपरागत रूप से सामान्य लोक-जीवन में संचरित होने वाले जन्म से मृत्यु तक के विविध संस्कार, अनुष्ठान तथा अनुक्रम, पर्व-उत्सव, त्यौहार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद, खान-पान, संगीत, लोक-साहित्य और अनेक प्रकार के सामान्य-जन-विश्वासों में लोक-संस्कृति अपना रूप सँवारती है।

कृष्ण के लोक-रंजक व्यक्तित्व के विकास और लीला-भूमि होने के कारण ब्रज की लोक-संस्कृति अत्यन्त सरस और आकर्षक रही है। कृष्ण के अनन्य भक्तों ने अपने आराध्य से सम्बन्धित होने के कारण इसी क्षेत्र को अपनी भक्ति-साधना के लिए उपयुक्त चुना। सूरदास के समय में ही ब्रज-मण्डल में राधा-कृष्ण की सगुण भक्ति के अनेक संप्रदाय उठ खड़े हुए, जिन्होंने माधुर्य-रस की ऐसी गंगा बहाई, जिसमें आकण्ठ स्नात होकर ब्रजलोक-जीवन आनन्दातिरेक से झूमने लगा। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि कृष्ण-लीला से सम्बन्धित स्थानों को इन भक्तों ने तीर्थता प्रदान कर दी। म्लेच्छाक्रान्त देश के सांस्कृतिक अधःपतन, ब्रत के प्रति निष्ठा का अभाव तथा तीर्थों का महत्व निरन्तर क्षीण होते देखकर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने 'कृष्णएव गतिर्मम' का संकल्प लेकर कृष्ण भक्ति के लिए साधन रूप में जिन अनेक सोपानों का प्रवर्त्तन किया, उनमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना का ही प्राधान्य था। तद्‌युगीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ उनकी साधना के लिए प्रेरणा-स्रोत-सी बन गई। उन्होंने स्वयं भी अनेक काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा अपने अनन्य शिष्यों, विशेष रूप से सूरदास जी को कृष्ण के लोकरंजक व्यक्तित्व से भली भाँति अवगत कराकर लोक-जीवन के शुष्क तथा निराशापूर्ण वातावरण में सरसता का संचार कराने वाले काव्य-सृजन की प्रेरणा दी।

सूरदास जी ने लोक-जीवन में व्याप्त अश्रेयस्कर प्रवृत्तियों की निन्दा करके जनता को श्रेय-मार्ग की ओर प्रवृत्त किया। कृष्ण के सरस और

मधुरिमा-मण्डित व्यक्तित्व के प्रति अनुरक्ति जाग्रत करने की दृष्टि से उन्होंने लोक-जीवन में परंपरागत रूप से संचरित होने वाले कृष्ण सम्बन्धी विविध कथानकों में सुन्दर और आकर्षक रंग भरकर उन्हें कीर्तनों के माध्यम से जनता के सम्मुख उपस्थित किया। इतना सरस और आकर्षक व्यक्तित्व देखकर लोक-जीवन में आनन्द की बाढ़ आ गई और जन-जीवन पर अभीष्ट प्रतिक्रिया हुई। इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन-जीवन में सांस्कृतिक अनुराग उद्बुद्ध करने का महदुद्देश्य पूर्ण हुआ। महाप्रभु के उद्देश्यों की सफलता का एक मुख्य कारण यह भी था कि उन्होंने साधन रूप में कृष्ण की सेवाओं के लिए अष्टयाम सेवा और वर्षोत्सव सेवा-विधि का प्रवर्त्तन किया, जिनमें लोक-संस्कृति के अनेक सरस तत्वों का भी समाहार किया गया था, उदाहरणार्थ कृष्ण से सम्बन्धित जन्मोत्सव तथा अन्य अनेक संस्कार, उनके अन्तर्गत लोक-जीवन में ग्रहीत अनेक प्रकार के अनुष्ठान एवं विधि-विधान, पर्वोत्सव, त्यौहार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान, लोक-नृत्य, लोक-गीत आदि।

सूरदास ने इन विविध रूपों पर पद-रचना की, जिनका कीर्त्तन के रूप में गाए जाने के लिए उपयोग किया गया। ऐसे पदों में उन्होंने लोक-जीवन में संचरित समस्त प्रथाओं, रीति-रिवाजों, आनन्दोल्लास आदि का ऐसा उत्कृष्ट समन्वय किया कि जिससे उनके काव्य में लोक-संस्कृति को अपने यथार्थ, सजीव, सरस तथा मनोरम स्वरूप में अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया।

सूरदास जी ब्रज-प्रदेश में सुदीर्घ काल तक रहे। अतः ब्रज-लोक-जीवन में कृष्ण की आह्लादकारिणी लीला का विस्तार करने के लिए यह आवश्यक था कि वे जन-भाषा को ही अपना काव्य-माध्यम बनाते। इस आवश्यकता का महत्व समझते हुए उन्होंने ब्रज की जनता की भाषा—ब्रजभाषा—में काव्य-सृजन किया, जिसके परिणामस्वरूप उनके पद अपने सृजन-काल के पश्चात् ही लोक-जीवन में भजनों के रूप में गाए जाने लगे।

इतना ही नहीं, जिस प्रकार विगत छः सौ वर्षों से कबीर और तुलसीदास का काव्य लोक-कंठों में निवसित है, उसी प्रकार सूरदास के भी अनेक पद न केवल ब्रज-प्रदेश में, अपितु समग्र उत्तरी-भारत में प्रचलित हैं और भजन-कीर्तन तथा पर्व-उत्सवों के समय लोक-जीवन में वे इतनी तन्मयता के साथ गाए जाते हैं कि उल्लास साकार होकर नर्तन करने लगता है। इसी प्रकार वल्लभ-संप्रदाय के मन्दिरों में विभिन्न पर्वोत्सवों एवं त्यौहारों के अवसर पर सूरदास के पद अब भी गाए जाते हैं। ऐसे पद विभिन्न कीर्त्तन-संग्रहों में समाविष्ट होकर न केवल ब्रज, अपितु पूरे उत्तरी भारत में (यदि समग्र देश भी कहें तो अनुचित न होगा) अद्यावधि प्रचारित-प्रसारित हो रहे हैं। सूरदास के नाम से अनेक लोकगीत भी प्रचलित हैं, किन्तु वे अपनी मौखिक परंपरा में ही जीवित हैं। ऐसे लोकगीत अभी तक किसी संकलन के रूप में प्रकाशित नहीं हो सके हैं। परन्तु इन बातों से इतना तो निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि सूरदास के काव्य का लोक-जीवन पर प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। सूर-साहित्य अपनी सरलता और सरसता के कारण जन-साधारण तथा विद्वान् पंडितों के लिए समान रूप से रसानुभूति कराने में समर्थ सिद्ध हुआ है।

यहाँ एक बात और स्मरणीय है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति का जो स्वरूप महाप्रभु वल्लभाचार्य ने स्थिर किया था, उसमें दुरूहता होने के कारण वह लोक-जीवन से अभीप्ट नैकट्य नहीं स्थापित कर पा रहा था। पुष्टिमार्गीय भक्ति के उसी स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए सूरदास ने पुष्टिमार्ग में ग्राह्य सांस्कृतिक पर्वोत्सवों के कीर्तनों का लोक-जीवन से सान्निध्य स्थापित करके उसे इतना सहज और सरस रूप प्रदान किया। अष्टयाम सेवा के अन्तर्गत मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन के लीला-कीर्तनों में लोक-जीवन में प्रचलित कृष्ण-कथा के विविध सूत्रों को उन्होंने इस कौशल से गूँथ दिया कि उक्त सेवा-विधि अत्यधिक आकर्षक बन गई।

वर्षोत्सव पद्धति के अन्तर्गत लोक-जीवन में मनाए जाने वाले संवत्सर, गनगौर, अक्षय-तृतीया, रथयात्रा, पवित्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, साँझी, नवरात्रि, अन्नकूट, गोपाष्टमी, व्रतचर्या, डोल, फूलमण्डली, हिण्डोरा, रास, प्रबोधिनी, होली, दीपावली आदि अनेक पर्व-उत्सव एवं त्यौहारों के वर्णनों में उन्होंने लोक-संस्कृति को उसके भव्य स्वरूप में अभिव्यक्त किया, जिसके कारण वे लोक-जीवन के कवि बन गए और आज तक उन विविध पर्वोत्सवों के अवसरों पर विशेषतः ब्रज-लोक-जीवन में उनके विविध पद उनकी स्मृति का पावन पाथेय लेकर संचरित होते दिखाई पड़ते हैं।

ब्रज-लोक-जीवन के विविध आमोद-प्रमोद—भौंरा-चकडोरी, गेंद, छुआ-छुऔवल, आँखमिचौनी, चौगान, मल्लयुद्ध, चौपड़, जल-विहार आदि का जितना मनोरम स्वरूप सूरदास ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है, उतना किसी और कवि के काव्य में नहीं दिखाई पड़ता। ब्रज की गोपियों द्वारा व्यवसाय के रूप में दूध-दही बेंचने तथा उनके साथ मार्ग में युवकों द्वारा की जाने वाली रससिक्त छेड़छाड़ को लोक-कथा की पृष्ठभूमि में चित्रित करके सूरदास ने उसे और सरस बना दिया है। लोकगीतों के जो रूप सूर के समय में ब्रज में प्रचलित थे, वे भाव और शैली दोनों दृष्टियों से सूर-साहित्य में संनिविष्ट होते दिखाई पड़ते हैं। ब्रज-लोक-जीवन लोकोक्तियों और मुहावरों की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रहा है। अपने काव्य में उनका भरपूर समावेश करके लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त करने में सूरदास अद्वितीय कवि के रूप में जान पड़ते हैं। लोक-संस्कृति के अत्यन्त सरस और मनोरंजक स्वरूप की अभिव्यक्ति सूरदास के उन पदों में हुई है, जिनमें वे जादू-टोना, झाड़-फूँक, जन्त्र-मन्त्र तथा अनेकानेक लोकविश्वासों का यथार्थ रूप प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। पूजा के अनेक विधि-विधान और षोडशोपचार की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति भी उनके अनेक पदों में हुई है। ब्रज- जीवन में व्यवहृत होनेवाली

वेशभूषा, भोजन-सामग्री आदि सभी का यथार्थ रूप हमें सूर-साहित्य में दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं, लोक-संस्कृति के अन्य अनेकानेक तत्वों का भी समाहार सूर-साहित्य में हुआ है। सूर-साहित्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति सूर के समकालीन कवियों के आकर्षण का कारण तो बनी ही है, आधुनिक काल के द्विवेदी युग तक के साहित्य में भी उसका न्यूनाधिक प्रभाव देखने को मिल जाता है।

पिछले पृष्ठों में हुए विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर का काव्य क्षेत्र चाहे वात्सल्य या शृंगार तक ही सीमित रहा हो, परन्तु इस सीमित क्षेत्र में रहकर भी उन्होंने अपने काव्य में लोक-जीवन तथा लोक-संस्कृति के सरल और आनन्दोल्लासपूर्ण तत्वों को सम्यक् रूप में अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार सूरदास तद्युगीन लोक-जीवन और लोक संस्कृति के प्रतिनिधि कवि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। ऐसी दशा में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिया गया यह अभिमत कि सूर अपनी साधना में मस्त रहने वाले जीव थे या समाज किस ओर जा रहा है, इसकी ओर ध्यान देने का उन्हें अवकाश ही नहीं था या यह भी कि समाज से इनका निकट का सम्बन्ध नहीं था, मेरे विचार से पुनर्परीक्षण की अपेक्षा रखता है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि जब सूर-साहित्य की अतल गहराई में प्रविष्ट होकर उसका मन्थन किया जायगा तो उसमें से लोक-संस्कृति के अनेक बहुमूल्य रत्न उपलब्ध हो सकेंगे, जिनके समुज्ज्वल प्रकाश से सूरदास का लोक-जीवन से निकटतम सम्बन्ध स्पष्ट हो सकेगा। वास्तव में "सूर का काव्य आत्मा का काव्य है। वह अन्तर के तार को झंकृत करने वाला है, जिसके झंकृत होते ही बुद्धि निर्मल, मन विकसित, प्राण पुलकित और शरीर उल्लसित हो उठता है।"

परिशिष्ट (क)

महाकवि सूरदास जी से सम्बन्धित ब्रज के कतिपय विशिष्ट स्थान

सीहीं

महाकवि सूरदास जी के जन्म-स्थान सम्बन्धी विवाद के साथ इस ग्राम का विशेष सम्बन्ध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूरदास जी का जन्मस्थान रुनुकता को माना था। इस मान्यता का आधार थी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'। परन्तु नवीनतम शोधों के अनुसार अब विद्वान् प्रायः इस मत पर स्थिर होते जान पड़ते हैं कि सूरदास जी का जन्मस्थान रुनुकता नहीं, सीहीं है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की सूचना के अनुसार 'दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभ गढ़ के निकट इस नाम (सीहीं) का एक ग्राम है, जहाँ पर सूरदास के जन्म लेने की अनुश्रुति भी प्रचलित है। वल्लभगढ़ वर्तमान दिल्ली से प्रायः २० मील मथुरा की ओर है और सीहीं वल्लभगढ़ से प्रायः दो मील पर है। परन्तु वार्त्ता साहित्य के अनुसार "सूरदास जी दिल्ली पास चार कोस उरे में सीहीं ग्राम है, जहाँ राजा परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सर्प-यज्ञ कियो है, सो ता ग्राम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे।"[१]

अधुनातम खोजों के आधार पर श्री प्रभुदयाल मीतल का कथन है कि "वर्तमान सीहीं' एक प्राचीन ग्राम है और वहाँ पर जन्मेजय द्वारा सर्प-यज्ञ किये जाने की कथा भी प्रचलित है। वहाँ के निवासी एक विशिष्ट स्थान को सर्प यज्ञ का स्थल बतलाते हैं। इस सीहीं के अतिरिक्त दिल्ली

---

१. गो० हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता; (संपादक श्री प्रभुदयाल मीतल) पृष्ठ १-२

के आसपास किसी अन्य 'सीहीं' का कोई पता नहीं चलता है। इसलिये वार्ता में लिखी 'सीहीं' यही ज्ञात होती है। दूरी के अंतर के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान है, या तो दिल्ली नगर की अपेक्षा उस समय के दिल्ली राज्य की सीमा से 'सीहीं' की दूरी बतलाई गई है अथवा वार्त्ता के लिपिकारों की भूल एवं असावधानी से ऐसा उल्लेख हो गया है।"[1]

गोस्वामी हरिराय जी कृत सूरदास की वार्त्ता (श्री प्रभुदयाल मीतल द्वारा संपादित) में अनेक स्थानों पर सूरदास जी के जन्मस्थान सीहीं का उल्लेख है। इस वार्ता के प्रारम्भिक कथन में ही गो० हरिराय जी ने कहा है "अब श्री आचार्य जी महाप्रभुन के सेवक सूरदास जी सारस्वत ब्राह्मण, दिल्ली के पास सीहीं गाँम है तहाँ रहते जिनकी वार्त्ता को भाव कहत हैं—[2]

× × ×

सो सूरदास जी दिल्ली पास चार कोस उरे में सीहीं गाँम है, जहाँ राजा परीक्षत के बेटा जन्मेजय ने सर्प-यज्ञ कियो है, सो ता गाँम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे ?[3]

× × ×

और सूरदास जी तो हाथ में एक लाठी ले के घर सों निकसे। सो सीहीं ते चले, सो चार कोस ऊपर एक गाँम हतो, तहाँ एक तलाब गाँम बाहर हतौ, सो वहाँ एक पीपर के वृक्ष के नीचे सूरदास जी आय बैठे, और वा तालाब को जल पियो।"[4]

इसी तालाब पर सूरदास जी को उस गाँव का ब्राह्मण जमींदार मिला था, जिसकी दस गायें तीन दिन से गायब थीं। सूरदास जी ने उन गायों का ठीक-ठीक पता बता दिया था, जिससे प्रसन्न होकर और सूरदास जी

---

१. गो० हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता—पृष्ठ २
२. वही—पृष्ठ १
३. वही—पृष्ठ १-२
४. वही—पृष्ठ ५

की इच्छा जानकर उसी तालाब पर उस ज़मींदार ने उनके निवास के लिये एक झोंपड़ी बनवा दी थी और सेवा के लिये एक नौकर नियुक्त कर दिया था। साथ ही वह उनके भोजन के लिये नित्य पूरी, दही और दूध भेजता था। बाद में श्रद्धालु भक्तों ने उसी स्थान पर सूरदास जी के लिये एक बड़ा घर बनवा दिया था और पुरानी झोपड़ी नष्ट करवा दी थी। इस तालाब पर सूरदास जी १८ वर्ष की आयु तक रहे थे—

"या प्रकार सूरदास तलाब पै पीपर के वृक्ष के नीचैं बरस अठारै के भये।"[१]

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार "पंजाब के गुड़गाँव जिले में सीहीं गाँव के पास 'नागश्री' नामक तालाब पर जनमेजय ने नाग-यज्ञ करके नागों का संहार किया"[२], परन्तु एक अन्य स्थान पर बाजपेयी जी ने लिखा है कि कि "सीहीं दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभगढ़ नगर के समीप दिल्ली से लगभग २१मील दक्षिण एक छोटा सा गाँव है। वल्लभ संप्रदाय के वार्त्ता साहित्य तथा जनश्रुति के अनुसार यही वह स्थान है, जहाँ महाकवि सूरदास का जन्म हुआ था।"...सूर जयन्ती दिनांक ७ मई, १९५४ का कार्य-विवरण ब्रजभारती में प्रकाशित करते हुए श्री बाजपेयी जी ने यह भी उल्लेख किया है कि "इस अवसर (वैशाख शुक्ल ५) पर बाहर से आये हुए लोगों ने 'सीहीं' गाँव का पुराना टीला देखा, जो सूरदास जी का जन्मस्थान माना जाता है। टीले के समीप ही 'नागश्री' तालाब है, जहाँ जन-श्रुति के अनुसार परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने अपना प्रसिद्ध नाग-यज्ञ किया था।"[३]

गोस्वामी गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी सीहीं को ही सूरदास जी का जन्मस्थान स्वीकार किया है।

---

१. सूरदास की वार्ता—संपा० श्री प्रभुदयाल मीतल—पृष्ठ ७

२. ब्रज का इतिहास—भाग १,—प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी पृ० ६०

३. ब्रज भारती—वर्ष १२, अंक १, पृ० ५८

श्री द्वारिकादास पारीख, श्री प्रभुदयाल मीतल, डॉ० हरवंशलाल शर्मा प्रभृति विद्वान् भी इसी सीहीं गाँव को ही सूरदास जी का जन्मस्थान मानते हैं।

जतीपुरा

यह गाँव गोवर्द्धन पर्वत के नीचे दक्षिण की ओर उतार पर पहाड़ी से लगा हुआ है। अकबर के शाही फरमानों में भी जतीपुरा गाँव का उल्लेख मिलता है। इस गाँव के निकट की पहाड़ी भूमि सबसे अधिक ऊँची हो गई है। इस स्थान पर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के वंशज गुसाइयों की सात गद्दियों के सात मन्दिर हैं। यहीं पर श्रीनाथ जी की मूर्ति (स्वरूप) का प्रकटीकरण हुआ था, जिसका स्मारक यहाँ अद्यावधि विद्यमान है। श्री आचार्य जी की यहाँ एक प्रसिद्ध बैठक है। इस स्थान पर अनेक गुफायें हैं। यहीं पर गोवर्द्धन नाथ जी का मन्दिर है, जिसका निर्माण सं० १५७६ वि० में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी द्वारा संपूर्ण कराया गया था। अष्टछाप के प्रमुख कवि श्री गोविन्द स्वामी का निवासस्थान जतीपुरा ग्राम में ही था। इसी गाँव में इनकी मृत्यु भी हुई थी। श्री गोविन्दस्वामी जी की समाधि यहाँ अभी भी विद्यमान है। अष्टछाप के आठों कवियों में बहुत समय तक घनिष्ठ संबंध, चाहे वह सांप्रदायिक अनुशासन का प्रतिफल ही क्यों न रहा हो, था। अतएव गोविन्दस्वामी के निवास स्थान (जतीपुरा) पर सूरदास जी का भी आवागमन होता रहता था, ऐसा अनुमान होता है। ब्रज में जतीपुरा के भागवत पारायण और कुनबाड़े के उत्सव अब भी विशेष धूमधाम से मनाये जाते हैं।

रुनुकता (गऊघाट)

भक्तप्रवर सूरदास जी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सूरदास जी के वंश का परिचय करानेवाला एक पद 'साहित्य लहरी' में उपलब्ध है, जिसके अनुसार सूरदास जी के पिता

का निवासस्थान 'गोपाचल'[1] ठहरता है। इस 'गोपाचल' अथवा 'गोपाद्रि' का सम्बन्ध विद्वानों ने ग्वालियर से मानते हुए सूरदास जी का जन्मस्थान ग्वालियर तक कल्पित कर लिया है। परन्तु प्रामाणिक तर्कों तथा पर्याप्त तथ्यों के अभाव में इस मान्यता का समर्थन करना कठिन है। फिर 'साहित्य लहरी' में प्राप्त वंश-परिचय वाले पद को प्रक्षिप्त मानने के पर्याप्त कारण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'साहित्य लहरी' में सूरदास जी के वंश-परंपरा वाले पद को बाद में किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया अनुमानित किया है।[2] मिश्रबन्धुओं ने भी साहित्य लहरी के उक्त पद को प्रक्षिप्त ही माना है।[3]

कतिपय मूर्द्धन्य विद्वानों ने रुनुकता को सूरदास जी का जन्मस्थान माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है। सूरदास जी रुनुकता में गऊघाट पर रहते थे, इसी तथ्य के आधार पर विद्वानों ने रुनुकता को सूरदास जी का जन्मस्थान कल्पित किया है, परन्तु इस मान्यता की पुष्टि करने वाले सम्यक् प्रमाणों के अभाव में हम इसे भ्रान्त धारणा ही मानने को विवश हैं। मूल चौरासी वार्ता में भी गऊघाट (रुनुकता) को सूरदास जी का जन्मस्थान नहीं माना गया है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने चौरासी वार्ता में उल्लिखित गऊघाट को ही गोपाचल मान लिया है, परन्तु उनका यह अनुमान भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध में वार्ता साहित्य के मर्मज्ञ पारखी श्री प्रभुदयाल मीतल का कथन है कि "हिन्दी के कुछ माननीय इतिहासकारों ने भ्रमवश रुनुकता को सूरदास जी का जन्म-स्थान लिख दिया था। रुनुकता वार्ता में उल्लिखित गऊघाट के निकट

१. आगरे रहि गोपाचल में रह्यौ ता सुत बीर।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—(सं० २००३)—पृ० १६१

३ हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु—पृष्ठ २३६

स्थित है, इसीलिए शायद उक्त विद्वानों को भ्रम हो गया था, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाओं के नवीन संस्करणों में उसे दूर कर दिया है। हमारे विचार से गोपाचल, रुनुकता और गऊघाट को सूरदास के जन्म-स्थान मानने का तो कोई प्रमाण मिलता ही नहीं है। मथुरा प्रान्त अथवा ब्रज मण्डल के किसी स्थान को भी किसी प्रामाणिक सूत्र के अभाव में उनका जन्म-स्थान नहीं माना जा सकता।"[1]

रुनुकता आगरा-मथुरा सड़क पर एक छोटा सा गाँव है, जहाँ से दो मील की दूरी पर यमुना नदी के किनारे रेणुका जी का स्थान है। वहीं पर परशुराम जी का मन्दिर भी है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर गऊघाट है, जहाँ पर स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य जी आकर रुके थे। इस सम्बन्ध में वार्ता साहित्य के मर्मज्ञ श्री प्रभुदयाल मीतल का यह कथन भी विशेष रूप से उल्लेखनीय जान पड़ता है कि "मथुरा से आगरा जानेवाले मार्ग में रुनुकता नामक एक ग्राम है। कहते हैं यहीं महाभारतकालीन रेणुका स्थल है। इससे कुछ दूर यमुना के किनारे 'गऊघाट' नामक स्थान था। श्री वल्लभाचार्य जी का शिष्यत्व स्वीकार करने से पूर्व सूरदास उक्त स्थान पर प्रायः १२ वर्ष तक रहे थे। कुछ विद्वानों ने 'गऊघाट' अथवा 'रुनुकता' को सूरदास का जन्मस्थान बतलाया है, किन्तु यह मत निराधार है।"[2]

रुनुकता में गऊघाट पर एक छोटी कुटी बनी हुई है, जो 'सूर कुटी' नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी सामान्य धारणा है कि महाकवि सूरदास जी ने इसी कुटी में बैठकर अपनी भक्ति और काव्य साधना को शतधा प्रवाहित किया था। इस कुटी की लम्बाई १० फुट, चौड़ाई ८ फुट तथा ऊंचाई प्रायः १० फुट बतलाई जाती है। इस कुटी में मुग़ल शासन काल में प्रयुक्त होनेवाली ककइया ईंटों का प्रयोग किया गया है। जहाँ पर यह कुटी बनी हुई है, उस

१. सूर निर्णय—श्री परीख और श्री मीतल—पृ० ५०

२. सूरदास की वार्ता—संपा० श्री प्रभुदयाल मीतल—पृ० ८

समग्र स्थान को "सूरवन" कहा जाता है। यह वन लगभग २००० एकड़ तक लम्बा-चौड़ा है और इसे उत्तरप्रदेश सरकार ने "सूरदास संरक्षित वन" घोषित किया है। रुनुकता से सूरकुटी तक पहुँचने के लिए यमुना के कछारों में से होकर जानेवाली एक पगडण्डी का आश्रय लेना पड़ता है। श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में "रुनुकता की ऐतिहासिक भूमि में यमुना के कछार और सघन वन में महात्मा सूर ने अपनी वर्षों की निरन्तर साधना से वाणी को ओज और काव्य को चमत्कार प्रदान किया। अन्धे कवि की प्रतिभा का विकास इसी क्षेत्र में हुआ, जो आगे चलकर मन्दाकिनी के रूप में समस्त भारत में फैल गई, जिसके आगे अकबर महान् जैसे सम्राट् और तानसेन जैसे लोकविख्यात संगीतज्ञ भी नतमस्तक हो गये थे।"[1]

गोवर्द्धन

भक्तप्रवर सूरदास जी के आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा पाकर पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का मन्दिर बनवाया था। यह मन्दिर सं० १५७६ में पूरा बनकर तैयार हुआ था। गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का मन्दिर बन जाने के पश्चात् एक बार महाप्रभु बल्लभाचार्य गऊघाट पर आये। उसी समय सूरदास जी महाप्रभु के संपर्क में आये और उनसे दीक्षा प्राप्त की। महाप्रभु ने सूरदास जी की पदरचना सम्बन्धी प्रगल्भता देखकर उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर का प्रधान कीर्तनकार नियुक्त किया (सं० १५८० के आसपास)। प्रधान कीर्तनकार के पद पर नियुक्त होने के बाद से सूरदास जी गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में ही रहने लगे थे। सूर सारावली में इस तथ्य का समर्थन करने वाले कतिपय पद विद्यमान हैं।

---

१. ब्रजभारती—वर्ष १२, अंक २-३

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार "मथुरा तहसील में प्रसिद्ध गोवर्द्धन पर्वत है, जिसे 'गिरिराज' कहते हैं। यह मथुरा नगर से लगभग १३ मील पश्चिम है और दक्षिण पूर्व की दिशा में फैला है। इसकी लम्बाई करीब ५ मील है और ऊँचाई १०० फुट तक जाती है। इस पर्वत के अगल-बगल गोवर्द्धन, जतीपुरा, आन्योर, पूंछरी आदि स्थान बसे हैं। गोवर्द्धन पहाड़ पर छोंकर, धों, बन्ना आदि पेड़ बहुलता से मिलते हैं। यह पहाड़ बहुत पवित्र माना जाता है और इसकी परिक्रमा लोग बड़ी संख्या में लगाते हैं। मथुरा तहसील में एक दूसरी छोटी पहाड़ी गोपालपुर में भी है।"[1] बताया जाता है कि "जती पुरा के समीप गोवर्द्धन पर्वत की चोटी बहुत अधिक ऊँची है। गोवर्द्धन में बहुत सी ऐसी कन्दरायें हैं, जिनके भीतरी छोर का आज तक किसी को पता नहीं चल सका है। पर्वत के भीतर ही भीतर मीलों सुरंगें चली गई हैं। ऐसी जनश्रुति है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इन्हीं कन्दराओं में से एक में प्रवेश करके दिवंगत हुए थे।"[2]

गोवर्द्धन गाँव के निकट एक बहुत बड़ा तालाब है, जिसे 'मानसी गंगा' कहते हैं। वल्लभाचार्य जी के समय में अकबर के मन्त्री राजा मानसिंह ने इस प्राचीन तालाब का निर्माण कराया था। "ब्रज के सन्त-महात्माओं ने मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, गोकुल आदि को अपना केन्द्र बनाया, जहाँ धर्म, दर्शन, काव्य और संगीत का विकास बहुत समय तक होता रहा। इन्हीं लोगों की लगन का फल था कि हिन्दू जनता का नैराश्यमय जीवन आशा-संवलित कल्याणकारी दिशा की ओर प्रवृत्त हुआ।"[3]

---

१. ब्रज का इतिहास—भाग १—प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी—पृष्ठ ६

२. ब्रज-भारती, वर्ष ४, अंक ३, पृष्ठ १६-१७ (अष्टछाप से सम्बन्धित ब्रज के कुछ स्थान शीर्षक लेख)

३. ब्रज का इतिहास—भाग १—प्रो० कृष्णदत बाजपेयी—पृष्ठ १४३

महाकवि सूरदास जी ने अपने अनेक पदों में गोवर्द्धन की महत्ता का वर्णन किया है; जिनमें उसकी तीर्थता, प्राकृतिक सुषमा, परिक्रमा का माहात्म्य आदि अनेक पक्षों का सम्यक् निदर्शन कराया गया है।

गोकुल

गोकुल ब्रज का परम रम्य और महिमामय स्थान है। श्रीकृष्ण, गोप-गोपियाँ, नन्द, यशोदा तथा इन सबके द्वारा घिरे हुए वातावरण में श्रीकृष्ण की अनेक मनोहारी लीलाओं ने गोकुल की पवित्र भूमि को कृतार्थता प्रदान की है। महाकवि सूरदास जी ने भी गोकुल के महत्व का अनेक पदों में विस्तृत वर्णन किया है। इस गोकुल की भौगोलिक परिस्थिति, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पीठिका का परिचय डॉ० दीनदयालु गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों में मिल जाता है। वे लिखते हैं—

"वल्लभ संप्रदाय का यह मुख्य स्थान रहा है और अब भी है। वस्तुतः गोकुल स्थान को श्री वल्लभाचार्य जी तथा गो० विट्ठलनाथ जी ने ही बसाकर नगर का रूप दिया था। इसलिए गोकुल को गुसाइयों की गोकुल तथा बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों को गोकुल-गुसाईं कहा जाता है।

वर्तमान गोकुल में अनेक मन्दिर हैं, परन्तु सबसे प्राचीन वहाँ पाँच हैं। ये मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से बहुत सुन्दर नहीं हैं और न इनपर ऊँचे गुम्बद हैं। विट्ठलनाथ जी का मन्दिर, गोकुल नाथ जी का मन्दिर, मदनमोहन जी का मन्दिर, बालकृष्ण जी का मन्दिर तथा नवनीतप्रिय जी का मन्दिर —ये मन्दिर बहुत मान्य हैं। इनमें से कुछ अष्टछाप कवियों के जीवन-काल के ही बने हुए हैं। श्री गोकुल नाथ जी का मन्दिर आजकल सबसे अधिक वैभवशाली मन्दिर है। इसका निर्माण सन् १५११ में तथा बालकृष्ण जी के मन्दिर का निर्माण सन् १५२६ में हुआ था। नवनीतप्रियजी के मन्दिर की स्थापना गोकुल में सं० १६२८ वि० में हुई थी, जहाँ सूरदास जी कभी-कभी कीर्तन के लिए आते थे। गोकुल में श्री वल्लभाचार्य जी भागवत तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों पर व्याख्यान दिया करते थे। प्रयाग;

के पास अड़ैल से जब वे ब्रज में आते थे तो उनके ठहरने का यही मुख्य स्थान था। सं० १६२३ वि० में गो० विट्ठलनाथ जी अड़ैल छोड़कर सपरिवार गोकुल आ गये, परन्तु थोड़े दिन वहाँ रहकर वे मथुरा चले गये। इसके बाद सं० १६२८ वि० के लगभग वे सपरिवार गोकुल फिर आये और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। इसी स्थान पर अष्टछाप के कवि नन्ददास, चतुर्भुज दास, गोविन्दस्वामी तथा छीतस्वामी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य बने थे।

गोकुल में वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों में से श्री वल्लभाचार्य, श्री विट्ठलनाथ जी तथा श्रीगोकुलनाथ जी की बैठकें बनी हैं, जहाँ अब भी वार्ता आदि साहित्यों के ऊपर वल्लभ संप्रदायी विद्वानों के प्रवचन हुआ करते हैं। गोकुल और गोवर्द्धन पर श्री विट्ठलनाथ जी के देहावसान के बाद उनके सात पुत्रों के सात मन्दिर बने, जिनमें कृष्ण के सात स्वरूप स्थापित थे। मुसलमान बादशाहों के उत्पीड़न से इनमें से छः स्वरूप तो अन्य स्थान रजवाड़ों में ले जा कर स्थापित कर दिये गए, केवल श्री गोकुलनाथ जी का प्राचीन स्वरूप वापिस गोकुल में आया और अब तक वहीं है।"[1]

परासौली

वार्ताओं के अनुसार महाकवि सूरदास जी का देहावसान परासौली में हुआ था। जब श्री कृष्णदास जी श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए तो सूरदास जी वहाँ से हट कर परासौली चले आये थे और अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे वहीं पर रहे। परासौली मथुरा में गोवर्द्धन पर्वत की तलहटी में स्थित एक ग्राम है। वहीं पर चन्द्र सरोवर भी है। चन्द्र सरोवर और परासौली में इतना अभेद है कि अब परासौली को ही 'चन्द्र सरोवर' कहा जाता है। सूरदास की वार्ता में यह वर्णन इस प्रकार से है—

---

१. ब्रजभारती, वर्ष ४, अंक ३—पृ० १६-१७

"सो तब सूरदास जी अपने मन में यह विचार करिकै परासौली आये। सो तहाँ अखण्ड रास-लीला ब्रह्मरात्र करि भगवान ने रासपंचाध्यायी की सगरी लीला उहाँ करी है। सो जहाँ उडुराज चन्द्रमा प्रकट्यो है। सो तहाँ चन्द्र सरोवर है। ऐसे अलौकिक स्थल में आये।"[1]

गोविन्दकुण्ड ऊपर एक द्वार है, ताके सन्मुख परासौली चन्द्रसरोवर है, तहाँ सूरदास जी सेवा में मुखिया हैं।[2]

× × ×

तासों सूरदास कौ ठिकानौ परासौली है।[3]

× × ×

"तब एक वैष्णव ने विनती कीनी—जो महाराज! सूरदास जी तौ आज मंगला-आरती के दरसन करिकै परासौली में सगरे सेवकन सों भगवत-दरसन करिकै गये हैं। तब श्री गुसाईं जी आप जाने, जो भगवत इच्छा सूरदास जी को बुलायवे की भई है। तासों आज सूरदास जी परासौली कौं गये हैं। सो तब श्री गुसाईं जी आप श्रीमुख सों सगरे वैष्णवन सों यह आज्ञा किये—जो 'पुष्टिमारग कौ जहाज' जात है, सो जाकों कछू लैनौ होय, सो लेउ और उहाँ जाय कै सूरदास जी कों देखो।"[4]

× × ×

"'सो राजभोग-आरती श्री गोवर्द्धननाथ जी की करिके श्री गुसाईं जी आपु परासौली जहाँ सूरदास जी हते, तहाँ पधारे।"[5]

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी ने अपनी 'ब्रज-परिचय' नामक पुस्तक में सूरदास जी का वासस्थान परासौली ही निर्दिष्ट किया है। वे भी यह स्वीकार करते

---

१. सूरदास की वार्ता—श्री प्रभुदयाल मीतल—पृ० ५६
२. वही—पृ० ५६
३. वही—पृ० ५७
४. वही—पृ० ५८
५. वही—पृ० ५८

हैं कि श्रीनाथ जी के मन्दिर से प्रधान कीर्तनकार के पद पर से हटा दिये जाने के बाद सूरदास जी परासौली चले आये थे और अपने जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे।

परासौली के सम्बन्ध में श्री प्रभुदयाल मीतल का कथन है कि "परासौली गोवर्द्धन में एक छोटा सा ग्राम है। इसके निकट चन्द्र सरोवर नामक एक सुन्दर कुंड बना हुआ है। यहाँ पर श्री महाप्रभु जी की बैठक भी है। अधिकारी कृष्णदास से कलह होने पर गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने छै महीने तक विप्रयोग किया था। परासौली में सूरदास जी का निवास-स्थान था और अन्त में यहीं पर उनका देहावसान भी हुआ। सूरदास की स्मृति स्वरूप यहाँ पर एक कुटी बनी हुई है, जो सूर कुटी कही जाती है।"[1] इस सूर कुटी के जीर्णोद्धार के लिए उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा ४२०० रु० की आर्थिक सहायता दी जा चुकी है। सरकारी कागजों में परासौली का नाम मुहम्मदपुर पड़ा है, जिसके प्रति ब्रज-प्रदेश की ग्रामीण जनता ने समय-समय पर अपना क्षोभ प्रकट करते हुए उस नाम को हटा कर परासौली ही लिखे जाने का सरकार से अनुरोध किया है।

परासौली नामक ग्राम की स्थिति के सम्बन्ध में डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह कथन भी उल्लेख योग्य है कि "यह स्थान भी गोवर्द्धन के पास ही है और आजकल मथुरा परगने में है। कृष्ण की 'परम रासस्थली' होने से यह स्थान अपभ्रंश रूप में परसौली या पारसौली (परासौली) कहलाता है। कहते हैं कि कृष्ण ने यहीं पर गोपी-कृष्ण रास किया था और प्राचीन वृन्दावन इसी के कहीं आसपास था। इस स्थल पर श्री वल्लभाचार्य जी, श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी तथा श्री गोकुलनाथ जी की बैठकें बनी हुई हैं। ये आचार्य वहाँ रह कर साम्प्रदायिक व्याख्यान दिया करते थे। एक बार अष्टछाप के भक्त कवि तथा श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी श्री कृष्णदास जी ने श्री गो० विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित कर दिया

---

१. सूरदास की वार्ता—श्री प्रभुदयाल मीतल—पृष्ठ ५६

था। उस समय गोसाईं जी इसी पारसौली स्थान पर कुछ समय रहे थे और वहीं से दूर से श्रीनाथ जी के मन्दिर के दर्शन कर लिया करते थे। गुसाईं जी ने श्रीनाथ जी के विरह में, यहीं रह कर 'विज्ञप्ति' नामक रचना बनाई थी। अष्टछाप भक्तों के प्रमुख भक्त सूरदास का देहावसान इसी स्थान पर हुआ था। इस स्थान के निकट चन्द्र सरोवर नाम का तालाब है, जो बहुत पवित्र समझा जाता है। इसलिए पारसौली को चन्द्र सरोवर भी कहते हैं। अष्टछाप के परम भक्त कवि कुंभनदास जी की पारसौली तथा चन्द्र सरोवर के निकट भूमि थी, जहाँ वे अपनी जीविका रूप में खेती किया करते थे।"[1]

सूर-निर्णय के लेखक-द्वय यह मानते हैं कि गो० तुलसीदास जी सं० १६२६ में अपने छोटे भाई नन्ददास से मिलने के लिए ब्रज में आये थे। उस समय उन्होंने ब्रज के प्रमुख स्थानों का भ्रमण किया था और वहाँ पर कुछ समय तक निवास भी किया था। उस यात्रा में उन्होंने गोवर्द्धन के निकटवर्ती परासौली स्थान पर सूरदास से भेंट की थी।[2] वार्ता साहित्य से यह जानकारी भी मिलती है कि परासौली के निवास-काल में आवश्यक कार्यवश सूरदास जी कभी-कभी गोकुल, मथुरा आदि स्थानों में भी जाया करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, डॉ० दीनदयालु गुप्त, श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री कृष्णदत्त बाजपेयी प्रभृति विद्वान् अन्तिम समय में सूरदास जी का निवासस्थान परासौली ही मानते हैं। परासौली में ही सूरदास जी का तिरोधान हुआ, इस मान्यता का समर्थन भी सभी विद्वान् एक स्वर से करते हैं।

इन विवरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ब्रज मण्डल के अनेक ग्रामों से सूरदास जी का निकट सम्बन्ध था और उन्हें ग्रामीण

---

१. ब्रजभारती—वर्ष ४, अंक ११, पृष्ठ १४

२. सूर निर्णय—श्री परीख और मीतल—पृष्ठ ३१६

जीवन की सरलता, सरसता तथा लोक-संस्कृति के विविध पक्षों का बारीकी के साथ अनुभव करने का अवसर मिला था। यही कारण है कि सूरदास के काव्य में लोक-जीवन और लोक-संस्कृति अपनी समग्र छटा लेकर अवतरित हुई है।

परिशिष्ट (ख)

ब्रज की परिचयात्मक टिप्पणी

'ब्रज' शब्द की व्याख्या

हिन्दी के 'ब्रज' शब्द का तत्सम रूप 'व्रज' है, जो 'व्रज' जाना धातु से बना है। प्रथम बार ऋग्वेद संहिता में 'व्रज' शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु उसमें यह शब्द ढोर के चरागाह या बाड़े अथवा पशु-समूह के अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। संस्कृति की एक उक्ति में 'व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति व्रज:' भी कहा गया है, जिसके अनुसार व्रज वह स्थान है, जहाँ नित्य गायें चलती या चरती हैं। पुराण साहित्य में प्रयुक्त 'व्रज' शब्द मथुरा के समीपवर्ती नन्द का व्रज अर्थात् गोष्ठ विशेष का अर्थ देता है। डॉ० प्रेमनारायण टंडन के मतानुसार "कालान्तर' में मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश व्रज या व्रजमण्डल के नाम से प्रसिद्ध हो गया, जिसके अन्तर्गत बारह वन और चौबीस उपवन कहे गए हैं तथा जिसकी परिधि चौरासी कोस की मानी गई है।"

ब्रज के बारह वन

मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, कामवन, खदिरवन, वृन्दावन, भद्रवन, भांडीरवन, बेलवन, लोहवन तथा महावन—ये ब्रज के बारह वन है।

ब्रज के चौबीस उपवन

गोकुल, गोवर्द्धन, बरसाना, नंदगाँव, संकेत, परममंद्र, अरींग, शेषशायी, माट, ऊँचागाँव, खेलवन, श्रीकुंड, गंधर्वधन, परसौली, बिलछू, बछवन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पिसायोबन, कोकिलावन, दधिवन, कोटवन और रावलवन—ये ब्रज के चौबीस उपवन हैं।

ब्रजमण्डल का क्षेत्र-विस्तार

(क) इत बरहद उत सोननद, उत सूरसेन को गाँव।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मण्डल माँह।

(ख) पूर्वं हास्यवनं नीय पश्चिमस्योपहारिकं।
दक्षिणे जह्नुसंज्ञाकं, भुवनाख्यं तथोत्तरे।

डॉ० प्रेमनारायण टण्डन के अनुसार "मथुरा नगर एक प्रकार से ब्रज-मण्डल का केन्द्रस्थान है। इसके आसपास का भू-भाग प्राचीन काल से श्रीकृष्ण के पितामह 'शूरसेन' के नाम पर 'शौरसेन प्रदेश' कहलाता रहा है। इतिहासकारों के अनुसार मथुरा नगरी इस प्रदेश की राजधानी थी।"

ब्रजमण्डल की सीमाएँ

ब्रजमण्डल के क्षेत्र तथा सीमाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद और विवाद होता आया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने ब्रजमण्डल के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है :—"हम ब्रज के वर्तमान प्रसिद्ध और ज्ञात वनों के तथा ब्रज-यात्रा के स्थानों के आधार से ब्रजमण्डल की रूपरेखा का अनुमान कर सकते हैं। प्रसिद्ध है कि ब्रज का केन्द्र मथुरा है। इसके चारों ओर आसपास के चौरासी कोस के स्थान में ८४ बनों में १२ बन तथा २४ उपबन मुख्य हैं। इस मण्डल के उत्तर के भुवन बन तथा कोटवन, जो गुड़गाँव जिले की हद पर स्थित हैं, ज्ञात हैं। पश्चिम में भरतपुर राज्य के कामवन तथा चरण पहाड़ी भी परिचित हैं। इन स्थानों तक वर्तमान ब्रज-यात्रा भी जाती है। ब्रज की पूर्व की हद अलीगढ़ जिले में बरहद और हास्यवन (वर्तमान हसाइन) मानी जा सकती है। दक्षिण की हद के विषय में लेखक का अनुमान है कि यह आगरे के निकट तक है।"...
"यदि मथुरा को केन्द्र मानकर, उक्त स्थानों को स्पर्श करता हुआ एक गोला खींचें तो ८४ कोस (१६८ मील) की परिधि का मण्डल बनता है और उसके अन्तर्गत ब्रज के सभी प्रसिद्ध स्थान आ जाते हैं।"

डॉ० गुप्त के इस क्षेत्र निर्धारण के सम्बन्ध में डॉ० प्रेमनाराण टण्डन का मत है कि उक्त मण्डल के अन्तर्गत लाए गए स्थानों को "श्रीकृष्ण की सगुण लीलाओं को ध्यान में रखकर और प्रसिद्ध तीर्थ या धाम के रूप में प्रख्यात मानकर, यात्रा की सुविधा के उद्देश्य से, एक मण्डलाकार परिधि द्वारा सम्बन्धित कर दिया गया है।"

डॉ० सत्येन्द्र ने 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन' ग्रन्थ में डॉ० गुप्त की इस स्थापना का खण्डन करते हुए कहा है कि "डॉ० गुप्त ने 'ब्रज मण्डल' में 'मंडल' शब्द पर विशेष निर्भर करके 'मण्डल' का अर्थ 'गोलाकार' किया है, साथ ही मथुरा को केन्द्र मानकर चौरासी कोस के व्यास के (?) एक परिधि खींच दी है। उसे ही उन्होंने 'ब्रजमण्डल' मान लिया है। किंतु 'मण्डल' शब्द से 'वृत्त' का ही बोध नहीं होता, यह शब्द प्रदेश अथवा क्षेत्रवाचक भी है।"

साहित्यकारों का प्रेरणा-स्रोत मथुरा

ब्रजभाषा के चोटी के साहित्यकारों को मथुरा से तथा समग्र रूप से ब्रज से अत्यधिक प्रेरणा मिली है। इस सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र का मत है कि "ब्रज के प्रायः जितने भी प्रामाणिक साहित्यकार हुए हैं, उन्होंने ब्रज-संस्कृति और भाषा दोनों के लिए मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश से ही प्रेरणा प्राप्त की है। सांस्कृतिक दृष्टि से मथुरा-प्रदेश ब्रज का केन्द्र है। लोकवार्ता साहित्य जो मथुरा में मिलेगा, वही ब्रज की लोक-वार्ता (लोक-संस्कृति) की रीढ़ माना जायगा।"

सूर-साहित्य में ब्रज-लोक-जीवन

सूर-साहित्य में ब्रज-लोक-जीवन का सजीव चित्र मिलता है। समाज तथा उसकी संस्कृति का भी वहाँ प्रभूत मात्रा में उद्घाटन हुआ है। इन सब बातों के लिए सूर को ब्रज के सामाजिक वातावरण से ही प्रेरणा मिली थी। इस सम्बन्ध में डॉ० हरवंशलाल शर्मा का मत है कि "सूरदास जी

श्रीनाथ जी के मंदिर में ठाकुर जी के नित्य और नैमितिक उत्सवों, भोगों तथा श्रृंगारों का कीर्तन स्वनिर्मित पदों द्वारा किया करते थे। इस गायन-पद्धति में अनेक राग-रागिनियों तथा ताल-स्वर का समावेश था। भगवान् कृष्ण के सभी उत्सव, भोग तथा श्रृंगार ब्रज-भूमि में हुए। इसलिए इन सब के लिए ब्रज के ही पदार्थों, ब्रज की ही कथाओं और ब्रज के ही साधनों का उपयोग हो सकता था। यही कारण है कि सूर-साहित्य में ब्रज-भूमि के अनेक संस्कारों, प्रथाओं, व्यंजनों, वेशभूषा, विश्वास, पर्व-उत्सव आदिकों का समावेश अपने आप हो गया। पुष्टि-संप्रदाय के कवियों के काव्य में ब्रज की सांस्कृतिक परंपराएँ स्पष्ट रूप से झलकती हैं। सूर-साहित्य में ब्रज की सांस्कृतिक परंपराओं की श्रृंखला जोड़ते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सूर एक उच्च कोटि के कवि और सिद्ध गायक थे। अनेक कवि-प्रसिद्धियाँ, संगीत परंपराएँ और परंपरागत प्रतीक एवं उपमान उनके सामने रहे होंगे। उन सभी का समुचित उपयोग उन्होंने अपने साहित्य में किया है। इन सभी साधनों को उन्होंने ब्रज-संस्कृति का ही जामा पहनाया है, इसमें कोई संदेह नहीं। × × × सूर-साहित्य के पीछे ब्रज की सांस्कृतिक परंपराओं की एक सुदृढ़ और व्यवस्थित श्रृंखला है। उनमें ब्रज-साहित्य ब्रज-लोक-जीवन और ब्रज-लोक-परंपराओं से गुँथा हुआ है। लोक-साहित्य का जैसा निखरा हुआ रूप हमें ब्रज-प्रान्त में मिलता है, वैसा अन्य किसी क्षेत्र में दुर्लभ है। हो सकता है कि संस्कृति की प्राचीन परंपराएँ मौखिक रूप में अथवा लोक-साहित्य के रूप में चली आ रहीं हों, पर सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से उन सभी का महत्व है।"

ब्रज-लोक-जीवन का उल्लास

ब्रजमण्डल के मर्मज्ञ विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल की जानकारी के अनुसार "भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा ब्रज में उत्सव और त्यौहारों की सदा से विशेषता रही है। इस संघर्षपूर्ण युग में जब कि प्रत्येक जन

का जीवन नाना प्रकार की उलझनों में उलझ कर अशान्त बना हुआ है, तब भी ब्रज का लोक-जीवन अपने उत्सव और त्यौहारों के कारण कुछ आनन्द का अनुभव कर लेता है। ब्रज में वर्ष का कोई महीना ही नहीं, बल्कि महीनों का भी शायद ही कोई दिन हो, जब वहाँ पर कोई उत्सव, त्यौहार अथवा मेला न होता हो। इसीलिए ब्रज में 'सात बार नौ त्योहार' की लोकोक्ति प्रचलित है।"

परिशिष्ट (ग)

सहायक-ग्रन्थों की सूची

१. अशोक के फूल	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डॉ० दीनदयालु गुप्त
३. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन	डॉ० मायारानी टंडन
४. आधुनिक साहित्य	आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी
५. आर्य-संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष	श्री महादेव शास्त्री दिवेकर
६. उत्तरप्रदेश के लोकगीत	सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश
७. कविता-कौमुदी (प्रथम भाग)	श्री रामनरेश त्रिपाठी
८. कुरुक्षेत्र	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
९. कृष्णायन	श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र
१०. घनआनन्द (ग्रन्थावली)	श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
११. जायसी ग्रन्थावली	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१२. तुलसीदास	श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
१३. द्वापर	श्री मैथिलीशरण गुप्त
१४. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
१५. प्रियप्रवास	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१६. बिहारी	श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१७. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक	श्री परशुराम चतुर्वेदी
१८. ब्रज का इतिहास (भाग १-२)	श्री कृष्णदत्त बाजपेयी
१९. ब्रज-बिलास	श्री ब्रजवासी दास
२०. ब्रज भारती पत्रिका	ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा

२१. ब्रजभाषा	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
२२. ब्रज-माधुरी-सार	श्री वियोगी हरि
२३. ब्रज-लोक-संस्कृति	डॉ० सत्येन्द्र
२४. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन	डॉ० सत्येन्द्र
२५. भारत की प्राचीन संस्कृति	डॉ० रामजी उपाध्याय
२६. भारत भारती	श्री मैथिलीशरण गुप्त
२७. भारतीय लोक-साहित्य	डॉ० श्याम परमार
२८. भारतीय संस्कृति	डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
२९. भारतीय संस्कृति	श्री शिवदत्त ज्ञानी
३०. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार
३१. भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा	डॉ० मंगलदेव शास्त्री
३२. भारतीय साधना और सूर साहित्य	डॉ० मुंशीराम शर्मा
३३. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा भाग)	श्री ब्रजरत्नदास
३४. मथुरा-परिचय	श्री कृष्णदत्त बाजपेयी
३५. मध्यकालीन धर्म साधना	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३६. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन	डॉ० सत्येन्द्र
३७. महाकवि सूरदास	आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी
३८. मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ	मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, दिल्ली
३९. रामचन्द्रिका (केशवदास)	लाला भगवानदीन
४०. रामचरित मानस (गुटका) (तुलसीदास)	गीता-प्रेस, गोरखपुर

४१.	विन्ध्य साहित्य संकलन (प्राचीन)	सूचना विभाग, विन्ध्यप्रदेश
४२.	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	डॉ० देवराज
४३.	संस्कृति के चार अध्याय	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
४४.	सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक)	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (सं० २०१०)
४५.	सूर और उनका साहित्य	डॉ० हरवंशलाल शर्मा
४६.	सूर की काव्य-कला	डॉ० मनमोहन गौतम
४७.	सूर की भाषा	डॉ० प्रेमनारायण टंडन
४८.	सूर-दर्शन	डॉ० कृष्णलाल हंस
४९.	सूरदास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
५०.	सूरदास और भगवद्भक्ति	डॉ० मुंशीराम शर्मा
५१.	सूरदास की वार्ता (हरिराय कृत)	श्री प्रभुदयाल मीतल
५२.	सूर-निर्णय	श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल
५३.	सूर-पदावली	श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
५४.	सूर-मीमांसा	डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
५५.	सूर-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५६.	सूर-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ० प्रेमनारायण टंडन
५७.	सूर-सौरभ	डॉ० मुंशीराम शर्मा
५८.	हिन्दी साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५९.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
६०.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

६१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (पीठिका भाग) — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
६२. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षोडश भाग)—लोक साहित्य खंड — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
६३. हिन्दी साहित्य की भूमिका — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६४. हिन्दी साहित्य कोश — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी
६५. हिन्दू-संस्कार — डॉ० राजबली पाण्डेय
66. Ancient Indian Culture — Prof. A. K. Chakravorty
67. Human Community — B. Brownell
68. Indian Culture — Shri Hirendranath Dutta
69. Society, Its Structure And Changes. — Prof. MacIver
70. Sociology — Ginsberg
71. The Modern State — Prof. MacIver
72- The Story of Civilization — Will Durant
73. Oxford Dictionary
